१—ब्रह्मचर्य क्या है ?

इस विषय पर लिखना सरल नहीं है। पर अपने निजी अनुभव के बहुत विस्तृत होने के कारण मैं सदा अपने पाठकों को इसका फल बताने के लिये उत्सुक रहता हूँ। कुछ पत्र मुझे मिले हैं और उन्होंने इस इच्छा को और भी बल दे दिया है।

एक सज्जन पूछते हैं:—

"ब्रह्मचर्य क्या है ? क्या पूर्ण रूप से इसका पालन होना सम्भव है ? यदि है तो क्या आप उस स्थिति पर पहुँच गये हैं ?"

ब्रह्मचर्य का ठीक और पूरा अर्थ है ब्रह्म की खोज। ब्रह्म हम सब में व्याप्त है। इसलिये ध्यान, धारणा और तज्जनित साक्षात्कार की सहायता से हमें उसे अपने अन्तरतम में खोजना चाहिये। सारी इन्द्रियों के पूर्ण संयम के बिना साक्षात्कार असम्भव है। इस लिये ब्रह्मचर्य का अभिप्राय है मन, वचन, और कर्म से हर समय, और हर स्थान में, सम्पूर्ण इन्द्रियों का संयम।

पूर्ण ब्रह्मचारी पुरुष हों या स्त्री, पूर्णतया निष्पाप होते हैं। और लिये वे परमात्मा के निकट होते हैं। वे परमात्मा के समान होते ता। ब्रह्मचर्य का ऐसा पूर्ण पालन सम्भव है। इसमें मुझे तनिक भी ने पत्र-नहीं है। मुझे यह कहते खेद होता है कि इस प्रकार की पूर्णता हम बँधे

नहीं कर पाया हूँ। किन्तु मैं उसे प्राप्त करने के लिये अनवरत उद्योग कर रहा हूँ और इस जीवन में ही इसे प्राप्त कर पाने की आशा अभी मैंने नहीं छोड़ी है।

जागने की दशा में मैं अपनी चौकसी पर रहता हूँ। मैंने शरीर पर शासन प्राप्त कर लिया है। वाणी में भी मेरा काफ़ी संयम है। किन्तु विचारों के सम्बन्ध में अभी मुझे बहुत कुछ करना बाक़ी है। जब मैं अपने विचारों को एक ख़ास विषय पर जमाना चाहता हूँ तब दूसरे विचार भी मुझे छेड़ते रहते हैं। और उनमें आपस में टक्कर होती है। फिर भी मैं जागने के घंटों में उनकी टक्कर को रोक लेता हूँ। यह कहा जा सकता है कि मैं उस दशा को पहुँच गया हूँ जहाँ मैं अपवित्र विचारों से मुक्त हूँ। किन्तु मैं सोते समय अपने विचारों पर उतना ही संयम नहीं रख पाता हूँ। सोते में हर प्रकार के विचार मेरे मन में घुस आते हैं। और मैं ऐसे भी सपने देखता हूँ जिनकी आशा नहीं होती। कभी कभी पहले के भोगे हुए आनन्दों की इच्छा उमँग आती है। जब ये इच्छाएं अपवित्र रहती हैं तब सपने भी बुरे होते हैं। यह पापमय जीवन की निशानी है।

मेरे पाप के विचार घायल हो गये हैं। लेकिन मरे नहीं हैं। यदि मैंने अपने विचारों पर पूरा क़ाबू पा लिया होता तो पिछले दस साल में जो मुझे प्ल्यूरिसी, डिसेन्ट्री, और अपेण्डीसाइटीज़ की बीमारियाँ हुई हैं वे न हुई होतीं। मेरी धारणा है कि जब आत्मा निष्पाप होती है तब वह शरीर भी, जिसमें यह निवास करती है, स्वस्थ रहता है। यह है कि जैसे ही आत्मा पाप से मुक्त होने की ओर अग्रसर होती है वैसे ही शरीर भी रोगों से छुटकारा पाता जाता है। किन्तु

यहाँ स्वस्थ शरीर का अर्थ बलवान् शरीर नहीं है। शक्तिशाली आत्मा केवल दुर्बल शरीर में ही रहती है। जैसे ही जैसे आत्मा की शक्ति बढ़ती जाती है, शरीर दुर्बल होता जाता है। शरीर पूर्णतया स्वस्थ होते हुए भी बिल्कुल दुबला हो सकता है। बलवान् शरीर प्रायः रोगग्रस्त रहता है। अगर रोगग्रस्त न भी हो तब भी ऐसे शरीर को बीमारी दौड़ कर लगती है। दूसरी ओर पूर्ण स्वस्थ शरीर इस छूत से पूर्णतया सुरक्षित रहता है। शुद्ध रक्त में बीमारी के कीड़ों को निकाल बाहर करने की शक्ति होती है।

इस आश्चर्यजनक स्थिति को पहुँच जाना अवश्य कठिन है। नहीं तो मैं अब तक इसे पा गया होता। क्योंकि मुझे विश्वास है कि इस लक्ष्य तक पहुँचानेवाले एक भी साधन को अपनाने में मैं उदासीन नहीं रहता हूँ। ऐसी कोई भी बाहरी बात नहीं है जो मुझे मेरे लक्ष्य से दूर रख सके। किंतु हम में यह शक्ति नहीं दी गई है कि हम पहले के कर्मों के निशानों को आसानी से मिटा दे सकें। मैं पाप से पूर्ण मुक्ति की स्थिति को सोच सकता हूँ। मैं इसकी धुँधली झलक भी देख सकता हूँ। इसी लिये इस देरी के होते हुए भी मैं तनिक भी निराश नहीं हुआ हूँ। जो उन्नति मैंने की है वह आशा ही बँधाती है। निराशा नहीं। यदि मैं अपनी अभिलाषा का साक्षात्कार किये बिना मर भी जाऊँ, तब भी मैं अपनी हार न मानूंगा। क्योंकि मैं अपने पुनर्जन्म में इतना ही विश्वास करता हूँ जितना इस जन्म में। और इसी लिये मैं जानता हूँ कि थोड़े से थोड़ा प्रयत्न भी बेकार नहीं जाता।

इन आत्मचरित के ब्योरों को मैंने इस लिये दिया है जिससे पत्र-लेखकों और उनकी सी दशा में स्थित दूसरे लोगों को साहस बँधे

और आत्म-विश्वास बढ़े। हम में से प्रत्येक में आत्मा एक ही है। सारी आत्माओं में बराबर सामर्थ्य रहती है। केवल अन्तर यह है कि कुछ ने तो अपनी शक्तियों का विकास कर लिया है और कुछ उन्हें सुप्त दशा में डाले हुए हैं। दूसरी कोटि की आत्माएं भी यदि कोशिश करें तो वैसा ही अनुभव प्राप्त कर सकती हैं।

यहाँ तक मैंने विस्तृत अर्थ में ब्रह्मचर्य पर लिखा है। सार्वजनिक और चालू बोली में *ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन, वचन, और कर्म से पाशवी कामलिप्सा का संयम।* यह अर्थ भी सही है। क्योंकि पाशवी कामलिप्सा का संयम बहुत कठिन माना गया है। स्वादेन्द्रिय के संयम पर उतना ही ज़ोर नहीं दिया गया है और इसी लिये कामलिप्सा का संयम अधिक कठिन और असम्भव सा बन गया है। डाक्टर लोगों की धारणा है कि रोग के घुन से जर्जरित शरीर को कामलिप्सा ज़्यादा सताती है; और इसी लिये हमारे दुर्बलकाय मनुष्यों को ब्रह्मचर्य कठिन प्रतीत होता है।

दुर्बल किन्तु स्वस्थ शरीर के बारे में मैं ऊपर कह चुका हूँ। पर इससे हमें यह भाव न बना लेना चाहिये कि हम शारीरिक सुधार को भुला दे सकते हैं। मैंने अपनी टूटी-फूटी भाषा में ब्रह्मचर्य के सर्वोत्कृष्ट क्रम का वर्णन किया है और उसका ग़लत अर्थ लगाया जा सकता है। सारी इन्द्रियों का पूर्ण संयम प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले के अन्त में शारीरिक दुर्बलता का स्वागत करने के लिये तैयार रहना चाहिये। जब शरीर का मोह नहीं रहता, तब शारीरिक शक्ति की इच्छा भी नष्ट हो जाती है। किन्तु उस ब्रह्मचारी का शरीर, जिसने पाशवी काम-लिप्सा को जीत लिया है, बहुत ही बलवान् और कान्तिमान होना

चाहिये। यह परिमित ब्रह्मचर्य भी आश्चर्यजनक वस्तु है। जो मनुष्य स्वप्न में भी विषयी विचारों से मुक्त रहता है वह संसार द्वारा पूजनीय है। यह स्पष्ट है कि दूसरी इन्द्रियों का संयम करना उसके लिये बहुत आसान बात है।

दूसरे मित्र लिखते हैं:—

"मेरी दशा दयनीय है। दिन और रात, चाहे मैं आफ़िस में हूँ, सड़क पर हूँ, पढ़ रहा हूँ, काम कर रहा हूँ, या प्रार्थना भी कर रहा हूँ, वही पापपूर्ण विचार मुझे घेरे रहते हैं। मैं अपने विचारों का संयम किस प्रकार करूं? जैसे मैं अपनी माँ को देखता हूँ उसी दृष्टि से सारी स्त्री जाति को मैं कैसे देख सकता हूँ? मैं दुष्ट विचारों को किस प्रकार मिटा सकता हूँ? आपका ब्रह्मचर्य पर लिखा हुआ लेख मेरे सामने धरा है, लेकिन मुझे देख पड़ता है कि इससे मुझे तनिक भी लाभ नहीं हो सकता।"

यह अवश्य हृदय को दहलानेवाली दशा है। हममें से बहुतेरे इसी प्रकार की स्थिति में हैं। किन्तु जब तक मन दुष्ट विचारों का विरोध करने में जागरूक है तब तक निराश होने का कोई कारण नहीं है। यदि आँखें पाप की ओर अग्रसर हों तो उन्हें बन्द कर लेना चाहिये और यदि कान पाप में प्रवृत्त हों तो उनमें रुई की डाट लगा देनी चाहिये। आँखें नीची करके चलना अच्छी आदत है। इससे उन्हें इधर उधर घूमने का मौका नहीं मिलता। जिस जगह गन्दी बातचीत हो रही हो या गन्दे गाने गाये जा रहे हों, वहाँ से भाग जाना चाहिये।

स्वादेन्द्रिय पर संयम प्राप्त करना चाहिये। मेरा अनुभव है कि जिसने स्वादेन्द्रिय पर अधिकार नहीं पाया, वह कामलिप्सा का भी

संयम नहीं कर सकता। ज़बान पर क़ाबू पा लेना सरल काम नहीं है। किन्तु कामलिप्सा का संयम स्वादेन्द्रिय के संयम के साथ नथी है। स्वाद का संयम करने का एक साधन तो यह है कि मिर्च-मसाले का व्यवहार पूरी तरह, या जहाँ तक हो सके वहाँ तक, छोड़ दिया जाय। सदा इस भावना को जाग्रत करना, कि हम स्वाद के लिये नहीं, किन्तु शरीररक्षा के लिये भोजन करते हैं, दूसरा और विशेष प्रभावशाली साधन है। हम जीवन के लिये सांस लेते हैं, स्वाद के लिये नहीं। ठीक जिस प्रकार अपनी प्यास बुझाने के लिये हम पानी पीते हैं उसी प्रकार हमें केवल भूख को सन्तुष्ट करने के लिये ही खाना खाना चाहिये। अभाग्यवश पिता-माता बचपन से ही हमें विपरीत आदत डाल देते हैं। वे हमारे भरण-पोषण के लिये नहीं, वरन भ्रमपूर्ण स्नेह के कारण प्रत्येक प्रकार की ज़ायकेदार चीज़ें खिलाकर हमारी आदतें बिगाड़ देते हैं। हमें घरों के इस विपरीत वायुमंडल से भिड़ना पड़ेगा।

किन्तु पाशवी कामलिप्सा के संयम में हमारा सब से अधिक शक्तिशाली सहायक रामनाम, या इसी प्रकार के कोई अन्य मंत्र, से भी वही काम चल सकता है। जो मंत्र भावे वही भजा जावे। मैंने रामनाम का संकेत किया है; क्योंकि बचपन से ही मैं इससे परिचित रहा हूँ और मेरी मुठभेड़ों में यह निरन्तर सहायक रहता है। जो भी मंत्र चुना जावे, उसमें पूर्णतया तन्मय हो जाना चाहिये। यदि दूसरे विचार जप के बीच में भंग करें तो इसकी चिन्ता न करनी चाहिये। मुझे विश्वास है कि जो फिर भी श्रद्धा के साथ जप करता चला जावेगा वह अन्त में अवश्य जीतेगा। मंत्र जीवन की लकड़ी बन जाता है और जपनेवाले को प्रत्येक परीक्षा में से निकाल ले जाता है। इस प्रकार के पवित्र मंत्रों

से सांसारिक लाभ पाने की चेष्टा न करनी चाहिये। इन मंत्रों की विशेष शक्ति व्यक्तिगत पवित्रता की चौकस रखवाली है और प्रत्येक प्रयत्नशील खोजी तुरन्त ही इसे अनुभव कर लेगा। यह ध्यान रहे कि मंत्र को तोते की तरह न रटना चाहिये। अपनी आत्मा उसके अन्दर प्रवेश करा देनी चाहिए। तोता ऐसे मंत्रों को मशीन की नाईं रटता है। हमें चाहिये कि अवांछनीय विचारों को निकाल बाहर करने की आशा में, और मंत्रों की सहायक शक्ति में, पूर्ण श्रद्धा रखकर उनका जाप करें।

२—ब्रह्मचर्य्य के साधन

ब्रह्मचर्य और उसकी प्राप्ति के साधनों के विषय में मेरे पास पत्र पर पत्र आ रहे हैं। जो कुछ मैं पिछले अवसरों पर कह या लिख चुका हूँ वही दूसरी भाषा में मैं यहां दुहराना चाहता हूँ। ब्रह्मचर्य केवल मशीनवत् कुँआरापन ही नहीं है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है सारी इन्द्रियों का पूर्ण संयम और मन, वचन, और कर्म से कामलिप्सा से मुक्ति। तभी तो यह आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मप्राप्ति का राजसी मार्ग है।

आदर्श ब्रह्मचारी को भोग-विलास अथवा सन्तानोत्पत्ति की इच्छाओं से भिड़ना नहीं पड़ता। ये तो कभी उसे सताती ही नहीं। उसके लिये तो सारी वसुधा ही कुटुम्ब होती है। उसकी सारी आकांक्षाएं मनुष्य-जाति को क्लेश से छुटकारा दिलाने में ही केन्द्रीभूत रहती हैं। उसको सन्तानोत्पत्ति की इच्छा बाधा नहीं कर सकती है। जिसने मनुष्य-जाति के विशाल क्लेश का अनुभव कर लिया है उसे कामलिप्सा कभी उत्तेजित कर ही नहीं सकती। उसे स्वाभाविक रूप से ही अपनी शक्ति के निकास-कुंड का ज्ञान हो जावेगा और वह सदा उसे अदूषित रखेगा। उसकी नम्र शक्ति के सामने सारा संसार नत-मस्तक होगा और उसका प्रभाव मुकुट-धारी राजा से भी कहीं अधिक रहेगा।

किन्तु मुझ से कहा जाता है कि यह तो असम्भव आदर्श है। आप पुरुष और स्त्री के बीच के प्राकृतिक आकर्षण को तो गिनते ही नहीं हैं। मुझे यह मानने से इन्कार है कि कामुक सम्बन्ध, जिसका यहां

जिक्र किया गया है, कभी भी प्राकृतिक माना जा सकता है। यदि ऐसा हो तो शीघ्र ही प्रलय हो जाय। स्त्री और पुरुष के बीच का प्राकृतिक सम्बन्ध भाई और बहिन, माता और पुत्र, और पिता और लड़की का आकर्षण है। यही प्राकृतिक आकर्षण संसार को धारण करता है। यदि मैं सारी स्त्री जाति को बहिन, लड़की, या मां की दृष्टि से न देखूं तो मेरे लिये काम करना तो दूर रहा, जीना भी असम्भव हो जाय। यदि मैं कामुक दृष्टि से उनको निहारूं तो प्रलय का पक्का रास्ता बन जाय।

यह ठीक है कि सन्तानोत्पत्ति प्राकृतिक घटना है; किन्तु तब, जब कि वह निश्चित सीमाओं के भीतर हो। उन सीमाओं का उल्लंघन स्त्री-जाति को खतरे में डाल देता है, वंश को दुर्बल बनाता है, रोगों को उभाड़ता है, पाप को प्रोत्साहन देता है, और संसार को राक्षसी बनाता है। कामुक वासनाओं के चंगुल में पड़ा हुआ पुरुष बिना रोक-थाम का मनुष्य है। यदि ऐसा मनुष्य समाज का पथ-प्रदर्शक बने, उसे अपने लेखों से प्लावित कर दे और जनता उन्हीं के इशारे पर चले, तो समाज का क्या होगा? फिर भी आज दिन यही बात तो हो रही है। मान लिया कि एक लालटेन के आसपास चक्कर लगाने-वाला पतिंगा अपने क्षणिक आनन्द की घड़ियों को टांक लेता है और हम इसे आदर्श मानकर उसकी नकल करते हैं, तो हमारी क्या दशा होगी? नहीं, मैं अपनी सारी शक्ति के साथ इस बात की घोषणा करना चाहता हूँ कि पति और पत्नी के बीच में भी कामुक आकर्षण अप्राकृतिक है। विवाह दम्पति के हृदयों से गन्दी कामलिप्सा को शुद्ध करने और उन्हें परमात्मा के निकट पहुँचाने के लिये होता है। पति

और पत्नी के बीच कामुकता-रहित प्रेम का होना असम्भव नहीं है। मनुष्य जानवर नहीं है। पाशवी सृष्टि में अनगिनतिन जन्म लेने के बाद वह उच्च स्थिति को पहुँचा है। वह खड़े होने के लिये जन्मा है, चारों हाथ-पैरों पर चलने या रेंगने के लिये नहीं। इन्सानियत से हैवानियत इतनी ही दूर है जितना चैतन्य से जड़।

अन्त में मैं इसकी प्राप्ति के साधनों का सार देना चाहता हूँ—

इसकी आवश्यकता महसूस कर लेना प्रथम चरण है।

इन्द्रियों का क्रमशः संयम दूसरा चरण है। ब्रह्मचारी को अपनी स्वादेन्द्रिय पर काबू कर लेने की अत्यन्त आवश्यता है। उसे जीने के लिये खाना चाहिये, मज़े के लिये नहीं। उसे केवल पवित्र वस्तुएं ही देखनी चाहिए और प्रत्येक अपवित्र वस्तु के सामने आंखें मूंद लेनी चाहिए। इस लिये अपनी आंखें इस चीज़ से उस चीज़ पर न घुमाकर भूमि की ओर करके चलना सभ्य शिक्षा का चिन्ह है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी गन्दी अथवा दूषित बातें नहीं सुनेगा, और तीव्र तथा उत्तेजक पदार्थों को नहीं सूंघेगा। बनावटी सेन्टों और एसेंसों की तरंगों से शुद्ध मिट्टी की सुगन्ध ज्यादा मीठी होती है। ब्रह्मचर्य के आकांक्षी को सारे जगने के घंटों में अपने हाथ-पैरों को भले कामों में लगाये रखना चाहिये। समय समय पर उसे उपवास भी रखने चाहियें।

पवित्र साथी, पवित्र मित्र, और पवित्र पुस्तकें रखना तीसरा चरण है।

प्रार्थना अन्तिम चरण है। किन्तु उपादेयता में यह किसी से कम नहीं है। प्रत्येक दिन ब्रह्मचारी को पूरे मन से रामनाम जपना चाहिए

और ईश्वरीय कृपा मांगनी चाहिए। औसत दर्जे के पुरुष या स्त्री के लिये इन बातों में से कोई भी कठिन नहीं है। वे साक्षात् सरलता की मूर्ति हैं। किन्तु उनकी सरलता ही तो असमंजस में डालती है। जब इच्छा रहती है, तब रास्ता काफी सरल बन जाता है। मनुष्यों में इसके लिये इच्छा ही नहीं होती; और इसी लिये वे व्यर्थ में भटका करते हैं। ब्रह्मचर्य के, थोड़े या बहुत, पालन पर संसार अवलम्बित है- इस सत्य का अर्थ है कि ब्रह्मचर्य आवश्यक और सम्भव है।

२—ब्रह्मचर्य की आवश्यकता

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में प्रश्न पूछते हुए मेरे पास इतने पत्र आ रहे हैं और इस विषय में मेरे विचार इतने दृढ़ हैं कि, खासकर राष्ट्रीय जीवन के इस घटनापूर्ण काल में अपने विचार और अपने तजुर्बों के नतीजे पाठकों से मैं और अधिक नहीं छिपा सकता ।

संस्कृत में अमैथुन का अभिवाची शब्द ब्रह्मचर्य है । परन्तु ब्रह्मचर्य का अर्थ अमैथुन से कहीं अधिक विस्तृत है । ब्रह्मचर्य का अर्थ है सम्पूर्ण इन्द्रियों और अवयवों का संयम । पूर्ण ब्रह्मचारी के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है । किन्तु यह आदर्श-स्थिति है जिसे विरले ही पाते हैं । यह रेखागणित की उस रेखा के सदृश है जो केवल कल्पना में ही रहती है और जो शारीरिक रूप से खींची ही नहीं जा सकती । फिर भी यह रेखागणित की एक मुख्य परिभाषा है और इसके बड़े परिणाम निकलते हैं । इसी प्रकार पूर्ण ब्रह्मचारी भी केवल काल्पनिक जगत में ही रह सकता है । किन्तु यदि हम अपने ज्ञानचक्षु के सामने उसे निरन्तर न बनाये रक्खें तो हम बिना पतवार की नौका के समान भटकें । इस काल्पनिक स्थिति के जितने ही निकट हम पहुँचते जावेंगे उतने ही पूर्ण होते जावेंगे ।

किन्तु फिलहाल मैं अमैथुन के अर्थ में ही ब्रह्मचर्य पर लिखूंगा । मैं मानता हूँ कि आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने के लिये मन, वचन, कर्म से पूर्ण संयमी जीवन आवश्यक है; और जिस राष्ट्र में ऐसे मनुष्य

नहीं होते, वह इसी कमी के कारण दरिद्र है। किन्तु राष्ट्रीय विकास की मौजूदा स्थिति में सामयिक आवश्यकता के तौर पर ब्रह्मचर्य की पैरवी करना मेरा उद्देश्य है।

रोग, अकाल, और दरिद्रता, यहां तक कि भूखों मरना भी, मामूली से अधिक हमारे बांट में पड़ा है। हम ऐसे सूक्ष्म ढंग से दासता की चक्की में पीसे जा रहे हैं कि हम में से बहुतेरे इसको ऐसा मानने से भी इन्कार करते हैं और आर्थिक, मानसिक और नैतिक के तिहरे अभिशाप के होते हुए भी हम अपनी इस दशा को प्रगति-शील स्वतंत्रता का रूप मान बैठे हैं। शासन के भार ने कई प्रकार से भारत की गरीबी गहरी कर दी है और बीमारियों का सामना करने की योग्यता घटा दी है। गोखले के शब्दों में शासन के क्रम ने राष्ट्रीय उन्नति को भी यहां तक ठिठुरा दिया है कि हम में से बड़े से बड़े को भी झुकना पड़ता है।

ऐसे पतित वायुमंडल में, क्या यह हमारे लिये ठीक होगा कि हम परिस्थिति को जानते हुए भी बच्चे पैदा करें? जब कि हम अपने को असहाय, रोगग्रस्त और अकाल-पीड़ित पाते हैं, उस समय यदि प्रजोत्पत्ति के क्रम को हम जारी रखेंगे तो केवल गुलामों और क्षीणकायों की संख्या ही बढ़ेगी। हमें तब तक बच्चा पैदा करने का अधिकार नहीं है जब तक भारत स्वतंत्र राष्ट्र होकर भुखमरी का सामना करने के योग्य, अकाल के समय खिला सकने में समर्थ, और मलेरिया, हैजा, प्लेग तथा दूसरी बड़ी बीमारियों से निपटने की योग्यता से परिपूर्ण न हो जाये। मैं पाठकों से यह बात नहीं छिपाना चाहता कि जब मैं इस देश में जन्म-संख्या की वृद्धि सुनता हूँ तो मुझे दुःख होता है। मैं यह

प्रकट करना चाहता हूँ कि सालों से मैंने स्वकीय आत्मत्याग के द्वारा प्रजोत्पत्ति रोकने की सम्भावना पर संतोष के साथ विचार किया है अपनी मौजूदा जन-संख्या की परवरिश करने के लायक भी भारत के पास साधन नहीं। इस लिये नहीं कि उसकी जनसंख्या अधिक है, किन्तु इस लिये कि यह एक ऐसे शासन के चंगुल में है जिस का सिद्धांत उसको उत्तरोत्तर दुहना है।

प्रजोत्पत्ति को रोक-थाम कैसे हो? यूरोप में काम में लाये जानेवाले पापपूर्ण और कृत्रिम निग्रहों से नहीं, किन्तु नियम और आत्मसंयम के जीवन से। पिता-माता को चाहिए कि वे अपने बच्चों को *ब्रह्मचर्य* का पालन सिखावें। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार बालकों के विवाह की सब से कम अवस्था २५ साल है। यदि भारतीय माताओं को यह विश्वास दिलाया जा सके कि लड़के और लड़कियों को विवाहित जीवन के लिये शिक्षा देना पाप है तो भारत में होनेवाली आधी शादियां अपने आप ही रुक जायें। हमारी गर्म जल-वायु के कारण लड़कियों के जल्दी रजस्वला होने की बात भी हमें न माननी चाहिए। जल्दी रजस्वला होने के वहम से भोंडा और कोई झूठा विश्वास मैंने कभी नहीं जाना। मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि जलवायु का रजस्वला होने से कोई सम्बन्ध नहीं है। समय के पहले रजस्वला बनने का कारण है हमारे कुटुम्ब का मानसिक और नैतिक वायुमंडल। माताएं और दूसरे कुटुम्बी अबोध बच्चों को यह सिखाना अपना धार्मिक कर्तव्य समझते हैं कि जब उनकी इतनी उम्र हो जायगी तब उनका विवाह होगा। जब वे दुधमुंहे बच्चे रहते हैं या पालने में झूलते हैं, तभी उनकी मंगनी हो जाती है। बच्चों के कपड़े और भोजन भी कामोत्ते-

जना में सहायता देते हैं। उनके नहीं, किन्तु अपने आनन्द और गर्व के लिये हम अपने बच्चों को गुड्डों के से कपड़े पहनाते हैं। मैंने बीसियों बच्चों का पालन-पोषण किया है। और जो भी कपड़े उन्हें दिये, बिना कठिनाई के वे उन्हीं को पहनने लगे और खुश हुए। हम उन्हें हर प्रकार का गरम और उत्तेजक खाना खिलाते हैं। हमारा अंधा स्नेह उनकी क्षमता का ख्याल ही नहीं करता। निस्सन्देह फल यह होता है कि जल्दी जवानी आ जाती है, अधकचरे बच्चे पैदा होते हैं और जल्दी ही मर जाते हैं। पिता-माता अपने कामों से ऐसा जीता-जागता सबक देते हैं जिसे बच्चे आसानी से समझ लेते हैं। विषयभोग में बुरी तरह चूर रहकर वे अपने बच्चों के लिये बेरोक दुराचार के नमूने का काम देते हैं। कुटुम्ब की प्रत्येक कुसमय वृद्धि का बाजे-गाजे, खुशियों और दावतों के साथ स्वागत किया जाता है। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे वायुमंडल के होते हुए हम इससे भी कम संयमी क्यों नहीं हैं। मुझे इसमें सन्देह की झलक भी नहीं है कि यदि विवाहित पुरुष अपने देश का भला चाहते हैं और भारत को बलवान्, रूपवान् और सुडौल स्त्री-पुरुषों का राष्ट्र बनाना चाहते हैं तो वे पूर्ण आत्मसंयम का पालन करें और फिलहाल बच्चे पैदा करना बन्द कर दें। जिनका नया विवाह हुआ है उन्हें भी मैं यही सलाह दूंगा। किसी बात को न करना, उसको करके छोड़ने से आसान है। आजन्म शराब से निर्लिप्त बना रहना एक शराबी के शराब छोड़ने की अपेक्षा कहीं आसान है। खड़ा रहना, गिरकर उठने की अपेक्षा कहीं अधिक आसान है। यह कहना मिथ्या है कि संयम उन्हीं को भली तरह समझाया जा सकता है जो विषयभोग से अघा गये हैं। निर्बल मनुष्य को भी संयम सिखाने

का कोई अर्थ नहीं होता। मेरा पहलू तो यह है कि चाहे हम बुड्ढे हों या जवान, अघा गये हों या न अघा गये हों, मौजूदा घड़ी में यह हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी दासता के उत्तराधिकारी पैदा करना बन्द कर दें। मैं माता-पिताओं का ध्यान इस ओर भी दिला दूँ कि उन्हें एक दूसरे के अधिकार के विवाद-जाल में न फँसना चाहिए। विषयभोग के लिये सम्मति की आवश्यकता होती है, संयम के लिये नहीं। यह प्रत्यक्ष सत्य है।

जब हम एक शक्तिशाली सरकार से लड़ रहे हैं, तब हमें शारीरिक आर्थिक, नैतिक और धार्मिक सभी शक्तियों की आवश्यकता पड़ेगी जब तक हम इस महान् कार्य को अपना सर्वस्व न बना लें और प्रत्येक अन्य वस्तु से इसको मूल्यवान् न समझ लें, तब तक इस शक्ति को हम नहीं पा सकते। जीवन की इस व्यक्तिगत पवित्रता के बिना, हम गुलामों की जाति ही बने रहेंगे। हमें यह कल्पना करके अपने को धोखे में न डालना चाहिये कि चूंकि हम शासन-पद्धति को दूषित मानते हैं इस लिये व्यक्तिगत गुणों की होड़ में भी हमें अंग्रेज़ों से घृणा करनी चाहिये। मौलिक गुणों का आध्यात्मिक प्रदर्शन किये बिना वे लोग बहुत बड़ी संख्या में उनका शारीरिक पालन करते हैं। देश के राजनैतिक जीवन में बढ़े हुए लोग, वहां, हम से कहीं अधिक संख्या में कुमारियां और कुमार हैं। हमारे बीच में कुमारियां तो होतीं ही नहीं। हां, बाइयां अवश्य होती हैं जिनका देश के राजनैतिक जीवन से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। दूसरी ओर यूरोप में साधारण गुण के रूप में हजारों स्त्रियां अविवाहित रहती हैं।

अब मैं पाठकों के सामने कुछ सरल नियम रखता हूँ जो केवल

मेरे ही नहीं, किन्तु मेरे बहुतेरे साथियों के भी अनुभव पर आधारित हैं।

१—इस अटल विश्वास के साथ, कि वे निर्दोष हैं और रह सकते हैं, लड़के और लड़कियों का पालन-पोषण सरल और प्राकृतिक ढंग पर होना चाहिए।

२—उत्तेजक भोजन, मिर्च और दूसरे मसाले, टिकिया, और मिठाइयाँ जैसे चर्बीदार और गरिष्ट भोजन और सुखाये हुए पदार्थ परित्याग कर देना चाहिये।

३—पति और पत्नी अलग-अलग कमरों में रहें और एकान्त में न मिलें।

४—शरीर और मन दोनों ही निरन्तर स्वास्थ्यप्रद कामों में लगे रहें।

५—शीघ्र सोने और शीघ्र जागने का नियम पालन किया जाय।

६—गन्दे साहित्य से दूर रहा जाय गन्दे विचारों की दवा पवित्र विचार हैं।

७—नाटक, सिनेमा आदि कामोत्तेजक तमाशों का बहिष्कार कर दिया जाय।

८—स्वप्नदोष के कारण कोई चिन्ता न करनी चाहिए। काफ़ी मज़बूत आदमी के लिये प्रत्येक बार ठंडे जल में स्नान करना, ऐसी दशा में, सब से अच्छी रोक है। यह कहना मिथ्या है कि अनिच्छित स्वप्नदोषों से बचने के लिये जब तब विषयभोग कर लेना संरक्षण है।

९—पति और पत्नी के बीच में भी संयम को इतना कठिन न मान लेना चाहिए कि वह लगभग असम्भव सा प्रतीत होने लगे।

दूसरी ओर, आत्मसंयम को जीवन की साधारण और स्वाभावि आदत माननी चाहिये।

१०—प्रत्येक दिन पवित्रता के लिये दिल से की गई प्रार्थना उत्तरोत्तर पवित्र बनाती है।

ब्रह्मचर्य और आत्मसंयम

भादरण मुकाम पर एक अभिनन्दन-पत्र का उत्तर देते हुए लोगों के अनुरोध से गान्धी जी ने ब्रह्मचर्य पर लम्बा प्रवचन किया। उसका सार यहाँ दिया जाता है—

आप चाहते हैं कि ब्रह्मचर्य के विषय पर कुछ कहूँ। कितने ही विषय ऐसे हैं कि जिन पर मैं नवजीवन में कभी कभी लिखता हूँ। परन्तु उन पर व्याख्यान तो शायद ही देता हूँ; क्योंकि यह विषय ही ऐसा है कि कहकर नहीं समझाया जा सकता। आप तो मामूली ब्रह्मचर्य के बारे में सुनना चाहते हैं। 'समस्त इन्द्रियों का संयम' यह विस्तृत व्याख्या जिस ब्रह्मचर्य की है उसके विषय में नहीं। इस साधारण ब्रह्मचर्य को भी शास्त्रकारों ने बड़ा कठिन बताया है। यह बात ९९ फ़ीसदी सच है, एक फ़ीसदी इसमें कमी है। इसका पालन इस लिये कठिन मालूम होता है कि हम दूसरी इन्द्रियों को संयम में नहीं रखते। उसमें मुख्य है रसनेन्द्रिय। जो अपनी जिह्वा को क़ब्ज़े में रख सकता है उसके लिये ब्रह्मचर्य सुगम हो जाता है। प्राणिशास्त्र के ज्ञाताओं का कथन है कि पशु जिस दरजे तक ब्रह्मचर्य का पालन करता है उस दरजे तक मनुष्य नहीं करता। यह सच है। इसका कारण देखने पर मालूम होगा कि पशु अपनी जिह्वा पर पूरा पूरा निग्रह रखते हैं—इच्छा-पूर्वक नहीं, स्वभावतः ही। केवल चारे पर अपनी गुज़र करते हैं—सो भी महज़ पेट भरने लायक ही खाते हैं। वे ज़िन्दगी के लिये खाते

हैं, खाने के लिये जीते नहीं हैं। पर हम तो इसके बिल्कुल विपरीत करते हैं। मां बच्चे को तरह तरह के सुस्वादु भोजन कराती है। वह मानती है कि बालक के साथ प्रेम दिखाने का यही सर्वोत्तम रास्ता है। ऐसा करते हुए हम उन चीज़ों में स्वाद डालते नहीं, ले लेते हैं। स्वाद तो रहता है भूख में। भूख के वक्त सूखी रोटी भी मीठी लगती है और बिना भूखे आदमी को लड्डू भी फीके और बेस्वाद मालूम होंगे। पर हम तो अनेक चीज़ों को खा-खाकर पेट को ठसाठस भरते हैं और फिर कहते हैं कि ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो पाता।

जो आंखें हमें ईश्वर ने देखने के लिये दी हैं उनको हम मलिन करते हैं और देखने की वस्तुओं को देखना नहीं सीखते। 'माता को क्यों गायत्री न पढ़ना चाहिये और बालकों को वह गायत्री क्यों न सिखावे'—इसकी छानबीन करने की अपेक्षा उसके तत्व—सूर्योपासना—को समझकर सूर्योपासना करावें तो क्या ही अच्छा हो। सूर्य की उपासना तो सनातनी और आर्यसमाजी दोनों कर सकते हैं। यह तो मैंने स्थूल अर्थ आपके सामने उपस्थित किया। इस उपासना के मानी क्या हैं? अपना सिर ऊँचा रखकर, सूर्यनारायण के दर्शन करके, आँख की शुद्धि करना। गायत्री के रचयिता ऋषि थे, द्रष्टा थे। उन्होंने कहा कि सूर्योदय में जो नाटक है, जो सौन्दर्य है, जो लीला है, वह और कहीं नहीं दिखाई दे सकती। ईश्वर के जैसा सुन्दर सूत्रधार और कहीं नहीं मिल सकता, और आकाश से बढ़कर भव्य रंगभूमि कहीं नहीं मिल सकती पर कौन माता आज बालक की आँखें धोकर उसे आकाशदर्शन कराती है? बल्कि माता के भावों में तो अनेक प्रपंच रहते हैं। बड़े बड़े घरों में जो शिक्षा मिलती है उसके फल-स्वरूप तो लड़का शायद बड़

अधिकारी होगा; पर इस बात का कौन विचार करता है कि घर में जाने बे-जाने जो शिक्षा बच्चों को मिलती है उससे कितनी बातें वह ग्रहण कर लेता है। मां-बाप हमारे शरीर को ढकते हैं, सजाते हैं; पर इससे कहीं शोभा बढ़ सकती है? कपड़े बदन को ढकने के लिये हैं, सर्दी-गर्मी से रक्षा करने के लिये हैं, सजाने के लिये नहीं। जाड़े से ठिठुरे हुए लड़के को जब हम अंगीठी के पास बैठा लेंगे, अथवा मुहल्ले में खेलने-कूदने भेज देंगे, अथवा खेत में काम पर छोड़ देंगे, तभी उसका शरीर वज्र की तरह होगा। जिसने ब्रह्मचर्य का पालन किया है उसका शरीर वज्र की तरह ज़रूर होना चाहिये। हम तो बच्चों के शरीर को नाश कर डालते हैं। हम उसे घर में बन्द रखकर गरमाना चाहते हैं। इससे तो उसकी चमड़ी में इस तरह की गर्मी आती है जिसे हम छाजन की उपमा दे सकते हैं। हमने शरीर को दुलराकर उसे बिगाड़ डाला है।

यह तो हुई कपड़े की बात। फिर घर में तरह तरह की बातें करके हम बच्चों के मन पर बुरा प्रभाव डालते हैं। उनकी शादी की बातें किया करते हैं, और इसी क़िस्म की चीज़ें और दृश्य भी उन्हें दिखाये जाते हैं। मुझे तो आश्चर्य होता है कि हम महज़ जंगली ही क्यों न हो गये। मर्यादा तोड़ने के अनेक साधनों के होते हुए भी मर्यादा की रक्षा हो रही है। ईश्वर ने मनुष्य की रचना इस तरह से की है कि पतन के अनेक अवसर आते हुए भी वह बच जाता है। ऐसी उसकी लीला गहन है। यदि ब्रह्मचर्य के रास्ते से ये सब विघ्न हम दूर कर दें तो उसका पालन बहुत आसान हो जाय।

ऐसी हालत होते हुए भी हम दुनियाँ के साथ शारीरिक मुकाबला करना चाहते हैं। उसके दो रास्ते हैं। एक आसुरी और दूसरा दैवी।

आसुरी मार्ग है—शरीर-बल प्राप्त करने के लिये हर क़िस्म के उपायों से काम लेना—हर तरह की चीज़ें खाना, शारीरिक मुक़ाबले करना, मांस खाना, इत्यादि। मेरे लड़कपन में मेरा एक मित्र मुझसे कहा करता कि मांसाहार हमें अवश्य करना चाहिये, नहीं तो अंग्रेज़ों की तरह हट्टे-कट्टे हम न हो सकेंगे। जापान को भी जब दूसरे देश के साथ मुक़ाबला करने का समय आया तब वहां मांस-भक्षण को स्थान मिला। सो यदि आसुरी प्रकार से शरीर को तैयार करने की इच्छा हो तो इन चीज़ों का सेवन करना होगा।

परन्तु यदि दैवी साधन से शरीर तैयार करना हो तो ब्रह्मचर्य ही उसका एक उपाय है। जब मुझे कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहता है तब मुझे अपने ऊपर दया आती है। इस अभिनन्दनपत्र में मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा है। सो मुझे कहना चाहिये कि जिन्होंने इस अभिनन्दनपत्र का मजमून तैयार किया है उन्हें पता नहीं है कि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य किस चीज़ का नाम है। और जिसके बाल-बच्चे हुए हैं उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कैसे कह सकते हैं? नैष्ठिक ब्रह्मचारी को न तो कभी बुख़ार आता है, न कभी सिर दर्द करता है, न कभी खांसी होती है, न कभी अपेंडिसाइटिस होता है। डाक्टर लोग कहते हैं कि नारंगी का बीज आंत में रह जाने से भी अपेंडिसाइटिस होजाता है। परन्तु जिसका शरीर स्वच्छ और नीरोग होता है उसमें ये बीज टिक हो नहीं सकते। जब आंतें शिथिल पड़ जाती हैं तब वे ऐसी चीज़ों को अपने आप बाहर नहीं निकाल सकतीं। मेरी भी आतें शिथिल हो गयी होंगी। इसी से मैं ऐसी कोई चीज़ हज़म न कर सका हूँगा। बच्चे ऐसी अनेक चीज़ें खा जाते हैं। माता इसका कहां ध्यान रखती है? पर उनकी

आंतों में इतनी शक्ति स्वाभाविक तौर पर ही होती है। इसी लिये मैं चाहता हूँ कि मुझ पर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के पालन का आरोपण करके कोई मिथ्यावादी न हों। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का तेज तो मुझ से अनेक गुना अधिक होना चाहिये। मैं आदर्श ब्रह्मचारी नहीं। हां, यह सच है कि मैं वैसा बनना चाहता हूँ। मैंने तो आप के सामने अपने अनुभव के कुछ कण पेश किये हैं, जो ब्रह्मचर्य की सीमा बताते हैं।

ब्रह्मचारी रहने का अर्थ यह नहीं कि मैं किसी स्त्री को स्पर्श न करूं, अपनी बहन का स्पर्श न करूं। पर ब्रह्मचारी होने का अर्थ यह है कि स्त्री का स्पर्श करने से किसी प्रकार का विकार न उत्पन्न हो। जिस तरह कि कागज को स्पर्श करने से नहीं होता। मेरी बहन बीमार हो और उसकी सेवा करते हुए, उसका स्पर्श करते हुए, ब्रह्मचर्य के कारण मुझे हिचकना पड़े तो वह ब्रह्मचर्य तीन कौड़ी का है। जिस निर्विकार दशा का अनुभव हम मृत शरीर को स्पर्श करके कर सकते हैं उसी का अनुभव जब हम किसी भारी सुन्दरी युवती का स्पर्श करके कर सकें तभी हम ब्रह्मचारी हैं। यदि आप यह चाहते हों कि बालक ऐसे ब्रह्मचर्य को प्राप्त करें, तो इसका अभ्यास-क्रम आप नहीं बना सकते—मुझ जैसा अधूरा ही क्यों न हो; पर ब्रह्मचारी ही बना सकता है।

ब्रह्मचारी स्वाभाविक संन्यासी होता है। ब्रह्मचर्याश्रम संन्यासाश्रम से भी बढ़ कर है। पर उसे हमने गिरा दिया है। इससे हमारा गृहस्थाश्रम भी बिगड़ा है, वानप्रस्थाश्रम भी बिगड़ा है और संन्यास का तो नाम भी नहीं रह गया है। ऐसी हमारी असहाय अवस्था हो गई है।

ऊपर जो आसुरी मार्ग बताया गया है उसका अनुकरण करके तो

आप पांच सौ वर्षों तक भी पठानों का मुकाबला न कर सकेंगे। दैवी मार्ग का अनुकरण यदि आज हो तो आज ही पठानों का मुकाबला हो सकता है। क्योंकि दैवी साधन से आवश्यक मानसिक परिवर्तन एक क्षण में हो सकता है। पर शारीरिक परिवर्तन करते हुए युग बीत जाते हैं। इस दैवी मार्ग का अनुकरण तभी हमसे होगा जब हमारे पल्ले पूर्वजन्म का पुण्य होगा, और माता-पिता हमारे लिये उचित सामग्री पैदा करेंगे।

५—ब्रह्मचर्य और स्वास्थ्य

इस पुस्तक के पिछले अध्यायों को जिन पाठकों ने ध्यानपूर्वक पढ़ा है, उनसे मेरी प्रार्थना है कि वे इस अध्याय को और भी विशेष सावधानी से पढ़ें और इसके विषय पर अच्छी तरह चिन्तन करें। अभी कई और अध्याय लिखने हैं और वे अपने अपने ढंग से सभी उपयोगी प्रमाणित होंगे; किन्तु इस अध्याय के समान महत्वपूर्ण उन में से एक भी नहीं है। इस पुस्तक में ऐसी कोई भी बात नहीं कही गयी है जो मेरे निजी अनुभव में न आयी हो या जिसे मैं सोलह आना सत्य न मानता होऊं।

स्वास्थ्य की बहुतेरी कुंजियां हैं और वे सभी बहुत आवश्यक हैं; किन्तु उन सब में से अधिक आवश्यक ब्रह्मचर्य है। साफ़ हवा, साफ़ पानी, और पुष्ट भोजन निश्चय रूप से स्वास्थ्य के लिये हितकारी हैं। किन्तु यदि हम जितना स्वास्थ्य बनावें उतना ही बिगाड़ दें तो हम स्वस्थ कैसे बन सकते हैं? यदि हम जितना रुपया कमावें उतना ही उड़ा दें तो हम दरिद्र बनने से कैसे बच सकते हैं? इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं हो सकता कि स्त्री या पुरुष कोई भी तब तक वीर्यवान् और बलवान् नहीं बन सकते जब तक कि वे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन न करें।

ब्रह्मचर्य क्या है? ब्रह्मचर्य का अर्थ है कि पुरुष और स्त्री एक दूसरे को विषय की दृष्टि से न देखें, एक दूसरे को विषय के विचार से न छुएं, उनके मन में स्वप्न में भी विषय के विचार न उठें। जब वे एक दूसरे की ओर देखें तो उनकी दृष्टि में कामुकता का लेश-मात्र

भी न हो। परमात्मा ने जो गुप्त शक्ति हमें दी है उसे दृढ़ आत्म-संयम द्वारा संचित करना चाहिये; और फिर उसे केवल शारीरिक नहीं; वरन् मानसिक और आत्मिक ओज और पौरुष के रूप में आलोकित करना चाहिए।

आइये, अब ज़रा देखें कि हमारे चारों ओर क्या तमाशा हो रहा है। पुरुष और स्त्री, बूढ़े और जवान सभी कामलिप्सा के जाल में फँसे पड़े हैं। विषय-वासना से अंधे होकर वे सत्य और असत्य की भावना को ही खो बैठे हैं। इसके घातक प्रभाव से जकड़े हुए लड़के-लड़कियों को मैंने स्वयं पागल की तरह बरतते देखा है। इसी के प्रभाव में पड़ कर मैंने भी इसी प्रकार का व्यवहार किया है और उससे अन्यथा कुछ मैं कर ही नहीं सकता था। थोड़ी सी देर के मज़े के लिये हम बड़ी मिहनत से कमाई हुई जीवनशक्ति की निधि को पल भर में खो देते हैं। जब मद उतरता है, तब हम अपने को दयनीय दशा में पाते हैं। दूसरे दिन सवेरे हमारा शरीर भारी और सुस्त मालूम होता है और दिमाग़ काम करने से जवाब दे देता है। हम दूध का काढ़ा पीते हैं, भस्म और याकूतियां खाते हैं, वैद्यों के पास जाकर ताक़त की दवा मांगते हैं और सदा इस खोज में रहते हैं कि खोयी हुई भोग की शक्ति कैसे यथावत हो जावे। यों ही दिन और वर्ष बीतते हैं और जब बुढ़ापा आता है तब हम अपने शरीर और दिमाग़ दोनों को ही क्षीण पाते हैं।

किन्तु प्रकृति का नियम ठीक इसके विपरीत है। जैसे ही हमारी उम्र बढ़ती जाती है वैसे ही हमारी बुद्धि भी तीक्ष्ण होती जानी चाहिए। जितना ही ज़्यादा हम जियें उतना ही ज़्यादा हममें इस बात की योग्यता होनी चाहिए कि हम अपने भाइयों को अपने संचित

अनुभव का लाभ बदला सकें। सच्चे ब्रह्मचारियों की ऐसी ही स्थिति रहती है। वे मौत से डरना नहीं जानते। वे मृत्यु की घड़ी में भी परमात्मा को नहीं भूलते। वे व्यर्थ की इच्छाओं में नहीं फँसते। मरते समय उनके ओठों पर मंद मुसकान खेलती है। परमात्मा के दरबार में जब उनका खाता पेश होता है तब वे विचलित नहीं होते। वे ही सच्चे पुरुष और स्त्री हैं और उन्हीं के लिये यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने स्वास्थ्य की रक्षा की है।

इस दुनियाँ में अहंकार, क्रोध, भय और ईर्ष्या आदि विषयों का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य-भंग ही है; यह बात भी हम नहीं समझ पाते। यदि हमारा मन हमारे वश में नहीं है, यदि रोज़ हम एक या अधिक बार छोटे बच्चों से भी ज़्यादा नादानी का काम करते हैं, तो फिर ऐसा कौन सा पाप होगा जिसे हम जान या अनजान में न कर सकेंगे? हम घोर से घोर पापकर्म करते हुए भी आगा-पीछा कैसे सोच सकेंगे?

लेकिन आप पूछ सकते हैं,—'क्या कभी भी किसी ने ऐसा ब्रह्मचारी देखा है? यदि सारे मनुष्य ब्रह्मचारी बन जावेंगे तो क्या फिर मनुष्य जाति नष्ट न हो जावेगी और सारा संसार खंडबंड न हो जावेगा?' हम यहाँ पर उपरोक्त प्रश्नों के धार्मिक पहलू पर विचार न करेंगे। केवल सांसारिक दृष्टि से ही उनको छानबीन करेंगे। मेरी समझ में इन दोनों प्रश्नों की जड़ हमारी कमज़ोरी और डरपोकपन है। हममें ब्रह्मचर्य पालन करने के लिये यथेष्ट इच्छाबल नहीं है। इसी लिये हम अपने कर्तव्य से बचने के लिये बहाने ढूँढ़ते हैं। सच्चे ब्रह्मचारियों की कमी नहीं है। किन्तु यदि वे यों ही मिल जाँय तो फिर उनका

मूल्य ही क्या रहे ! हीरे की तलाश में हजारों मजदूरों को पृथ्वी के अन्दर खानों में घुसना पड़ता है, तब कहीं जाकर पर्वताकाय चट्टानों में से मुट्ठी भर हीरे मिलते हैं। तब फिर पत्थर के हीरे से कहीं अधिक अमूल्य ब्रह्मचारी हीरा को पाने के लिये कितना अधिक प्रयत्न करना आवश्यक होगा ? यदि ब्रह्मचर्य पालन करने से संसार नष्ट हो जावे तो इससे हमें क्या ! हम ईश्वर हैं जो इसके भविष्य की चिन्ता करें ! जिसने इसे बनाया है वही इसे सँभालेगा भी। हमें यह भी जानने का कष्ट न करना चाहिए कि दूसरे लोग ब्रह्मचर्य पालन करते हैं या नहीं। जब हम किसी धंधे या व्यवसाय में पड़ते हैं तब हम क्या यह सोचते हैं कि यदि सभी लोग यही करने लगें तो दुनियाँ का भविष्य क्या होगा ? सच्चे ब्रह्मचारी को इन प्रश्नों के उत्तर समय आने पर अपने आप ही मिल जावेंगे।

किन्तु जो मनुष्य दुनियादारी की फिक्रों में फँसे हुए हैं वे इन विचारों को काम में कैसे ला सकते हैं ? जो विवाहित हैं वे क्या करें ? बाल-बच्चेवालों को कैसे चलना चाहिए ? जो पुरुष काम-लिप्सा को वश में नहीं कर पाते वे क्या करें ? मैं बतला चुका हूँ कि ब्रह्मचर्य की सब से ऊंची दशा कौन सी है। हमें चाहिए कि इस आदर्श को सदैव अपने सामने रखें और अपनी शक्ति भर उस तक पहुँचने की चेष्टा करें। जब छोटे बच्चों को बारहखड़ी लिखना सिखाया जाता है तब उन्हें अक्षर का अच्छे से अच्छे नमूना दिखाया जाता है और वे यथाशक्ति उसकी हूबहू नक़ल करने की चेष्टा करते हैं। इसी प्रकार यदि हम लगकर ब्रह्मचर्य के आदर्श तक पहुँचने की चेष्टा करें तो सम्भव है कि अन्त में हम उसे पूर्णतया पाने में सफल हो सकें। यदि

हमारा विवाह हो गया है तो इससे क्या ? प्रकृति का नियम है कि ब्रह्मचर्य तभी तोड़ा जावे जब पति और पत्नी दोनों ही सन्तानकी इच्छा करें। जो लोग इस नियम को ध्यान में रखते हुए चार या पांच साल में ब्रह्मचर्य को एक बार भंग करते हैं वे कामलिप्सा के गुलाम नहीं हो जाते और न उनको जीवनी शक्ति के भण्डार में ही कोई विशेष टोटा आता है। किन्तु अफ़सोस, कितने विरले ही स्त्री और पुरुष ऐसे हैं जो केवल सन्तान के लिये ही विषय-भोग करते हैं। शेष हजारों मनुष्य तो ऐसे ही मिलेंगे जो कामेन्द्रिय को तृप्त करने के लिये ही विषय-भोग में प्रवृत्त होते हैं और फलस्वरूप उनकी इच्छा के विरुद्ध बच्चे पैदा हो जाते हैं। विषय-वासना के उन्माद में हम अपने कामों के परिणामों को भी नहीं सोचते। इस विषय में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष ही विशेष दोषी हैं। पुरुष अपनी कामुकता में इतना मदान्ध हो जाता है कि वह एकदम भूल बैठता है कि उसकी स्त्री कमज़ोर है और बच्चा जनने के योग्य नहीं है। पश्चिम के लोगों ने तो इस विषय में सारी सीमाएं ही पार कर दी हैं। वे भोग-विलास में मस्त रहते हैं और ऐसी तदबीरें निकालते हैं जिससे वे बच्चों की ज़िम्मेदारी से भी बच जावें। इस विषय पर बहुतेरी पुस्तकें लिखी गयी हैं और सन्तति-निग्रह के साधनों का अच्छा खासा धन्धा चल पड़ा है। हम अब तक इस पाप से बचे हुए हैं। किन्तु साथ ही हम अपनी स्त्रियों पर मातृत्व का बोझ डालने में नहीं सहमते और इस बात की भी चिन्ता नहीं करते कि हमारे बच्चे नपुंसक, कमज़ोर और मूर्ख होंगे। प्रत्येक बार जब बच्चा जन्मता है, हम परमात्मा को धन्यवाद देते हैं, पूजा रचा करते हैं, और इस प्रकार अपने कामों की क्रूरता को छिपाना चाहते हैं। कमज़ोर,

लूली, लँगड़ी, विषयी, और डरपोक सन्तान का होना हमें ईश्वरीय कोप का चिन्ह समझना चाहिए। छोटे छोटे बालक-बालिकाओं के सन्तान उत्पन्न होना क्या आनन्द मनाने की बात है? क्या यह दैवी कोप नहीं है? हम सभी जानते हैं कि अल्हड़ पेड़ में समय से पहले फल लग जाने से पेड़ कमज़ोर पड़ जाता है। इसी लिये फल आने में देरी करने की हम हर प्रकार से चेष्टा करते हैं। किन्तु जब बालक बाप और बालिका माँ से बच्चा पैदा होता है तब हम परमात्मा की प्रशंसा और बधाई के गीत गाते हैं। इससे ज़्यादा भयानक और क्या बात हो सकती है? क्या हम सोचते हैं कि यह नपुंसक बच्चों का अनगिनत झुंड जो भारतवर्ष तथा दूसरे देशों में दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा है, संसार की रक्षा कर सकेगा? सत्य तो यह है कि इस विषय में हम पशुओं से भी गये-बीते हैं। पशुओं के नर और मादे का संयोग तभी कराया जाता है जब उनसे बच्चे उत्पन्न कराने होते हैं। गर्भाधान के समय से लेकर बच्चे के दूध पीना छोड़ देने के समय तक एक दूसरे से अलग रहना पुरुष और स्त्री को अपना परम कर्तव्य समझना चाहिए। किन्तु हम इस पवित्र कर्तव्य की उपेक्षा करके अपने घातक भोग-विलास में मदमस्त होकर विभोर रहते हैं। यह असाध्य रोग हमारे मन को दुर्बल बना देता है और चंद दिन के क्लेशमय जीवन में घसीटने के बाद थोड़ी अवस्था में ही काल का ग्रास बनाता है। विवाहित स्त्री-पुरुषों को विवाह का सच्चा उद्देश्य समझना चाहिए और सन्तानोत्पत्ति की इच्छा के अतिरिक्त कभी भी ब्रह्मचर्य का भंग न करना चाहिए।

किन्तु हमारी आज-कल की जीवनचर्या में ऐसा हो सकना बहुत

कठिन है। हमारी खुराक, रहनसहन, बातचीत, और वायुमंडल सभी विषय-वासना को जाग्रत करनेवाले हैं। कामलिप्सा हमारी जीवन-शक्ति में विष की तरह प्रवेश कर गयी है। कुछ लोग यह शङ्का कर सकते हैं कि जब यह दशा है तब मनुष्य इस बंधन से कैसे मुक्त हो सकता है? यह पुस्तक ऐसे मनुष्यों के लिये नहीं लिखी गयी है जो ऐसी शंकाएं करते फिरें। यह तो उनके लिये है जो वास्तव में उत्साही हैं और जिनमें आत्मोन्नति के लिये जी तोड़कर प्रयत्न करने का साहस है। अपनी मौजूदा पतित दशा में ही संतोष मान बैठनेवालों को तो इसका पढ़ना भी बोझ मालूम होगा। किन्तु मुझे आशा है कि अपनी करुण दशा समझकर उससे उकताए हुए लोगों के लिये यह अवश्य लाभयुक्त होगी।

इन बातों से यह फल निकलता है कि जो लोग अभी अविवाहित हैं वे अविवाहित ही बने रहने का उद्योग करें; किन्तु यदि बिना विवाह काम न चल सके तो जहाँ तक सम्भव हो देर से विवाह करें। युवा पुरुष पच्चीस-तीस बरस तक विवाह न करने का प्रण कर सकते हैं। ऐसा करने से शारीरिक उन्नति के अतिरिक्त और जो लाभ होंगे उनका विचार हम यहां नहीं कर सकते। लोग चाहें तो स्वयं अनुभव कर सकते हैं।

इस अध्याय को पढ़नेवाले माता-पिताओं से मेरी यह प्रार्थना है कि वे बचपन में विवाह करके अपने बच्चों के गलों में चक्की का पाट न बांधें। उनका कर्तव्य है कि वे उमगती हुई सन्तानों के हित-अनहित को देखें और केवल अपने अभिमान को चार चाँद लगाने में ही व्यस्त न रहें। रईसी और घराने की शान-शौकत के मूर्खतापूर्ण ख्यालों को

उन्हें पता बता देना चाहिए। यदि वे बच्चों के सच्चे हितचिन्तक हैं तो, उन्हें उनकी शारीरिक, मानसिक, और नैतिक उन्नति की ओर ध्यान देना चाहिये। बचपन में ही बच्चों को ज़बर्दस्ती ब्याह कर गृहस्थी के जंजाल और ज़िम्मेदारी में डाल देने से बढ़ कर उनका अहित और क्या हो सकता है?

स्वास्थ्य के सच्चे नियमों के अनुसार पत्नी की मृत्यु के बाद पति को और पति की मृत्यु के बाद पत्नी को अकेला ही रहना चाहिए—दूसरा विवाह न करना चाहिए। क्या नौजवान स्त्री-पुरुषों को कभी भी वीर्यपात करने की आवश्यकता है? इस प्रश्न पर डाक्टरों में मतभेद है। कुछ इसका जवाब 'हां' में और कुछ 'नहीं' में देते हैं। किन्तु जब डाक्टरों में मतभेद है तब यह सोचकर कि एक पक्ष के डाक्टरों की सम्मति हमारी ओर है, हमें विषय-भोग में तल्लीन न हो जाना चाहिए। मैं अपने निजी तथा दूसरों के अनुभव के बल पर निस्संकोच यह कह सकता हूं कि विषयभोग आरोग्य-रक्षा के लिये केवल अनावश्यक ही नहीं वरन् हानिकर है। बहुत वर्षों की बँधी हुई मन और तन की मज़बूती एक बार के वीर्यपात से भी इतनी जाती रहती है कि उसे फिर से प्राप्त करने में काफ़ी समय लगता है और फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि असली स्थिति आ गयी है। टूटे शीशे को जोड़कर काम भले ही चल जाय, लेकिन वह रहेगा टूटा शीशा ही।

जैसा पहले कहा जा चुका है, साफ़ हवा, साफ़ पानी, हितकर और स्वच्छ भोजन, और शुद्ध विचारों के बिना वीर्य-रक्षा होना असम्भव है। आचरण और आरोग्य का इतना घना सम्बन्ध है कि पवित्र जीवन

के विना पूर्ण आरोग्य प्राप्त किया ही नहीं जा सकता। जब जागे तभी से सवेरा समझकर और पुरानी भूलों को भुलाकर जो पवित्र जीवन का आचरण प्रारम्भ करेगा वह प्रत्यक्ष इसके लाभ अनुभव करेगा। जिन्होंने थोड़े समय तक भी ब्रह्मचर्य का पालन किया है उन्हें भी अपने मन और शरीर के बढ़े हुए बल का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ होगा और वे इस पारसमणि को, प्राण की भांति, यत्नपूर्वक रक्षा करते होंगे। ब्रह्मचर्य का मूल्य पूर्णतया समझ चुकने के बाद भी मैंने स्वयं ही भूलें की हैं और उनका बुरा फल भी भोगा है। जब मैं इन भूलों के पहले और बाद की अपनी दशा के महान् अन्तर पर विचार करता हूँ तो मेरा हृदय लज्जा और पश्चात्ताप से भर जाता है। किन्तु पिछली भूलों ने अब मुझे इस पारसमणि का संचय करना सिखा दिया है और मुझे पूरी आशा है कि परमात्मा की अनुकम्पा से भविष्य में भी इसे संचित रख सकूंगा। ब्रह्मचर्य के अपरिमित लाभों को मैंने स्वयं अपने शरीर में अनुभव किया है। मैं लड़कपन में ही ब्याहा गया और थोड़ी अवस्था में बच्चों का बाप बना। आखिरकार जब मेरी आंखें खुलीं तब मुझे मालूम हुआ कि मैं जीवन के प्रारम्भिक नियमों से भी अनभिज्ञ था। यदि मेरी भूलों और अनुभवों से चेतकर एक मनुष्य भी बच सकेगा तो यह अध्याय लिखकर मैं अपने को कृतार्थ मानूंगा। बहुत से लोगों ने मुझसे कहा है और मैं भी मानता हूँ कि मुझमें शक्ति और उत्साह बहुत है और कोई मानसिक दुर्बलता नहीं है। कुछ तो यहां तक कहते हैं कि मुझ में इतनी शक्ति है कि वह हठ का रूप धारण कर लेती है। तब भी पुरानी यादगार में कुछ न कुछ तो शारीरिक और मानसिक अस्वस्थता बाक़ी ही है। फिर भी अपने मित्रों की ओर देखते हुए मैं अपने को स्वस्थ और

मज़बूत कह सकता हूँ। जब मैं बीस साल तक विषय-भोग में व्यस्त रहकर भी इस दशा तक पहुँच सका हूँ, तब यदि मैंने अपने को उन बीस सालों में भी पवित्र रखा होता तो मेरी दशा कितनी विशेष अच्छी रही होती। यह मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि मैंने जीवन भर निरन्तर अभंग ब्रह्मचर्य का आचरण किया होता तो मेरी शक्ति और उत्साह सहस्रों गुना ज्यादा होता और मैं उस सब को अपने देश की सेवा में लगा सका होता। जब मेरा सा अधूरा ब्रह्मचारी इतना लाभ उठा सकता है तो फिर अभंग ब्रह्मचर्य पालन से कितनी विशेष विस्मय-जनक शारीरिक, मानसिक, और नैतिक शक्ति प्राप्त हो सकती होगी।

जब ब्रह्मचर्य का नियम इतना कठोर है तो फिर असंगत व्यभिचार में मस्त रहनेवाले अक्षम्य पापियों के लिये हम क्या कहें? छिनाला और रंडीबाज़ी से होनेवाली बुराइयाँ धर्म और नीति का विषय हैं। स्वास्थ्य की पुस्तक में उन पर पूर्ण रूप से विचार नहीं किया जा सकता। यहां केवल इतना ही कहा जा सकता है कि छिनाला अथवा रंडीबाज़ी से मनुष्य गरमी आदि नाम न लेनेवाली बीमारियों से पीड़ित होकर सड़ते देखे जाते हैं। परमात्मा बड़ा न्यायी है और पापियों को शीघ्र ही दंड देता है। उनकी थोड़ी सी जिन्दगी इन बीमारियों का इलाज कराते ही बीतती है। यदि छिनाला और रंडीबाज़ी मिट जावे तो आधे डाक्टर बे-धंधे के हो जावें। इन बीमारियों से मनुष्य जाति को बुरी तरह घिरे देखकर विचारशील डाक्टरों को कहना पड़ा है कि यदि पर-स्त्रीगमन और वेश्या-सहवास का सपाटा यों ही चलता रहा तो कोई भी दवा मनुष्य जाति की रक्षा न कर सकेगी। इन रोगों की दवाइयाँ इतनी ज़हरीली होती हैं कि यद्यपि वे कुछ समय के लिये लाभ करती

जान पड़ती हैं; किन्तु वे ऐसे दूसरे भयानक रोग उत्पन्न कर देती हैं जो पीढ़ी दर पीढ़ी चले जाते हैं।

विवाहित स्त्री-पुरुषों का ब्रह्मचर्य पालन करने के उपाय बतलाकर इस, आवश्यकता से बढ़े हुए, अध्याय को समाप्त करना चाहिए। हवा, पानी और भोजन-सम्बन्धी स्वास्थ्य के नियम पालन करना ही पर्याप्त नहीं है। पति को पत्नी के साथ एकान्तवास भी छोड़ देना चाहिए। विचार करने से जान पड़ेगा कि विषय-भोग के सिवा पति-पत्नी के एकान्तवास की आवश्यकता नहीं होती। रात्रि में उन्हें अलग अलग कमरों में सोना चाहिए और दिन भर लगातार अच्छे कामों में लगे रहना चाहिए। उन्हें ऐसी पुस्तकें पढ़नी चाहिएं जो उन्हें उच्च विचारों से भर दें। महापुरुषों के जीवन पर चिन्तन करना चाहिए और इस बात को सदा सामने रखना चाहिए कि विषय-भोग ही बहुतेरे कष्टों की जड़ है। जब उन्हें विषय-वासना सतावे तब ठंडे पानी में नहा डालना चाहिए जिससे उन्माद की गरमी ठंडी पड़ जावे और हितकर शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जावे। ऐसा करना कठिन है; किन्तु हम कठिनाइयों से भिड़ने और उन्हें जीतने के लिये ही तो पैदा हुए हैं। जो ऐसा करने की इच्छा नहीं करता वह सच्चे स्वास्थ्य के परमानन्द को प्राप्त नहीं कर सकता।

६—ब्रह्मचर्य और सत्य

एक मित्र महादेव देसाई को इस प्रकार लिखते हैं :

"आपको यह तो स्मरण होगा ही कि कुछ महीने पहले 'नवजीव
में ब्रह्मचर्य पर लेख लिखे गये थे—शायद आप ही ने 'यंग इण्डिया'
उनका अनुवाद किया था। गांधीजी ने उस समय इस बात को प्रक
किया था कि मुझे अब भी दूषित स्वप्न आते हैं। यह पढ़ते ही मु
ख्याल हुआ था कि ऐसी बातें प्रकट करने का परिणाम कभी अच्छा न
होता और पीछे से मेरा यह ख्याल सच साबित होता हुआ प्रती
हुआ है।

"विलायत की हमारी यात्रा में मैंने और मेरे दो मित्रों ने अने
प्रकार के प्रलोभनों के होते हुए भी अपना चरित्र शुद्ध रक्खा था। उ
तीन 'म' से तो बिलकुल ही दूर रहे थे। लेकिन गांधीजी का उपरो
लेख पढ़कर मेरे मित्र बिल्कुल ही हताश हो गये और उन्होंने दृढ़तापूर्
मुझसे कहा कि 'इतने भगीरथ प्रयत्न करने पर भी जब गांधीजी की य
हालत है तब फिर हमारा क्या हिसाब? यह ब्रह्मचर्यादि पालन करने का प्रय
करना वृथा है। मुझे तो अब गयाबीता ही समझो।' कुछ म्लान मुख से मैं
उनका बचाव करना आरम्भ किया, 'यदि गांधीजी जैसों को भी इ
मार्ग पर चलना इतना कठिन मालूम होता है तो फिर हमें अब तिगुन
अधिक प्रयत्नशील होना चाहिये। इत्यादि'—जैसी कि दलीलें आप य
गांधीजी करेंगे। लेकिन यह सब व्यर्थ हुआ। आज तक जो निष्कलं

और सुन्दर-चरित्र था वह कलंकित हो गया। कर्म-सिद्धान्तानुसार इस अधःपतन का कुछ दोष कोई गांधीजी पर लगावें तो आप या गांधीजी क्या कहेंगे ?

"जब तक मुझे इस एक ही उदाहरण का ख्याल था, मैंने आपको कुछ भी न लिखा था—'अपवाद' के नाम से आसानी से टाल दिये जानेवाले उत्तर से मैं सन्तोष मानने के लिये तैयार न था। लेकिन उपरोक्त लेख के पढ़ने के बाद ही घटित हुए दूसरे ऐसे उदाहरणों से मेरे भय को पुष्टि मिली है और ऊपर बताये गये उदाहरण में मेरे मित्र पर उस लेख का जो परिणाम हुआ, केवल अपवादरूप न था, इसका मुझे यकीन होगया है।

"मैं यह जानता हूँ कि गांधीजी को जो हज़ारहा बातें आसानी से शक्य हो सकती हैं वे मेरे लिये सर्वथा अशक्य हैं। लेकिन भगवान् की कृपा से इतना बल तो प्राप्त है कि जो गांधीजी को भी अशक्य मालूम हो, ऐसी एकाध बात मेरे लिए संभव भी हो जाय। गांधीजी की यह उक्ति पढ़कर मेरा अन्तर विलोड़ित हुआ है और ब्रह्मचर्य का स्वास्थ्य जो विचलित हुआ है सो अभी तक स्थिर नहीं हो सका है। फिर भी ऐसे ही एक विचार ने मुझे अधःपात से बचा लिया है। बहुत मरतबा तो एक दोष ही दूसरे दोष से मनुष्य की रक्षा करता है। इसमें भी मेरे अभिमान के दोष के कारण मेरा अधःपतन होता हुआ रुक गया। गांधीजी के ध्यान में यह बात लाने की कृपा करेंगे ! ख़ासकर अभी जब कि वे आत्म-कथा लिख रहे हैं। सत्य और शुद्ध लिखने में बहादुरी तो अवश्य है, लेकिन संसार में और 'नवजीवन' और 'यंग इंडिया' के पाठकों

में इससे विरुद्ध गुण का परिमाण ही अधिक है । इसलिये एक का खाद्य दूसरे के लिये ज़हर हो सकता है ।"

यह शिकायत कोई नई नहीं है । असहयोग के आन्दोलन का जब बड़ा ज़ोर था और उस समय जब मैंने अपनी गलती को स्वीकार किया था तब एक मित्र ने बड़े ही सरलभाव से कहा था "आपको गलती मालूम हो तो भी उसको प्रकाश न करना चाहिए। लोगों को यह ख्याल बना रहना चाहिए कि ऐसा भी कोई पु॰ है कि जिससे कभी गलती नहीं हो सकती है । आप ऐसे ही गिने जाते थे । आपने गलती को स्वीकार किया है, इस लिए अब लोग हतारा होंगे ।" इस पत्र को पढ़कर मुझे हँसी आई और खेद भी हुआ । लेखक के भोलेपन पर मुझे हँसी आई । जिससे कभी गलती न हो, ऐसा मनुष्य यदि न मिले तो किसी को भी मनाने का विचार करना मुझे त्रासदायक प्रतीत हुआ ।

मुझसे गलती हो और वह यदि मालूम हो जाय तो उससे लोगों को हानि के बदले लाभ ही होगा । मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि गलतियों को मेरे शीघ्र स्वीकार करने से जनता को लाभ ही हुआ है । और मैंने अपने सम्बन्ध में तो यह अनुभव किया है कि मुझे तो उससे अवश्य लाभ हुआ है ।

मेरे दूषित स्वप्नों के सम्बन्ध में भी यही समझना चाहिये। सम्पूर्ण ब्रह्मचारी न होने पर भी यदि मैं वैसा करने का दावा करूं तो उससे संसार को बड़ी हानि होगी। उससे ब्रह्मचर्य कलंकित होगा । सत्य का सूर्य म्लान हो जावेगा । ब्रह्मचर्य का मिथ्या दावा करके मैं ब्रह्मचर्य का मूल्य क्यों घटा दूँ ! आज तो मैं यह स्पष्ट देख सकता हूँ कि ब्रह्मचर्य के पालन के लिये मैं जो उपाय बताता हूँ वे सम्पूर्ण नहीं हैं। सब लोगों को

वे सम्पूर्णतया सफल नहीं होते हैं; क्योंकि मैं स्वयं सम्पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं हूँ। संसार यदि यह माने कि मैं सम्पूर्ण ब्रह्मचारी हूँ; और मैं उसकी जड़ी-बूटी न दिखा सकूं, तो यह कैसी बड़ी त्रुटि गिनी जायगी!

मैं सच्चा साधक हूँ। मैं सदा जाग्रत रहता हूँ। मेरा प्रयत्न दृढ़ है। इतना ही क्यों बस न माना जाय! इसी बात से दूसरों को मदद क्यों न मिले। मैं भी यदि विचार के विकारों से दूर नहीं रह सकता हूँ तो फिर दूसरों का कहना ही क्या! ऐसा ग़लत हिसाब करने के बदले यह सीधा ही क्यों न किया कि जो शख्स एक समय व्यभिचारी और विकारी था वह आज यदि अपनी पत्नी के साथ भी अपनी लड़की या बहन का सा भाव रखकर रह सकता है तो हम लोग भी इतना क्यों न कर सकेंगे! हमारे स्वप्नदोषों को, विचार-विकारों को तो ईश्वर दूर करेगा ही। यह सीधा हिसाब है।

लेखक के वे मित्र, जो मेरे स्वप्नदोष के स्वीकार के बाद पीछे हटे हैं, कभी आगे बढ़े हो न थे। उन्हें झूठा नशा था। वह उतर गया। ब्रह्मचर्यादि महाव्रतों की सत्यता या सिद्धि मुझ जैसे किसी भी व्यक्ति पर अवलम्बन नहीं रखती है। उसके पीछे लाखों मनुष्यों ने तेजस्वी तपश्चर्या की है और कुछ लोगों ने तो सम्पूर्ण विजय भी प्राप्त की है।

उन चक्रवर्तियों की पंक्ति में खड़े रहने का जब मुझे अधिकार प्राप्त होगा तब मेरी भाषा में आज से भी अधिक निश्चय दिखाई देगा। जिसके विचार में विकार नहीं है, जिसकी निद्रा का भंग नहीं

होता है. जो निद्रित होने पर भी जागृत रह सकता है, वह नारोग होता है। उसे क्विनैन के सेवन की आवश्यकता नहीं होती। उसके निर्विकार रक्त में ही ऐसी शुद्धि होती है कि उसे मलेरिया इत्यादि के जन्तु कभी दुःख नहीं पहुँचा सकते। यह स्थिति प्राप्त करने के लिये मैं प्रयत्न कर रहा हूँ। उसमें हारने की कोई बात हो नहीं है। उस प्रयत्न में लेखक को, उसके श्रद्धाहीन मित्रों को, और दूसरे पाठकों को, मेरा साथ देने के लिये मैं निमंत्रण देता हूँ और चाहता हूँ कि लेखक की तरह वे मुझ से भी अधिक तीव्र वेग से आगे बढ़ें। जो पीछे पड़े हुए हों वे मुझ जैसों के दृष्टांत से आत्म-विश्वासी बनें। मुझे जो कुछ भी सफलता प्राप्त हो सकी है उसे मैं निर्बल होने पर भी, विकारवश होने पर भी—प्रयत्न करने से, श्रद्धा से, और ईश्वरकृपा से प्राप्त कर सका हूँ।

इस लिये किसी को भी निराश होने का कोई कारण नहीं है। मेरा महात्मापन मिथ्या उच्चार है। वह तो मुझे मेरी बाह्य प्रवृत्ति के—मेरे राजनैतिक कार्य के—कारण प्राप्त है। वह क्षणिक है। मेरे सत्य का, अहिंसा का, और ब्रह्मचर्य का आग्रह ही मेरा अविभाज्य और सब से अधिक मूल्यवान अंग है। उसमें मुझे जो कुछ ईश्वरदत्त प्राप्त हुआ है उसकी कोई भूल कर भी अवज्ञा न करें, उसमें मेरा सर्वस्व है। उसमें दिखाई देनेवाली निष्फलता सफलता की सीढ़ियाँ हैं। इस लिये निष्फलता भी मुझे प्रिय है।

७—ब्रह्मचर्य और जनन-मर्यादा

निहायत झिझक और अनिच्छा के साथ मैं इस विषय में कुछ लिखने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। जब से मैं भारतवर्ष को लौटा हूँ तभी से लोग कृत्रिम साधनों के द्वारा सन्तति की संख्या मर्यादित करने के प्रश्न पर मुझ से जिक्र कर रहे हैं। मैं खानगी तौर पर ही अब तक उनको जवाब देता रहा हूँ। आम तौर पर कभी मैंने उसकी चर्चा नहीं की। आज से कोई तीस साल पहले जब मैं इंग्लैंड में पढ़ता था तब इस विषय की ओर मेरा ध्यान गया था। उस समय वहाँ एक संयमवादी और एक डाक्टर के बीच बड़ा वाद-विवाद चल रहा था। संयमवादी कुदरती साधनों के सिवा किसी दूसरे साधनों के मानने के लिये तैयार न था और डाक्टर कृत्रिम साधनों का हामी था। उसी समय से मैं कुछ समय तक कृत्रिम साधनों की ओर प्रवृत्त होकर फिर उनका पक्का विरोधी हो गया। अब मैं देखता हूँ कि कुछ हिन्दी पत्रों में कृत्रिम साधनों का वर्णन बड़े क्रान्तिकारी ढंग से और खुले तौर पर किया गया है। जिसे देखकर सुरुचि को बड़ा आघात पहुँचता है। और मैं देखता हूँ कि एक लेखक ने तो मेरा भी नाम बेखटके जन्म-मर्यादा के लिये कृत्रिम साधनों का प्रयोग करने के हामियों में लिख मारा है। मुझे एक भी ऐसा मौका याद नहीं पड़ता जब कि मैंने कृत्रिम साधनों के उपयोग के पक्ष में कोई बात कही या लिखी हो। मैं देखता हूँ कि दो और प्रसिद्ध पुरुषों के नाम इस के समर्थकों में दिये गये हैं। बिना उनके मालिकों से पूछताछ किये मुझे उनका नाम प्रकट करने में संकोच होता है।

सन्तति के जन्म को मर्यादित करने की आवश्यकता के बारे में दो मत हो ही नहीं सकते। परन्तु इसका एक ही उपाय है, आत्मसंयम या ब्रह्मचर्य, जो कि युगों से हमें प्राप्त है। यह रामबाण और सर्वोपरि उपाय है और जो इसका सेवन करते हैं उन्हें लाभ ही लाभ होता है। डाक्टर लोगों का मानव जाति पर बड़ा उपकार होगा, यदि वे जन्ममर्यादा के लिये कृत्रिम साधनों की तजवीज करने की जगह आत्मसंयम के साधन निर्माण करें। स्त्री-पुरुष के मिलाप का हेतु आनन्द-भोग नहीं, बल्कि सन्तानोत्पत्ति है और जब कि सन्तानोत्पत्ति की इच्छा नहीं है तब संभोग करना बिलकुल अपराध है, गुनाह है।

कृत्रिम साधनों की सलाह देना मानो बुराई का हौसला बढ़ाना है। उससे पुरुष और स्त्री उच्छृंखल हो जाते हैं। और इन कृत्रिम साधनों को जो सभ्य रूप दिया जा रहा है उससे तो संयम के ह्रास की गति बढ़े बिना न रहेगी। कृत्रिम साधनों के अवलम्बन का कुफल होगा नपुंसकता और क्षीण-वीर्यता। यह दवा मर्ज से ज्यादा बदतर साबित हुए बिना न रहेगी। अपने कर्म के फल को भोगने से दुम दबाना दोष है, अनीतिपूर्ण है। जो शख्स ज़रूरत से ज़्यादा खा लेता है उसके लिये यह अच्छा है कि उसके पेट में दर्द हो और उसे लंघन करना पड़े। ज़बान को क़ाबू में न रखकर अनाप-शनाप खा लेना और फिर बलवर्द्धक या दूसरी दवाइयाँ खाकर उसके नतीजे से बचना बुरा है। पशु की तरह विषयभोग में गर्क रहकर फिर अपने इस कृत्य के फल से बचना और भी बुरा है। प्रकृति बड़ा कठोर शासक है। वह अपने क़ानून-भंग का पूरा बदला बिना आगापीछा देखे चुकाती है।

नैतिक संयम के द्वारा ही हमें नैतिक फल मिल सकता है। दूसरे तमाम प्रकार के संयम-साधन अपने हेतु के ही विनाशक सिद्ध होंगे। कृत्रिम साधनों के समर्थन के मूल में यह युक्ति या धारणा गर्भित रहती है कि भोग-विलास जीवन की एक आवश्यक चीज़ है। इससे बढ़ कर हेत्वाभास—ग़लत तर्क हो ही नहीं सकता।

अतएव जो लोग जन्म-मर्यादा के लिये उत्सुक हैं उन्हें चाहिए कि वे प्राचीन लोगों के बताये जायज़ उपायों का ही विचार करें, कि उन का जीर्णोद्धार किस तरह हो। उनके सामने बुनियादी काम का पहाड़ खड़ा हुआ है। बालविवाह लोकसंख्या की वृद्धि का एक बड़ा सफल कारण है। हमारी वर्तमान जीवनविधि भी बेरोक प्रजोत्पत्ति के दोष का बड़ा कारण है। यदि इन कारणों की छान-बीन करके उनको दूर करने का उपाय किया जाय तो नैतिक दृष्टि से समाज बहुत ऊंचा उठ जायगा। यदि हमारे इन जल्दबाज़ और अति उत्साही लोगों ने उनकी ओर ध्यान न दिया और यदि कृत्रिम साधनों का ही दौरदौरा चारों ओर छा गया तो सिवा नैतिक अधःपात के दूसरा कोई नतीजा न निकलेगा। जो समाज पहिले ही विविध कारणों से निःसत्व हो रहा है, इन कृत्रिमों साधनों के प्रयोग से और भी अधिक निःसत्व हो जायगा। इस लिये वे शख्स, जो कि हलके दिल से कृत्रिम साधनों का प्रचार करते हैं, वे नये सिरे से इस विषय का अध्ययन-मनन करें, अपनी हानिकर कार्रवाइयों से बाज़ आवें और क्या विवाहित और क्या अविवाहित दोनों में ब्रह्मचर्य की निष्ठा जाग्रत करें। जनन-मर्यादा का यही उच्च और सीधा तरीका है।

८—ब्रह्मचर्य और मनोवृत्तियाँ

एक अंग्रेज़ सज्जन लिखते हैं: 'यंग इंडिया'' में सन्तान-निग्रह पर आपने जो लेख लिखे हैं, उनको मैं बड़ी दिलचस्पी से पढ़ता रहा हूँ। मेरी उम्मीद है कि आपने जे० ऐ० हडफ़ील्ड की "साइकालोजी ऐंड मोरल्स" नामक पुस्तक पढ़ ली है। मैं आपका ध्यान उस पुस्तक के निम्न लिखित उद्धरण की ओर दिलाना चाहता हूँ:—

"विषयभोग स्वेच्छाचार उस हालत में कहलाता है जब कि यह प्रवृत्ति नीति की विरोधिनी मानी जाती हो और विषयभोग निर्दोष आनन्द तब माना जाता है जब कि इस प्रवृत्ति को प्रेम का चिन्ह माना जाय। विषय-वासना का इस प्रकार व्यक्त होना दाम्पत्य प्रेम को वस्तुतः गाढ़ा बनाता है, न कि उसे नष्ट करता है। लेकिन एक ओर तो मनमाना संभोग करने से और दूसरी ओर संभोग के विचार को तुच्छ सुख मानने के भ्रम में पड़कर उससे परहेज करने से अक्सर अशान्ति पैदा होती है और प्रेम कम पड़ जाता है।" यानी उनको समझ में संभोग करना सन्तानोत्पत्ति के कारणों के सिवा भी स्त्री से प्रेम बढ़ाने का धार्मिक गुण रखता है।

"अगर लेखक की बात सच है तो मुझे आश्चर्य है कि आप अपने इस सिद्धान्त का समर्थन किस प्रकार कर सकते हैं कि सन्तान पैदा करने की मंशा से किया हुआ संभोग ही उचित है—अन्यथा नहीं। मेरा तो,

निजी ख्याल यह है कि लेखक की उपरोक्त बात सच है; क्योंकि महज यही नहीं कि वह एक मानसशास्त्रवेत्ता हैं, बल्कि मुझे खुद ऐसे मामले मालूम हैं कि जिसमें प्रेम को व्यवहार के द्वारा व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा को रोकने की कोशिश करने से दाम्पत्य जीवन नीरस या नष्ट होगया है।

"अच्छा इसे लीजिये—एक युवक और एक युवती एक दूसरे के साथ प्रेम करते हैं और उनका यह करना सुन्दर तथा ईश्वरकृत व्यवस्था का एक अंग है। परन्तु उनके पास अपने बच्चे को तालीम देने के लिए काफी पैसा नहीं है (और मैं समझता हूं कि आप इससे सहमत हैं कि तालीम वग़ैरह की हैसियत न रखते हुए संतान पैदा करना पाप है) या यह समझ लीजिये कि सन्तान पैदा करना स्त्री की तन्दुरुस्ती के लिये हानिकारक होगा या यह कि उसके अभी ही बहुत से बच्चे हैं।

"आपके कथनानुसार तो इस दम्पति के सामने दो ही रास्ते हैं—या तो वे विवाह करके अलग अलग रहें—लेकिन अगर ऐसा होगा तो हडफील्ड की उपरोक्त दलील के मुआफिक उनके बीच मुहब्बत का खात्मा हो चलेगा—या वे अविवाहित रहें, लेकिन इस सूरत में भी उनकी मुहब्बत जाती रहेगी। इसका कारण यह है कि प्रकृति बल के साथ मनुष्यकृत योजनाओं की अवहेलना किया करती है। हाँ, यह बेशक हो सकता है कि वे एक दूसरे से जुदा हो जावें, लेकिन इस अलाहदगी में भी उनके मन में विकार तो उठते ही रहेंगे। और अगर सामाजिक व्यवस्था ऐसी बदल दें कि सब लोगों के लिए उतने ही बच्चे पैदा करना मुमकिन हो जितने कि वे चाहें, तो भी समाज को अतिशय सन्तानोत्पत्ति का, हर एक औरत को हद से ज़्यादा सन्तान उत्पन्न करने का,

ख़तरा तो बना ही रहता है। इसकी वजह यह है कि मर्द अपने को बहुत ज़्यादा रोके रहते हुए भी साल में एक बच्चा तो पैदा कर ही लेगा। आपको या तो ब्रह्मचर्य का समर्थन करना चाहिये या सन्तान निग्रह का; क्योंकि वक़्तन् फवक्तन किये हुए सम्भोग का नतीजा यह हो सकता है कि (जैसा कभी कभी पादरियों में हुआ करता है) औरत, ईश्वर की मरज़ी के नाम पर, मर्द के द्वारा पैदा किया हुआ हर साल एक बच्चा जनन करने की वजह से मर जाय। जिसे आप आत्मसंयम कहते हैं वह प्रकृति के काम में उतना ही विरोधी है—बल्कि हकीकतन ज़्यादा जितना कि गर्भाधान को रोकने के कृत्रिम साधन हैं। सम्भव है कि पुरुष लोग इन साधनों की मदद से विषय-भोग में ज़्यादती करें; परन्तु उससे सन्तति की पैदाइश रुक जायगी और अन्त में उन्हीं को दुःख भोगना होगा—अन्य किसी को नहीं। इसके विपरीत, जो लोग इन साधनों का उपयोग नहीं करते, वे भी ज़्यादती के दोष से कदापि मुक्त नहीं हैं, और उनके दोष को वे ही नहीं, सन्तति भी—जिनकी पैदाइश को वे नहीं रोक सकते हैं, भोगते हैं। इंग्लैंड में आजकल खानों के मालिकों और मज़दूरों के बीच जो झगड़ा चल रहा है, उसमें खानों के मालिकों की विजय सम्भवित है। इसका कारण यह है कि सन्तान वाले बहुत बड़ी तादाद में हैं। सन्तानोत्पत्ति की निरंकुशता से बेचारे बच्चों का ही बिगाड़ नहीं होता; बल्कि समस्त मानव जाति का।

इस पत्र में मनोवृत्तियों तथा उनके प्रभाव का ख़ासा परिचय मिलता है। जब मनुष्य का दिमाग़ रस्सी को साँप समझ लेता है, तब उस विचार को लिये हुए वह घबरा जाता है, या तो वह भागता है या उस कल्पित साँप को मार डालने की गरज से लाठी उठाता है। दूसरा

आदमी किसी गैर स्त्री को अपनी पत्नी मान बैठता है और उसके मन में पशु-वृत्ति उत्पन्न होने लगती है। जिस क्षण वह अपनी यह भूल जान लेता है, उसी क्षण उसका वह विकार ठंडा पड़ जाता है।

इसी तरह से उपरोक्त मामले में, जिसका कि पत्रलेखक ने जिक्र किया है, माना जाय। "जैसा कि संभोग की इच्छा को तुच्छ मानने के भ्रम में पड़कर उससे परहेज करने से प्रायः अशान्तपन उत्पन्न होता है; और प्रेम में कमी आ जाती है" यह एक मनोवृत्ति का प्रभाव हुआ। लेकिन अगर संयम प्रेमबंधन को अधिक दृढ़ बनाने के लिए रक्खा जाय, प्रेम को शुद्ध बनाने के लिए तथा एक अधिक अच्छे काम के लिये वीर्य को जमा करने के अभिप्राय से किया जाय, तो वह अशान्तपन के स्थान पर शान्ति ही बढ़ावेगा और प्रेमगांठ को ढीला न करके उलटे उसे मज़बूत बनावेगा। यह दूसरी मनोवृत्ति का प्रभाव हुआ। जो प्रेम पशुवृत्ति की तृप्ति पर आधारित है, वह आखिर स्वार्थपन ही है और थोड़े से भी दबाव से वह ठंडा पड़ सकता है। फिर, यदि पशु-पक्षियों की संभोगतृप्ति को आध्यात्मिक स्वरूप न दिया जाय तो मनुष्यों में होने वाली संभोग-तृप्ति को आध्यात्मिक स्वरूप क्यों दिया जाय? हम जो चीज जैसी है वैसी ही उसे क्यों न देखें? प्रति जाति को कायम रखने के लिए यह एक ऐसी क्रिया है जिसकी ओर हम ज़बरदस्ती खींचे जाते हैं। हां, लेकिन मनुष्य अपवाद स्वरूप है, क्योंकि वही एक ऐसा प्राणी है जिसको ईश्वर ने मर्यादित स्वतंत्र इच्छा दी है और इसके बल से वह जाति की उन्नति के लिये, और पशुओं की अपेक्षा उच्चतर आदर्श की पूर्ति के लिये, जिसके लिये वह संसार में आया है, इन्द्रियभोग न करने की क्षमता रखता है। संस्कारवश ही हम यों मानते हैं कि सन्तानोत्पत्ति के

कारण के सिवाय भी स्त्रीप्रसंग आवश्यक और प्रेम की वृद्धि के लिये इष्ट है। बहुतों का अनुभव यह है कि भोग ही के कारण किया हुआ स्त्रीप्रसंग प्रेम को न तो बढ़ाता है और न उसको स्थिर करने के लिये या उसको शुद्ध करने के लिये आवश्यक है। अलबत्ता ऐसे भी उदाहरण बहुत दिये जा सकते हैं कि जिनमें निग्रह से प्रेम और भी दृढ़ होगया है। हाँ, इसमें कोई शक नहीं कि वह निग्रह पति और पत्नी के बीच आपस में आत्मिक उन्नति के लिये स्वेच्छा से किया जाना चाहिए। मानवसमाज तो लगातार बढ़ती जानेवाली चीज़ या आध्यात्मिक विकास है। यदि मानव समाज इस तरह उन्नतिशील है, तो उसका आधार शारीरिक वासनाओं पर दिन-ब-दिन ज्यादा अंकुश रखने पर निर्भर होना चाहिए। इस प्रकार से विवाह को तो एक ऐसी धर्मग्रंथि समझनी चाहिए जो कि पति और पत्नी दोनों पर अनुशासन करे और उन पर यह कैद लाज़िमी कर दे कि वे सदा अपने ही बीच में इन्द्रियभोग करेंगे, सो भी केवल संतति—जनन की गरज से-और उसी हालत में जब कि वे दोनों उस काम के लिये तैयार और इच्छुक हों। तब तो उक्त पत्र की दोनों बातों में संतति-जनन की इच्छा को छोड़कर इन्द्रियभोग का और कोई प्रश्न उठता ही नहीं है।

जिस प्रकार उक्त लेखक सन्तानोत्पत्ति के अलावा भी स्त्रीसंग को आवश्यक बतलाता है, उसी प्रकार अगर हम भी प्रारम्भ करें, तो तर्क के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता है। परन्तु संसार के हर एक हिस्से में चन्द उत्तम पुरुषों के सम्पूर्ण संयम के दृष्टान्तों की मौजूदगी में उक्त सिद्धान्त को कोई जगह नहीं है। यह कहना कि ऐसा संयम

अधिकांश मानव-समाज के लिए कठिन है, संयम की शक्यता और इष्टता के विरुद्ध कोई दलील नहीं हो सकती। सौ वर्ष हुए जो मनुष्य के लिए शक्य न था, वह आज शक्य पाया गया है। और असीम उन्नति करने के निमित्त काल के चक्र में, जो हमारे सामने पड़ा है, सौ वर्ष की बिसात ही क्या! अगर वैज्ञानिकों का अनुमान सत्य है तो कल ही तो हमें आदमी का चोला मिला है। उसकी मर्यादा को कौन जानता है? और किस में हिम्मत है कि कोई उसकी मर्यादा को स्थिर कर सके! निस्सन्देह हम नित्य ही भला या बुरा करने की निस्सीम शक्ति उसमें पाते हैं। अगर संयम की शक्यता और इष्टता मान ली जाय, तो हमको उसे करने योग्य साधनों को ढूंढ निकालने की कोशिश करनी चाहिए और जैसा कि मैं अपने किसी पिछले लेख में लिख चुका हूँ, अगर हम संयम से रहना चाहते हों तो हमें जीवनक्रम बदलना आवश्यक है। लड्डू हाथ में रहे और पेट में भी चला जाय—यह कैसे हो सकता है? जननेन्द्रिय-संयम अगर हम करना चाहते हैं तो हमको अन्य इन्द्रियों का संयम भी करना होगा। अगर हाथ-पैर, नाक, कान, आँख इत्यादि की लगाम ढीली कर दी जाय तो जननेन्द्रिय-संयम असम्भव है। अशान्ति, हिस्टीरिया, सिड़ीपन भी, जिसके लिए लोग ब्रह्मचर्य को दूषित ठहराते हैं, हकीकतन अन्त में अन्य इन्द्रियों के असंयम से पैदा हुए ही निकलेंगे। कोई भी पाप, और प्राकृतिक नियमों का कोई भी उल्लंघन, बिना दंड पाये बच नहीं सकता। मैं शब्दों पर झगड़ना नहीं चाहता। अगर आत्मसंयम प्रकृति का उल्लंघन ठीक इसी तरह है, जिस तरह कि गर्भाधान को रोकने के कृत्रिम उपाय हैं, तो भले ऐसा कहा जाय। लेकिन मेरा ख्याल तब भी यही बना रहेगा कि पहला

उल्लंघन कर्तव्य है और इष्ट है; क्योंकि उसमें व्यक्ति की तथा समाज की उन्नति होती है और इसके विपरीत दूसरे से उन दोनों का पतन। ब्रह्मचर्य, अतिशय संतति-संख्या नियमित करने के लिए, एक ही सच्चा रास्ता है। और स्त्री-प्रसंग के बाद संतति-वृद्धि रोकने के कृत्रिम साधनों का परिणाम जातिहत्या ही है।

अन्त में यदि खानों के मालिक गलत रास्ते पर होते हुए भी विजयी होंगे, तो इसलिए नहीं कि मजदूरों से उनकी संतति की संख्या बहुत बढ़ गई है, बल्कि इसलिये कि मजदूर लोगों ने सर्व इन्द्रियों के संयम का पाठ नहीं सीखा है। इन लोगों के बच्चे न पैदा होते तो उनको तरक्की के लिए उत्साह ही न होता। क्या उन्हें शराब पीने, जुआ खेलने, या तमाखू पीने की जरूरत है? और क्या यह कोई माकूल जवाब हो जायगा कि खदानों के मालिक इन्हीं दोषों से लिप्त रहते हुए भी उनके ऊपर हावी हैं? अगर मजदूर लोग पूंजीपतियों से बेहतर होने का दावा नहीं करते तो उनको जगत की सहानुभूति मांगने का अधिकार ही क्या है। क्या इस लिये कि पूंजीपतियों की संख्या बढ़े और सम्पत्तिवाद का हाथ मजबूत हो? हमको प्रजावाद की दुहाई देने को यह आशा देकर कहा जाता है कि जब यह संसार में स्थापित होगा, तब हमको अच्छे दिन देखने को मिलेंगे। इसलिए हमें लाजिम है कि हम उन्हीं बुराइयों को स्वयं न करें जिनका दोषारोपण हम पूंजीपतियों और सम्पत्तिवाद पर करना पसन्द करते हैं। मुझे दुःख के साथ यह बात मालूम है कि आत्मसंयम आसानी से नहीं किया जा सकता। लेकिन उसकी धीमी गति से हमें घबराना न चाहिए। जल्दबाजी से कुछ हासिल नहीं होता। अधैर्य से जनसाधारण में या मजदूरों में अत्यधिक सन्तानोत्पत्ति की

बुराई बन्द न हो जायगी। मजदूरों के सेवकों के सामने बड़ा भारी काम पड़ा है। उनको संयम का वह पाठ अपने जीवनक्रम से निकाल न देना चाहिए जो कि मानव जाति के अच्छे से अच्छे शिक्षकों ने अपने अमूल्य अनुभव से हमको पढ़ाया है।

जिन मौलिक सिद्धांतों की विरासत उन्होंने हमें दी है, आधुनिक प्रयोगशालाओं से कहीं अधिक संपन्न प्रयोगशाला में उनका साक्षात्कार किया गया था। आत्म-संयम की शिक्षा उन सबों ने हमें दी है।

९—अप्राकृतिक व्यभिचार

कुछ साल पहले विहार-सरकार ने अपने शिक्षा-विभाग में पाठशालाओं में होनेवाले अप्राकृतिक व्यभिचार के सम्बन्ध में जाँच करवाई थी। जाँच-समिति ने इस बुराई को शिक्षकों तक में पाया था, जो अपनी अस्वाभाविक वासना की तृप्ति के कारण विद्यार्थियों के प्रति अपने पद का दुरुपयोग करते हैं। शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर ने एक सरक्यूलर-द्वारा शिक्षकों में पाई जानेवाली ऐसी बुराई के प्रतिकार करने का हुक्म निकाला था। सरक्यूलर का जो परिणाम हुआ होगा—अगर कोई हुआ हो—वह अवश्य ही जानने लायक होगा।

मेरे पास इस सम्बन्ध में भिन्न प्रान्तों से साहित्य भी आया है, जिसमें इस, और ऐसी ही अन्य बुराइयों की तरफ मेरा ध्यान खींचा गया है और कहा गया है कि यह प्रायः भारत भर के तमाम सार्वजनिक और प्राइवेट मदरसों में फैल गया है और बराबर बढ़ रहा है।

यह बुराई यद्यपि अस्वाभाविक है, तथापि इसकी विरासत हम अनन्तकाल से भोगते आ रहे हैं। तमाम छुपी बुराइयों का इलाज ढूँढ़ निकालना एक कठिन काम है। यह और भी कठिन बन जाता है, जब इसका असर बालकों के संरक्षक पर भी पड़ता है—और शिक्षक बालकों के संरक्षक हैं ही। प्रश्न होता है कि अगर प्राणदाता ही प्राणहारक हो जाय तो फिर प्राण कैसे बचें? मेरी राय में जो बुराइयाँ प्रकट हो चुकती हैं, उनके सम्बन्ध में विभाग की ओर से बाजाब्ता कार्रवाई करना ही इस बुराई के प्रतिकार के लिए काफ़ी न होगा।

सर्वसाधारण के मत को इस सम्बन्ध में सुसंगठित और संस्कृत बनाना इसका एक मात्र उपाय है। लेकिन इस देश के कई मामलों में प्रभावशाली लोकमत जैसी कोई बात है ही नहीं। राजनैतिक जीवन में असहाय अवस्था या वेबसी की जिस भावना का एकछत्र राज्य है, उसने देश के जीवन के सब क्षेत्रों पर अपना असर डाल रक्खा है। अतएव जो बुराइयां हमारी आँखों के समाने होती रहती हैं उन्हें भी हम टाल जाते हैं।

जो शिक्षा प्रणाली साहित्यिक योग्यता पर ही एकान्त जोर देती है, वह इस बुराई को रोकने के लिए अनुपयोगी ही नहीं है, बल्कि उससे उलटे बुराई को उत्तेजना ही मिलती है। जो बालक सार्वजनिक शालाओं में दाखिल होने से पहले निर्दोष थे, शाला के पाठ्यक्रम के समाप्त होते होते वे ही दूषित, स्त्रैण, और नामर्द बनते देखे गये हैं। विहार-समिति ने 'बालकों के मन पर धार्मिक प्रतिष्ठा के संस्कार जमाने' की सिफारिश की है। लेकिन बिल्ली के गले में घंटी कौन बाँधे? अकेले शिक्षक ही धर्म के प्रति आदर-भावना पैदा कर सकते हैं। लेकिन वे स्वयं इससे शून्य हैं। अतएव प्रश्न शिक्षकों के योग्य चुनाव का प्रतीत होता है। मगर शिक्षकों के योग्य चुनाव का अर्थ होता है, या तो अब से कहीं अधिक वेतन या फिर शिक्षा के ध्येय का कायापलट—याने शिक्षा को पवित्र कर्तव्य मानकर शिक्षकों का उसके प्रति जीवन अर्पण कर देना। रोमन कैथोलिकों में यह प्रथा आज भी विद्यमान है। पहला उपाय तो हमारे जैसे गरीब देश के लिए स्पष्ट ही असम्भव है। मेरे विचार में हमारे लिए दूसरा मार्ग ही सुलभ है। लेकिन वह भी इस शासन-प्रणाली के अधीन रहकर सम्भव नहीं

जिसमें हर एक चीज़ की क़ीमत आंकी जाती है और जो दुनियाँ भर में ज्यादा से ज्यादा होती है।

अपने बालकों की नैतिक सुधारणा के प्रति माता-पिताओं की लापरवाही के कारण इस बुराई को रोकना और भी कठिन हो जाता है। वे तो बच्चों को स्कूल भेजकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। इस तरह हमारे सामने का काम बहुत ही विषादपूर्ण है। लेकिन यह सोचकर आशा भी होती है कि तमाम बुराइयों का एक रामबाण उपाय है, और वह है—आत्मशुद्धि। बुराई की प्रचंडता से घबरा जाने के बदले हममें से हर एक को पूरे पूरे प्रयत्नपूर्वक अपने आसपास के वातावरण का सूक्ष्म निरीक्षण करते रहना चाहिए और अपने आप को ऐसे निरीक्षण का प्रथम और मुख्य केन्द्र बनाना चाहिए। हमें यह सोचकर संतोष नहीं कर लेना चाहिए कि हममें दूसरों की सी बुराई नहीं है। अस्वाभाविक दुराचार कोई स्वतंत्र अस्तित्व की चीज़ नहीं है। यह तो एक ही रोग का भयंकर लक्षण है। अगर हम में अपवित्रता भरी है, अगर हम विषय की दृष्टि से पतित हैं, तो पहले हमें आत्मसुधार करना चाहिए और फिर पड़ोसियों के सुधार की आशा रखनी चाहिए। आज-कल तो हम दूसरों के दोषों के निरीक्षण में बहुत पटु हो गये हैं और अपने आप को अत्यंत निर्दोष समझते हैं। परिणाम दुराचार का प्रसार होता है। जो इस बात के सत्य को महसूस करते हैं, वे इससे छूटें और उन्हें पता चलेगा कि यद्यपि सुधार और उन्नति कभी आसान नहीं होते, तथापि वे बहुत कुछ सम्भवनीय हैं।

१०—ब्रह्मचर्य का रक्षक भगवान्

एक सज्जन पूछते हैं—"आपने एक बार काठियावाड़ की यात्रा में किसी जगह कहा था कि मैं जो तीन बहनों से बच गया सो केवल ईश्वर-नाम के भरोसे। इस सिलसिले में 'सौराष्ट्र' ने कुछ ऐसी बातें लिखी हैं जो समझ में नहीं आती। ऐसा कुछ लिखा है कि आप मानसिक पापवृत्ति से न बच पाये। इसका अधिक खुलासा करेंगे तो कृपा होगी।"

पत्र-लेखक से मेरा परिचय नहीं है। जब मैं बम्बई से रवाना हुआ तब उन्होंने यह पत्र अपने भाई के हाथ मुझे पहुँचाया। यह उनकी तीव्र जिज्ञासा का सूचक है। ऐसे प्रश्नों की चर्चा सर्व-साधारण के सामने आम तौर पर नहीं की जा सकती। यदि सर्व-साधारण जन मनुष्य के खानगी जीवन में गहरे पैठने का रिवाज डालें तो स्पष्ट बात है कि उसका फल बुरा आये बिना न रहे।

पर इस उचित या अनुचित जिज्ञासा से मैं नहीं बच सकता। मुझे बचने का अधिकार नहीं। इच्छा भी नहीं। मेरा खानगी जीवन सार्वजनिक हो गया है। दुनियां में मेरे लिये एक भी बात ऐसी नहीं है जिसे मैं खानगी रख सकूं। मेरे प्रयोग आध्यात्मिक हैं। कितने ही नये हैं। उन प्रयोगों का आधार आत्म-निरीक्षण पर बहुत है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' इस सूत्र के अनुसार मैंने प्रयोग किये हैं। इसमें ऐसी धारणा समाविष्ट है कि जो बात मेरे विषय में सम्भवनीय है वही

औरों के विषय में भी होगी। इसलिये मुझे कितने ही गुह्य प्रश्नों के भी उत्तर देने की ज़रूरत पड़ जाती है।

फिर पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए राम नाम की महिमा बताने का भी अवसर मुझे अनायास मिलता है। उसे मैं कैसे खो सकता हूँ?

तो अब सुनिये, किस तरह मैं तीनों प्रसंगों पर ईश्वरकृपा से बच गया। तीनों प्रसंग वार-वधुओं से सम्बन्ध रखते हैं। दो के पास भिन्न भिन्न अवसर पर मुझे मित्र लोग ले गये थे। पहले अवसर पर मैं झूठी शरम का मारा वहां जा फँसा और यदि ईश्वर ने न बचाया होता तो ज़रूर मेरा पतन हो जाता। इस मौके पर जिस घर में मैं ले जाया गया था, वहां उस स्त्री ने ही मेरा तिरस्कार किया। मैं यह बिलकुल नहीं जानता कि ऐसे अवसरों पर किस तरह क्या बोलना चाहिये, किस तरह बरतना चाहिये। इसके पहले ऐसी स्त्रियों के पास तक बैठने में मैं लांछन मानता था। इससे इस घर में दाखिल होते समय भी मेरा हृदय कांप रहा था। मकान में जाने के बाद उसके चेहरे की तरफ भी मैं न देख सका। मुझे पता नहीं, उसका चेहरा था भी कैसा! ऐसे मूढ़ को वह चपला क्यों न निकाल बाहर करती? उसने मुझे दो-चार बातें सुनाकर रवाना कर दिया। उस समय तो मैंने यह न समझा कि ईश्वर ने बचाया। मैं तो खिन्न होकर उल्टे पाँव वहाँ से लौटा। मैं शरमिन्दा हुआ और अपनी मूढ़ता पर मुझे दुःख भी हुआ। मुझे आभास हुआ मानों मुझमें कुछ राम नहीं है। पीछे मैंने जाना कि मेरी मूढ़ता ही मेरी ढाल थी। ईश्वर ने मुझे बेवकूफ़ बनाकर

उबार लिया। नहीं तो मैं, जो कि बुरा काम करने के लिये गंदे घर में घुसा, कैसे बच सकता था ?

दूसरा प्रसंग इससे भी भयंकर था। यहाँ मेरी बुद्धि पहले अवसर की तरह निर्दोष न थी। हालांकि सावधान ज्यादा था। फिर मेरी पूजनीया माताजी को दिलाई प्रतिज्ञा-रूपी ढाल भी मेरे पास थी। पर इस अवसर पर प्रदेश था बिलायत। मैं भरजवानी में था। दो मित्र एक घर में रहते थे। थोड़े ही दिन के लिये उस गांव में गये थे। मकान-मालकिन आधी वेश्या जैसी थी। उसके साथ हम दोनों ताश खेलने लगे। उन दिनों मैं समय मिल जाने पर ताश खेला करता था। बिलायत में मां-बेटा भी निर्दोष भाव से ताश खेल सकते हैं, खेलते हैं। उस समय भी हमने ताश का खेल रिवाज के अनुसार अंगीकार किया। आरम्भ तो बिलकुल निर्दोष था। मुझे तो पता भी न था कि मकान-मालकिन अपना शरीर बेंचकर आजीविका प्राप्त करती है। पर ज्यों ज्यों खेल जमने लगा त्यों त्यों रंग भी बदलने लगा। उस बाई ने विषय-चेष्टा शुरू की। मैं अपने मित्र को देख रहा था। उन्होंने मर्यादा छोड़ दी थी। मैं ललचाया। मेरा चहरा तमतमाया। उसमें व्यभिचार का भाव भर गया था। मैं अधीर हो रहा था।

पर जिसे राम रखता है उसे कौन गिरा सकता है ? राम उस समय मेरे मुख में तो न था; पर वह मेरे हृदय का स्वामी था। मेरे मुख में तो विषयोत्तेजक भाषा थी। इन सज्जन मित्र ने मेरा रंग-ढंग देखा। हम एक दूसरे से अच्छी तरह परिचित थे। उन्हें ऐसे कठिन प्रसंगों की स्मृति थी जब कि मैं अपने ही इरादे से पवित्र रह सका था। पर इस मित्र ने देखा कि इस समय मेरी बुद्धि बिगड़ गयी है। उन्होंने देखा कि

यदि इस रंगत में रात ज्यादा जायगी तो उनकी तरह मैं भी पतित हुए बिना न रहूँगा।

विषयी मनुष्यों में भी सु-वासनाएं होती हैं। इस बात का परिचय मुझे इस मित्र के द्वारा पहले-पहल मिला। मेरी दीन दशा देखकर उन्हें दुःख हुआ। मैं उनसे उम्र में छोटा था। उनके द्वारा राम ने मेरी सहायता की। उन्होंने प्रेमबाण छोड़े—"मोनिया! (यह मोहनदास का दुलार का नाम है। मेरे माता, पिता, तथा हमारे कुटुम्ब के सबसे बड़े चचेरे भाई, मुझे इसी नाम से पुकारते थे। इस नाम के पुकारने वाले चौथे ये मित्र मेरे धर्मभाई साबित हुए) मोनिया, होशियार रहना! मैं तो गिर चुका हूँ, तुम जानते ही हो। पर तुम्हें न गिरने दूंगा। अपनी मां के पास की प्रतिज्ञा याद करो। यह काम तुम्हारा नहीं। भागो यहां से, जाओ अपने बिछौने पर। हटो, ताश रख दो!"

मैंने कुछ जवाब दिया या नहीं, याद नहीं पड़ता। मैंने ताश रख दिये। जरा दुःख हुआ। लज्जित हुआ। छाती धड़कने लगी। उठ खड़ा हुआ। अपना बिस्तर सँभाला।

मैं जगा। राम नाम शुरू हुआ। मन में कहने लगा, कौन बचा, किसने बचाया, धन्य प्रतिज्ञा! धन्य माता! धन्य मित्र! धन्य राम! मेरे लिये तो यह चमत्कार ही था। यदि मेरे मित्र ने मुझ पर रामबाण न चलाये होते तो मैं आज कहां होता!

राम-बाण वाग्यां रे होय ते जाणे
प्रेम-बाण वाग्यां रे होय ते जाणे

मेरे लिये तो यह अवसर ईश्वर-साक्षात्कार था।

अब यदि मुझे संसार कहे कि ईश्वर नहीं, राम नहीं, तो मैं उसे झूठा कहूँगा। यदि उस भयंकर रात को मेरा पतन हो गया होता तो आज मैं सत्याग्रह की लड़ाइयां न लड़ा होता, तो मैं अस्पृश्यता के मैल को न धोता होता, मैं चरखे की पवित्र ध्वनि न उच्चार करता होता, तो आज मैं अपने को करोड़ों स्त्रियों के दर्शन करके पावन होने का अधिकारी न मानता होता, तो मेरे आसपास—जैसे किसी बालक के आसपास हों—लाखों स्त्रियां आज निःशंक होकर न बैठती होतीं। मैं उनसे दूर भागता होता और वे भी मुझसे दूर रहतीं और यह उचित भी था। अपनी जिन्दगी का सब से अधिक भयंकर समय मैं इस प्रसंग को मानता हूँ। स्वच्छन्दता का प्रयोग करते हुए मैंने संयम सीखा। राम को भूल जाते हुए मुझे राम के दर्शन हुए। अहो !

रघुबीर तुमको मेरी लाज

हौं तो पतित पुरातन कहिए

पार उतारो जहाज

तीसरा प्रसंग हास्यजनक है। एक यात्रा में जहाज के कप्तान के साथ मेरा मेल-जोल हो गया। एक अंग्रेज़ यात्री के साथ भी। जहां जहां जहाज़ बन्दर करता वहां कप्तान और कितने ही यात्री वेश्याघर तलाश करते। कप्तान ने अपने साथ मुझे बन्दर देखने चलने का न्यौता दिया। मैं उसका अर्थ नहीं समझता था। हम एक वेश्या के घर के सामने आकर खड़े हो गये। तब मैंने समझा कि बन्दर देखने जाने का अर्थ क्या है। तीन स्त्रियाँ हमारे सामने खड़ी की गयीं। मैं तो स्तम्भित हो गया। शर्म के मारे न कुछ बोल सका, न भाग सका। मुझे विषयेच्छा तो जरा भी न थी। वे दो

तो कमरे में दाखिल हो गये। तीसरी बाई मुझे अपने कमरे में ले गयी। मैं विचार ही कर रहा था कि क्या करूं—इतने में दोनों बाहर आये। मैं नहीं कह सकता, उस औरत ने मेरे सम्बन्ध में क्या ख्याल किया होगा। वह मेरे सामने हँस रही थी। मेरे दिल पर उसका कुछ असर न हुआ। हम दोनों की भाषा भिन्न थी। सो मेरे बोलने का काम तो वहाँ था ही नहीं। उन मित्रों ने मुझे पुकारा तो मैं बाहर निकल आया। कुछ शरमाया तो ज़रूर। उन्होंने अब मुझे ऐसी बातों में बेवकूफ़ समझ लिया। उन्होंने अपने आपस में मेरी दिल्लगी भी उड़ाई। मुझ पर रहम तो ज़रूर खाया। उस दिन से मैं कसान के नजदीक दुनियाँ के बुद्धुओं में शामिल हुआ। फिर उसने मुझे बन्दर देखने का न्यौता न दिया। यदि मैं अधिक समय वहाँ रहता, अथवा उस बाई की भाषा मैं जानता होता तो मैं नहीं कह सकता, मेरी क्या हालत होती। पर इतना तो मैं जान सका कि उस दिन भी मैं अपने पुरुषार्थ के बल न बचा था—बल्कि ईश्वर ने ही मुझे ऐसी बातों में मूढ़ रखकर बचाया।

उस भाषण के समय मुझे तीन ही प्रसंग याद आये थे। पाठक यह न समझें कि और प्रसंग मुझ पर न बीते थे;—मैं यह तो ज़रूर कहना चाहता हूँ कि हर अवसर पर मैं राम-नाम के बल पर बचा हूँ। ईश्वर खाली हाथ आनेवाले निर्बल को ही बल देता है

जब लग गज बल अपनो बरत्यो
नेक सरयो नहिं काम
निर्बल होय बल राम पुकारयो
आये आधे नाम

तब यह रामनाम है क्या चीज़ ? क्या तोते की तरह रटना ? र्गिज़ नहीं । यदि ऐसा हो तो हम सब का बेड़ा रामनाम रटकर र हो जाय । रामनाम उचारण तो हृदय से ही होना चाहिये । फिर सका उचारण शुद्ध न हो तो हर्ज नहीं । हृदय की तोतली बोली श्वर के दरबार में कबूल होती है । हृदय भले हो 'मरा मरा' पुकारता है—फिर भी हृदय से निकली पुकार जमा के सीगे में जमा होगी । र यदि मुख रामनाम का शुद्ध उच्चारण करता होगा, और हृदय का गमी होगा रावण, तो वह शुद्ध उचार भी नाम के सीगे में र्ज न होगा ।

'मुख में राम बगल में छुरी वाले' बगला भगत के लिये राम-म-महिमा तुलसीदास ने नहीं गाई । उनके सीधे पासे भी उलटे ड़ेंगे । 'बिगरी' का सुधारनेवाला राम ही है और इसी से भक्त रदास ने गाया :—

बिगरी कौन सुधारे,
राम बिन बिगरी कौन सुधारे रे ।
बनी बनी के सब कोई साथी ।
बिगरी के नहिं कोई रे ।

इस लिये पाठक खूब समझ लें कि राम नाम हृदय का बोल है । हाँ वाचा और मन में एकता नहीं, वहाँ वाचा केवल मिथ्यात्व है म्भ है, शब्दजाल है । ऐसे उचारण से चाहे संसार भले धोखा खा ाय; पर अन्तर्यामी राम कहाँ खा सकता है ? सीता की दी हुई माला े मनके हनुमान ने फोड़ डाले; क्योंकि वे देखना चाहते थे कि अन्दर ाम नाम है या नहीं ? अपने को समझदार समझनेवाले सुभटों

ने उनसे पूछा—सीताजी की माला का ऐसा अनादार ?' हनुमान ने जवाब दिया, 'यदि उसके अन्दर राम-नाम न होगा तो यह, सीता जी का दिया होने पर भी, यह हार मेरे लिये भार-भूत होगा। तब उन समझदार सुभटों ने मुँह बनाकर पूछा—'तो क्या तुम्हारे भीतर राम नाम है'? हनुमान ने छुरी से तुरन्त अपना हृदय चीरकर दिखाया और कहा—'देखो अन्दर राम नाम के सिवा और कुछ हो तो कहना।' सुभट लज्जित हुए। हनुमान पर पुष्पवृष्टि हुई और उस दिन से रामकथा के समय हनुमान का आवाहन आरम्भ हुआ।

हो सकता है यह कथा काव्य या नाटककार की रचना हो; परन्तु उसका सार अनन्त काल के लिये सच्चा है। जो हृदय में है वही सच है।

११–ब्रह्मचर्य के प्रयोग

अब ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में विचार करने का समय आया है। एक-पत्नीव्रत ने तो विवाह के समय से ही मेरे हृदय में स्थान कर लिया था। पत्नी के प्रति मेरी वफ़ादारी मेरे सत्यव्रत का एक अंग था। परन्तु अपनी पत्नी के साथ भी ब्रह्मचर्य का पालन करने की आवश्यकता मुझे दक्षिण अफ्रीका में ही स्पष्ट रूप से दिखाई दी। किस प्रसंग से अथवा किस पुस्तक के प्रभाव से यह विचार मेरे मन में पैदा हुआ, यह इस समय ठीक ठीक याद नहीं पड़ता। पर इतना स्मरण होता है कि इसमें रामचन्द्र भाई का प्रभाव प्रधान रूप से काम कर रहा था।

उनके साथ हुआ एक संवाद मुझे याद है। एक बार मैं मि० ग्लैडस्टन के प्रति मिसेज़ ग्लैडस्टन के प्रेम की स्तुति कर रहा था। मैंने पढ़ा था कि हाउस 'आफ़ कामन्स की बैठक में भी मिसेज़ ग्लेडस्टन अपने पति को चाय बनाकर पिलाती थीं। यह बात उस नियमनिष्ठ दम्पति के जीवन का एक नियम ही बन गया था। मैंने यह प्रसंग कवि जी को पढ़ सुनाया और उसके सिलसिले में दम्पति-प्रेम की स्तुति की। रामचन्द्र भाई बोले—'इसमें आपको कौनसी बात महत्व की मालूम होती है—मिसेज़ ग्लैडस्टन का पत्नीपन या सेवाभाव? यदि वे ग्लेडस्टन की बहन होतीं तो? अथवा उनकी वफ़ादार नौकर होतीं और फिर भी उसी प्रेम से चाय पिलातीं तो? ऐसी बहनों, ऐसी नौकरानियों के उदाहरण आज हमें न मिलेंगे? और नारी जाति के

बदले ऐसा प्रेम यदि नर-जाति में देखा होता तो आपको सानन्दाश्चर्य न होता ? इस बात पर विचार कीजियेगा।'

रामचन्द्र भाई स्वयं विवाहित थे। उस समय तो उनकी यह बात मुझे कठोर मालूम हुई—ऐसा स्मरण होता है; परन्तु इन वचनों ने मुझे लोह-चुम्बक की तरह जकड़ लिया। पुरुष नौकर की ऐसी स्वामि-भक्ति की क़ीमत पत्नी की स्वामिनिष्ठा की कीमत से हज़ारगुना बढ़कर है। पति-पत्नी में एकता या प्रेम का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। स्वामी और सेवक में ऐसा प्रेम पैदा करना पड़ता है। दिन-दिन कविश्री के वचन का बल मेरी नज़रों में बढ़ने लगा।

अब मन में यह विचार उठने लगा कि मुझे अपनी पत्नी के साथ कैसा व्यवहार रखना चाहिए। पत्नी को विषयभोग का वाहन बनाते पत्नी के प्रति वफ़ादारी कैसे हो सकती है ? जब तक मैं विषय-वासना के अधीन रहूँगा तब तक वफ़ादारी की कीमत प्राकृत मानी जायगी। मुझे यहाँ यह बात कह देनी चाहिये कि हमारे पारस्परिक सम्बन्ध में कभी पत्नी की तरफ़ से मुझ पर ज़्यादती नहीं हुई। इस दृष्टि से मैं जिस दिन से चाहूँ, ब्रह्मचर्य का पालन मेरे लिये सुलभ था। मेरी अशक्ति अथवा आसक्ति ही मुझे रोक रही थी।

जागरूक होने के बाद भी दो बार तो मैं असफल ही रहा। प्रयत्न करता; पर गिरता। प्रयत्न में मुख्य हेतु उच्च न था। सिर्फ़ सन्तानोत्पत्ति को रोकना ही प्रधान लक्ष्य था। सन्ततिनिग्रह के बाह्य उपकरणों के विषय में विलायत में मैंने थोड़ा-बहुत पढ़ लिया था। डा० एलिन्सन के इन उपायों का उल्लेख मैं अन्यत्र कर चुका हूँ। उसका कुछ क्षणिक असर मुझ पर भी हुआ था। परन्तु मि० हिल्स

के द्वारा किये गये उनके विरोध तथा संयम के समर्थन का बहुत असर मेरे दिल पर हुआ और अनुभव के द्वारा वही चिरस्थायी हो गया। इस कारण प्रजोत्पत्ति की अनावश्यकता जँचते ही संयम-पालन के लिये उद्योग आरम्भ हुआ।

संयम-पालन में कठिनाइयाँ बेहद थीं। चारपाइयां दूर रखते। रात को थककर सोने की कोशिश करने लगा। इन सारे प्रयत्नों का विशेष परिणाम उसी समय तो न दिखाई दिया; पर जब मैं भूत-काल की ओर आंख उठाकर देखता हूँ तो जान पड़ता है कि इन्हीं सारे प्रयत्नों ने मुझे अन्तिम बल प्रदान किया।

अंतिम निश्चय तो ठेठ १९०६ ई० में ही कर सका। उस समय सत्याग्रह का श्रीगणेश नहीं हुआ था। उसका स्वप्न तक में मुझे ख्याल न था। बोअर युद्ध के बाद नेटाल में 'जुलू' बलवा हुआ। उस समय मैं जोहान्सबर्ग में वकालत करता था। पर मन ने कहा कि इस समय बलवे में मुझे अपनी सेवा नेटाल-सरकार को अर्पित करनी चाहिए। मैंने अर्पित की भी। वह स्वीकृत भी हुई। परन्तु इस सेवा के फलस्वरूप मेरे मन में तीव्र विचार उत्पन्न हुए। अपने स्वभाव के अनुसार अपने साथियों से मैंने उसकी चर्चा की। मुझे जँचा कि सन्तानोत्पत्ति और सन्तान-रक्षण लोकसेवा के विरोधक हैं। इस बलवे के काम में शरीक होने के लिये मुझे अपना जोहान्सबर्गवाला घर तितर-बितर करना पड़ा। टीपटाप के साथ सजाये घर को और जुटी हुई विविध सामग्री को अभी एक महीना भी न हुआ होगा कि मैंने उसे छोड़ दिया। पत्नी और बच्चों को फ़ीनिक्स में रक्खा। और मैं घायलों की शुश्रूषा करनेवालों की टुकड़ी बनाकर

चल पड़ा। इन कठिनाइयों का सामना करते हुए मैंने देखा कि यदि मुझे लोक-सेवा में ही लीन हो जाना है तो फिर पुत्रैषणा एवं धनैषणा को भी नमस्कार कर लेना चाहिए और वानप्रस्थ-धर्म का पालन करना चाहिए।

मलवे में मुझे डेढ़ महीने से ज़्यादा न ठहरना पड़ा; परन्तु यह छः सप्ताह मेरे जीवन का अत्यन्त मूल्यवान समय था। व्रत का महत्व मैं इस समय सब से अधिक समझा। मैंने देखा कि व्रत बंधन नहीं, स्वतंत्रता का द्वार है। आज तक मेरे प्रयत्नों में आवश्यक सफलता नहीं मिलती थी; क्योंकि मुझमें निश्चय का अभाव था। मुझे अपनी शक्ति का विश्वास न था। मुझे ईश्वर-कृपा का विश्वास न था। इस लिये मेरा मन अनेक तरंगों में और अनेक विकारों के अधीन रहता था। मैंने देखा कि व्रत-बन्धन से पृथक रहकर मनुष्य मोह में पड़ता है। व्रत से अपने को बाँधना मानों व्यभिचार से छूटकर एक पत्नी से सम्बन्ध रखना है। 'मेरा तो विश्वास प्रयत्न में है, व्रत के द्वारा मैं बँधना नहीं चाहता'—यह वचन निर्बलता-सूचक है और उसमें छुपे हुये भोग की इच्छा रहती है। जो चीज़ त्याज्य है उसे सर्वथा छोड़ देने में कौन सी हानि हो सकती है? जो सांप मुझे डँसनेवाला है उसको मैं निश्चयपूर्वक हटा देता हूँ। केवल हटाने का प्रयत्न ही नहीं करता। क्योंकि मैं जानता हूँ कि केवल प्रयत्न का परिणाम होगा मृत्यु। प्रयत्न में सांप की विकरालता के स्पष्ट ज्ञान का अभाव है। ऐसी प्रकार जिस चीज़ के त्याग का हम प्रयत्नमात्र करते हैं उसके त्याग की आवश्यकता हमें स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं दी है। यही सिद्ध होता है। 'मेरे विचार यदि बाद को बदल जांय तो?' ऐसी शंका से बहुत

बार हम व्रत लेते हुए डरते हैं। इस विचार में स्पष्ट दर्शन का अभाव है। इसी लिये निष्कुलानन्द ने कहा है—

त्याग न टिके रे वैराग विना

जहां किसी चीज़ से पूर्ण वैराग्य होगया है वहां उसके लिये व्रत लेना अपने आप अनिवार्य हो जाता है।

भोजन-प्रयोग केवल आरोग्य की दृष्टि से नहीं, पर ब्रह्मचारी की दृष्टि से होने लगे। प्रयोग-द्वारा मैंने अनुभव किया कि भोजन कम, सादा, बिना मिर्च-मसाले का, और स्वाभाविक रूप में करना चाहिए। मैंने खुद छः साल तक प्रयोग करके देखा है कि ब्रह्मचारी का आहार वन-पके फल हैं। जिन दिनों मैं हरे या सूखे वन-पके फलों पर रहता था उन दिनों जिस निर्विकारपन का अनुभव होता था वह खूराक में परिवर्तन करने के बाद न हुआ। फलाहार के दिनों में ब्रह्मचर्य सहल था; दुधाहार के कारण कष्टसाध्य हो गया है। फलाहार छोड़कर दूधाहार क्यों ग्रहण करना पड़ा, इसका ज़िक्र यहां करने की आवश्यकता नहीं। यहां तो इतना कहना ही काफ़ी है कि ब्रह्मचारी के लिये दूध का आहार विघ्न-कारक है, इसमें लेश-मात्र सन्देह नहीं। इसमें कोई यह अर्थ न निकाल ले कि हर ब्रह्मचारी के लिये दूध छोड़ना ज़रूरी है। आहार का असर ब्रह्मचर्य पर क्या और कितना पड़ता है, इस सम्बन्ध में अभी अनेक प्रयोगों की आवश्यकता है। दूध के सदृश शरीर के रगोरेशे को मज़बूत बनानेवाला और उतनी ही आसानी से हज़म होनेवाला फलाहार अब तक मुझे नहीं मिला है। न कोई वैद्य, हकीम, या डाक्टर ऐसे फल या अन्न बता सके हैं। इस कारण दूध को विकारो-त्पादक जानते हुए भी अभी मैं उसके त्याग की सिफ़ारिश किसी से नहीं कर सकता।

बाहरी उपचारों में जिस प्रकार आहार के प्रकार की और परिमाण की मर्यादा आवश्यक है उसी प्रकार उपवास को बात समझनी चाहिए। इन्द्रियां ऐसी बलवान हैं कि चारों ओर से, ऊपर नीचे दिशाओं से जब उन पर घेरा डाला जाता है तभी वे कब्ज़े में

: के विकार हैं। उनको वश में करने के मानी हैं मन को वश में
ना और मन को वश में करना वायु को वश में करने से भी कठिन
इतना होते हुए भी यदि आत्मा कोई चीज़ है तो फिर यह भी साध्य
कर रहेगा। रास्ते में बड़ी कठिनाइयां हैं। इससे यह न मान लेना
हिए कि वह असाध्य है। वह तो परम-अर्थ है। और परम-अर्थ के
ये परम प्रयत्न की आवश्यकता हो तो इसमें कौन आश्चर्य की
त है?

परन्तु देश आने पर मैंने देखा कि ऐसा ब्रह्मचर्य सहज प्रयत्नसाध्य
। है। कह सकते हैं कि तब तक मैं मूर्छा में था कि फलाहार से
र समूल नष्ट हो जावेंगे और इसलिए अभिमान से मानता था
ब मुझे कुछ करना बाक़ी नहीं रहा है।

अस्तु। यहां पर इतना कह देना आवश्यक है कि ईश्वर-साक्षात्कार
ने के लिये मैंने ब्रह्मचर्य की व्याख्या की है। उसका पालन जो करना
हते हैं, वे यदि अपने प्रयत्न के साथ ही ईश्वर पर श्रद्धा रखनेवाले
गे तो उन्हें निराश होने का कोई कारण नहीं है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहरस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

गीता अ० २ श्लोक ५९

इस लिये आत्मार्थी का अन्तिम साधन तो रामनाम और रामकृपा
है। इस बात का अनुभव मैंने हिन्दुस्तान आने पर ही किया।

१३—कुछ चुने हुए अनुभव और उपदेश

१—ब्रह्मचर्य-व्रत

'जुलू' में ब्रह्मचर्य-विषयक मेरे विचार परिपक्व हुए। ष साथियों के साथ भी मैंने इसकी चर्चा की। हां, यह बात त मुझे स्पष्ट नहीं दिखाई देती थी कि ईश्वर-दर्शन के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। परन्तु यह मैं अच्छी तरह जान गया कि सेवा के लिए उसकी बहुत आवश्यकता है। मैं जानता था कि इस प्रकार की सेवाएं मुझे दिन-दिन अधिकाधिक करनी पड़ेंगी और मैं यदि भोग-विलास में, प्रजोत्पत्ति में और सन्तति-पालन में लगा रहा तो मैं पूरी तरह सेवा न कर सकूँगा। मैं दो घोड़े पर सवारी नहीं कर सकता। यदि पत्नी इस समय गर्भवती होती तो मैं निश्चिन्त होकर आज इस सेवा-कार्य में नहीं कूद सकता था। यदि ब्रह्मचर्य का पालन न किया जाय तो कुटुम्ब-वृद्धि मनुष्य के उस प्रयत्न की विरोधक हो जाय जो उसे समाज के अभ्युदय के लिए करना चाहिए; पर यदि विवाहित होकर ब्रह्मचर्य का पालन हो सके तो कुटुम्ब-सेवा समाज-सेवा की विरोधक नहीं हो सकती। मैं इन विचारों के भँवर में पड़ गया और ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेने के लिए कुछ अधीर हो उठा। उन विचारों से मुझे एक प्रकार का आनन्द और मेरा उत्साह बढ़ा। इस संकल्प ने सेवा का क्षेत्र बहुत विशाल कर दिया।

मैंने तो उसी समय व्रत ले लिया कि आज से जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। इस व्रत का महत्त्व और उसकी कठिनता मैं उस समय पूरी तरह न समझ सका था। कठिनाइयों का अनुभव तो मैं आज तक भी करता रहता हूँ। साथ ही उस व्रत का महत्त्व भी दिन-दिन अधिकाधिक समझता जाता हूँ। ब्रह्मचर्यहीन जीवन मुझे शुष्क और पशुवत मालूम होता है। पशु स्वभावतः निरंकुश है। परन्तु मनुष्यत्व इसी बात में है कि वह स्वेच्छा से अपने को अंकुश में रक्खे। ब्रह्मचर्य की जो स्तुति धर्मग्रन्थों में की गयी है उसमें पहले मुझे अत्युक्ति मालूम होती थी। परन्तु अब दिन-दिन यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है कि वह बहुत ही उचित और अनुभव-सिद्ध है।

यह ब्रह्मचर्य-जिसके ऐसे महान फल प्रकट होते हैं कोई हँसी-खेल नहीं है, केवल शारीरिक वस्तु नहीं है।

शारीरिक अंकुश से तो ब्रह्मचर्य का श्रीगणेश होता है। परन्तु शुद्ध ब्रह्मचर्य में तो विचार तक की मलिनता न होनी चाहिए। पूर्ण ब्रह्मचारी स्वप्न में भी बुरे विचार नहीं करता। जब तक बुरे सपने आया करते हैं, स्वप्न में भी विकार प्रबल होता रहता है तब तक यह मानना चाहिए कि अभी ब्रह्मचर्य बहुत अपूर्ण है।

मुझे तो कायिक ब्रह्मचर्य के पालन में भी महा कष्ट सहना पड़ा। इस समय तो यह कह सकता हूँ कि मैं अपने ब्रह्मचर्य के विषय में निर्भय हो गया हूँ; परन्तु अपने विचारों पर अभी पूर्ण विजय प्राप्त नहीं कर सका हूँ। मैं नहीं समझता कि मेरे प्रयत्न में कहीं कसर हो रही है; परन्तु मैं अब तक नहीं जान सका कि ऐसे-ऐसे विचार, जिन्हें

हम नहीं चाहते हैं, कहां से और किस तरह हम पर चढ़ाई कर रहे हैं। हां, इस बात में मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है कि विचारों को रोक लेने की कुंजी मनुष्य के पास है। पर अभी तो मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि वह चाबी प्रत्येक को अपने लिए खोजनी पड़ती है। महापुरुष जो अनुभव अपने पीछे छोड़ गये हैं, वे हमारे लिए मार्ग-दर्शक हैं, उन्हें हम पूर्ण नहीं कह सकते। पूर्णता मेरी समझ में केवल प्रभु-प्रसादी है और इसलिए भक्त लोग, अपनी तपश्चर्या से पुनीत करके, राम-नामादि मंत्र हमारे लिए छोड़ गये हैं। मुझे विश्वास होता है कि अपने को पूर्णरूप से ईश्वरार्पण किये विना विचारों पर पूरी विजय कभी नहीं मिल सकती। समस्त धर्म-पुस्तकों में मैंने ऐसे वचन पढ़े हैं और अपने ब्रह्मचर्य के सूक्ष्मतम पालन के प्रयत्न में मैं [illegible] का अनुभव भी कर रहा हूँ।

२—भोजन और उपवास

जिनके अन्दर विषय-वासना रहती है उनकी जीभ बहुत स्वाद-लोलुप रहती है। यही स्थिति मेरी भी थी। जननेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय पर कब्ज़ा करते हुए मुझे बहुत विडम्बनाएं सहनी पड़ी हैं और अब भी मैं यह दावा नहीं कर सकता कि इन दोनों पर मैंने पूरी विजय प्राप्त कर ली है। मैंने अपने को अतिभोजी माना है। मित्रों ने जिसे मेरा संयम माना है उसे मैंने कभी वैसा नहीं माना। जितना अंकुश मैं रख सका हूँ उतना यदि न रख सका होता तो मैं पशु से भी गया-बीता होकर अब तक कभी का नाश को प्राप्त हो गया होता। मैं अपनी त्रुटियों को ठीक-ठीक जानता हूँ और कह सकता हूँ कि

ई दूर करने के लिये मैंने भारी प्रयत्न किये हैं। और इसी से मैं
ने साल तक इस शरीर को टिका सका हूँ और उससे कुछ काम
सका हूँ।

इस बात का भान होने के कारण, और इस प्रकार की संगति
ायास मिल जाने के कारण, मैंने एकादशी के दिन फलाहार अथवा
वास शुरू किये, जन्माष्टमी इत्यादि दूसरी तिथियों को भी उपवास
ने लगा। परन्तु संयम की दृष्टि से फलाहार और अन्नाहार में
ें बहुत भेद न दिखाई दिया। अनाज के नाम से हम जिन
तुओं को जानते हैं और उनमें जो स्वाद मिलता है वही फलाहार
भी मिलता है और आदत पड़ने के बाद तो मैंने देखा कि उनमें
धिक ही स्वाद मिलता है। इस कारण इन तिथियों के दिन सूखा
वास अथवा एकासने को अधिक महत्व देता गया। फिर प्रायश्चित्त
ादि का भी कोई निमित्त मिल जाता तो उस दिन भी एकासना कर
ालता। इससे मैंने यह अनुभव किया कि शरीर के अधिक स्वच्छ हो
ने से स्वादों की वृद्धि हुई। भूख बढ़ी और मैंने देखा कि उपवासादि
हाँ एक ओर संयम के साधन हैं, वहाँ दूसरी ओर वे भोग के
ाधन भी बन सकते हैं। यह ज्ञान हो जाने पर इसके समर्थन में
सी प्रकार के मेरे तथा दूसरों के कितने ही अनुभव हुए हैं। मुझे तो
द्यपि अपना शरीर अधिक अच्छा और दृढ़ सुडौल बनाना था, तथापि
ाय तो मुख्य हेतु था संयम को साधना और स्वादों को जीतना।
सलिये भोजन की चीज़ों में और उनकी मात्रा में परिवर्तन करने लगा;
रन्तु स्वाद तो हाथ धोकर पीछे पड़े रहते। एक वस्तु को छोड़कर
तब उसकी जगह दूसरी वस्तु लेता तो उसमें भी नये और अधिक

स्वाद उत्पन्न होने लगते। इन प्रयोगों में मेरे साथ और लोग भी थे। हरमान केलनबेक इनमें मुख्य थे। इनका परिचय दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के इतिहास में दे चुका हूँ। इसलिए फिर से देने का इरादा छोड़ दिया है। उन्होंने मेरे प्रत्येक उपवास में, एकासने में, एवं दूसरे परिवर्तनों में, मेरा साथ दिया था। जब हमारे आन्दोलन का रंग खूब जमा था तब तो मैं उन्हीं के घर रहता था। हम दोनों अपने इन परिवर्तनों के विषय में चर्चा करते और नये परिवर्तनों में पुराने स्वादों से भी अधिक स्वाद लेते। उस समय तो यह संवाद बड़े मीठे लगते थे। यह नहीं मालूम होता था कि उसमें कोई बात अनुचित होती थी। पर अनुभव ने सिखाया कि ऐसे स्वादों में गोते लगाना भी अनुचित था। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को स्वाद के लिये नहीं, बल्कि शरीर को कायम रखने के लिये ही भोजन करना चाहिए। प्रत्येक इन्द्रिय जब केवल शरीर के, और शरीर के द्वारा आत्मा के, दर्शन के ही लिये काम करती है तब उसके रस शून्यवत् हो जाते हैं। और तभी कह सकते हैं कि वह स्वाभाविक रूप में अपना काम करती है।

ऐसी स्वाभाविकता प्राप्त करने के लिए जितने प्रयोग किये जायँ उतने ही कम हैं और ऐसा करते हुए यदि अनेक शरीरों की आहुति देनी पड़े तो भी हमें उसकी परवा न करनी चाहिए। अभी आज उलटी गंगा बह रही है। नाशवान शरीर को सुशोभित करने, उसकी आयु को बढ़ाने के लिए हम अनेक प्राणियों का बलिदान करते हैं। पर यह नहीं समझते कि उससे शरीर और आत्मा दोनों का हनन होता है। एक रोग को मिटाते हुए, इन्द्रियों के भोगों

ागने का उद्योग करते हुए, हम नये-नये रोग पैदा करते हैं और अन्त भोग भोगने की शक्ति भी खो बैठते हैं। एवं सब से बढ़कर आश्चर्य बात तो यह है कि इस क्रिया को अपनी आँखों सामने होते देखते ए भी हम उसे देखना नहीं चाहते।

३—मन का संयम

जो लोग ब्रह्मचर्य पालन करने की इच्छा करते हैं उनके लिये यहाँ क चेतावनी देने की आवश्यकता है। यद्यपि मैंने ब्रह्मचर्य के साथ ोजन और उपवास का निकट-सम्बन्ध बतलाया है, फिर भी यह नेश्चित है कि उसका मुख्य आधार है हमारा मन। मलिन मन उपवास े शुद्ध नहीं होता। भोजन का उस पर असर नहीं होता। मन की ालिनता विचार से, ईश्वर के ध्यान से और अन्त में ईश्वर-प्रसाद से ही मिटती है। परन्तु मन का शरीर के साथ निकट सम्बन्ध है और विकारयुक्त मन अपने अनुकूल भोजन की तलाश में रहता है। सविकार मन अनेक प्रकार के स्वाद और भोगों को खोजता रहता है और फिर उस भोजन और भोगों का असर मन पर होता है। इस अंश तक भोजन पर अंकुश रखने की और निराहार की आवश्यकता अवश्य उत्पन्न होती है।

विकारयुक्त मन शरीर और इन्द्रियों पर अपना अधिकार करने के बदले शरीर और इन्द्रियों के अधीन चलता है। इस कारण भी शरीर के लिए शुद्ध—और कम से कम विकारोत्पादक—भोजन की मर्यादा की और प्रसंगोपात्त निराहार की, उपवास की, आवश्यकता रहती है।

इसलिये जो यह कहते हैं कि एक संयमी के लिये भोजन-सम्बन्धी मर्यादा की या उपवास की आवश्यकता नहीं, वे उतने ही भ्रम में पड़े हुए हैं जितना कि भोजन और निराहार को सब कुछ समझनेवाले पड़े हुए हैं। मेरा तो अनुभव यह सिखलाता है कि जिसका मन संयम की ओर जा रहा है उसके लिए भोजन की मर्यादा और निराहार बहुत सहायक होते हैं। उसकी मदद के बिना मन की निर्विकारता असम्भव मालूम होती है।

४—ब्रह्मचर्य के लिए कुछ आवश्यक उपदेश

जिन्होंने भोग-विलास को अपना धर्म नहीं मान लिया है और जो अपने खोये हुए आत्मसंयम को पुनः प्राप्त करने के लिये चेष्टा कर रहे हैं, उनके लिये निम्न-लिखित उपदेश हितकर सिद्ध होंगे।

१—यदि आप विवाहित हैं तो याद रखिये कि आप की स्त्री आपकी मित्र, सहचरी और सहयोगिनी है, भोग-विलास का साधन नहीं।

२—आत्म-संयम आप के जीवन का नियम है। इसलिये मैथुन तभी किया जा सकता है जब कि दोनों चाहें और यह भी उन नियमों से शासित होकर जिन्हें उन्होंने शान्तचित्त से तै कर लिया हो।

३—यदि आप अविवाहित हैं तो अपने को पवित्र रखना आपका अपने प्रति, समाज के प्रति, और अपने भावी साथी के प्रति, कर्तव्य है। यदि आप पत्नीभक्ति की इस भावना को दृढ़ करेंगे, तो इसे आप सारे प्रलोभनों से बचने का अमोघ साधन पावेंगे।

४—सदा उस अदृश्य शक्ति का विचार करो जिसे चाहे हम कभी भी न देख सकें तब भी हम अपने अन्दर रखवाली करते और प्रत्येक अपवित्र विचार को टोंकते अनुभव करते हैं। फिर आप देखेंगे कि वह शक्ति सदा आपकी सहायता कर रही है।

५—आत्म-संयम के जीवन के नियम भोग-विलास के जीवन से अवश्य भिन्न होने चाहिए। इसलिये आपको अपना संग, अध्ययन, मनोरंजन के स्थान और भोजन सभी संयमित करना चाहिये।

आप भले और पवित्र आदमियों का संग-साथ ढूँढ़ें। कामुकता-पूर्ण उपन्यास और पत्रिकाएं आपको दृढतापूर्वक छोड़ देनी चाहिए और उन रचनाओं को पढ़ना चाहिये जो संसार के लिये जीवन-प्राण हैं। समय पर काम देने और पथ-प्रदर्शन के लिए आपको एक पुस्तक सदैव के लिए सहचरी बना लेनी चाहिए।

आपको थियेटर और सिनेमा त्याग देना चाहिए। दिल-बहलाव वह है जिससे हृदय को शान्ति मिले, वह आपे से बे-आपे न हो जावे। इस लिए आपको उन भजन-मंडलियों में जाना चाहिए जहां शब्द और संगीत दोनों ही आत्मा की उन्नति करते हैं।

आप अपनी भूख बुझाने के लिये भोजन करेंगे, जीभ के स्वाद के लिए नहीं। भोगी पुरुष खाने के लिये जीता है, संयमी पुरुष जीने के लिए खाता है। आप भड़कानेवाले मसालों, स्नायुओं को उत्तेजना देनेवाली शराब और सत्य और असत्य की भावना को मार डालने-वाली नशीली चीज़ों का परित्याग कर दें। आपको अपने भोजन के समय और परिमाण नियमित कर लेने चाहिए।

६—जब आपको विषय-वासनाएं आपको धर दबोचने की धमकी दें तो आप अपने घुटनों के बल बैठ जावें और परमात्मा से सहायता के लिये पुकार लगायें। रामनाम हमारा अमोघ सहायक है। बाह्य सहायता के लिये हिप-बाथ लेना चाहिए अर्थात् ठंडे पानी से भरे हुए टब में अपनी टांगें बाहर निकालकर लेटना चाहिए। ऐसा करने से आपकी विषय-वासनाएं शीघ्र ही शान्त होती दिखाई देंगी। यदि आप कमज़ोर न हों और सर्दी लग जाने का भय न हो तो उसमें कुछ मिनट तक बैठे रहें।

७—प्रातःकाल और शयन से पहले रात्रि के समय खुली हवा में तेज़ी से टहलने की कसरत कीजिये।

८—'शीघ्र सोना और शीघ्र जागना, मनुष्य को आरोग्य, धनवान् और बुद्धिमान् बनाता है'—यह प्रमाणित कहावत है। ९ बजे सोना और ४ बजे उठना अच्छा नियम है। खाली पेट सोना चाहिए। इसलिए आपका अन्तिम भोजन छै बजे शाम के बाद में न होना चाहिए।

९—याद रखिये कि प्राणिमात्र की सेवा करने—और इस प्रकार ईश्वर की महत्ता और प्रेम प्रदर्शित करने के लिये मनुष्य परमात्मा का प्रतिनिधि है। सेवा-कार्य आपका एक मात्र सुख हो। फिर आपको जीवन में अन्य सुखों की आवश्यकता न रह जायगी।

Printed by Bankey Lal Sharma at the
Allahabad Printing Works, Allahabad.

तरुणभारत-ग्रन्थावली

[सम्पादक—पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी]

स्थायीग्राहक बनने के नियम

१—इतिहास, जीवनचरित्र, सदाचार और नीति, विज्ञान, कविता, आख्यायिका, सुरुचिपूर्ण नाटक, उपन्यास, इत्यादि विषयों के उत्तमोत्तम ग्रन्थ सुलभ मूल्य पर प्रकाशित करना इस ग्रन्थावली का मुख्य उद्देश्य है।

२—आठ आना प्रवेश-फीस भेजकर सब लोग इसके स्थायी ग्राहक बन सकते हैं।

३—स्थायी ग्राहकों को ग्रन्थावली के सब अगले और पिछले ग्रन्थ पौनी कीमत पर, यानी एक-चौथाई कमीशन काटकर, दिये जाते हैं। वे ग्रन्थावली के प्रत्येक ग्रन्थ को चाहे जितनी प्रतियाँ, चाहे जितनी बार, पौने मूल्य पर ही प्राप्त कर सकते हैं।

४—कोई भी नवीन ग्रन्थ निकलने पर दस-बारह दिन पहले उसका वी० पी० भेजने की सूचना स्थायी ग्राहकों को दे दी जाती है। ग्राहकों को वी० पी० वापस नहीं करना चाहिए; क्योंकि इससे कार्यालय को व्यर्थ की हानि उठानी पड़ती है।

५—जिन ग्राहकों का वी० पी० तीन बार लगातार वापस आता है, उनका नाम स्थायी ग्राहकों से अलग कर दिया जाता है।

६—प्रत्येक मातृ-भाषा-हितैषी का परम पवित्र कर्त्तव्य है कि इस ग्रन्थावली के स्थायी ग्राहक बनकर हमारे इस शुभ-कार्य में सहायता करे। क्योंकि हमारा उद्देश्य केवल पुस्तकों का व्यापार ही नहीं है; बल्कि हिन्दी-साहित्य में सुरुचिपूर्ण ग्रन्थों का विस्तार करना हमारा मुख्य लक्ष्य है। हिन्दी-साहित्य की आवश्यकता को ही देखकर हम ग्रन्थों का चुनाव करते हैं।

—व्यवस्थापक

तरुणभारत-ग्रन्थावली-कार्यालय, दारागंज, प्रयाग

हमारी ग्रन्थावली की कुछ पुस्तकें

१-उषःपान

उषःकाल यानी तड़के उठकर नासिका अथवा मुख के द्वारा जलपान करने का विधान वैधक और योगशास्त्र में मिलता है। इस क्रिया के द्वारा वृद्ध मनुष्य भी युवा बन जाता है। इसकी विस्तृत विधि और इसके लाभ इस पुस्तक में विस्तारपूर्वक बतलाये गये हैं। जल प्रयोग के द्वारा स्वास्थ्य साधन करनेवाले सज्जनों को एक बार यह पुस्तक अवश्य पढ़ना चाहिए। मूल्य सिर्फ पांच आने।

२-इच्छाशक्ति के चमत्कार

मनुष्य यदि प्रबल संकल्पशक्ति धारण करे, तो संसार में कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जो उसके लिए असम्भव हो। हम अपनी इच्छाशक्ति को किस प्रकार बढ़ा सकते हैं; और उससे शारीरिक मानसिक और अध्यात्मिक स्वास्थ्य किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं; यह यदि आप जानना चाहते हैं, तो इस पुस्तक को पढ़ें। मूल्य सिर्फ पांच आने।

३-भोजन और स्वास्थ्य पर महात्मा गान्धी के प्रयोग

महात्माजी ने अपने जीवन के बहुत बड़े भाग को इन प्रयोगों में लगाया है, और प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने में भोजन का कहां तक प्रभाव है, और स्वास्थ्य के लिए किन किन बातों की मनुष्य को अनिवार्य आवश्यकता है, इत्यादि विषयों पर इस पुस्तक में बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है। आपको अपना जीवन उत्तम ढांचे पर ढालने के लिए लाज़िमी है कि आप इस पुस्तक को बार बार ध्यानपूर्वक पढ़ें। मूल्य सिर्फ बारह आने।

४-धर्मशिक्षा

पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी की लिखी हुई धर्मशिक्षा हिन्दी-संसार में बहुत प्रसिद्ध है। इसको हज़ारों कापियाँ निकल चुकी हैं। श्रुति, स्मृति, पुराण, उपनिषद्, महाभारत, गीता, दर्शन इत्यादि बड़े बड़े धर्म-ग्रन्थों का खूब अध्ययन कर के यह धर्मशिक्षा लिखी गई है। यह हिन्दू धर्म की कुञ्जी है। प्रत्येक घर में इसकी एक कापी अवश्य रहनी चाहिये। पौने तीन सौ पृष्ठ की बड़ी पोथी का दाम सिर्फ़ एक रुपया रखा गया है।

५-गार्हस्थ्यशास्त्र

डोमेस्टिक साइंस (Domestic science) पर हिन्दी में यह एक-ही पुस्तक है। लगभग चालीस अध्यायों में घर-गृहस्थी के प्रबन्ध पर इसमें पूरा पूरा प्रकाश डाला गया है। इसके भी तीन एडीशन निकल चुके हैं। बहू-बेटियों को उपहार में देने योग्य है। लगभग पौने तीन सौ पृष्ठ; और मूल्य वही एक रुपया। आप भी अपने घर में इस पुस्तक की एक प्रति अवश्य रखें। कन्या-पाठशालाओं में पारितोषिक देने के लिए भी यह पुस्तक बहुत उपयोगी है।

६-अपना सुधार

अँगरेजी में बर्ल्सेरीज़ सेल्फकल्चर बहुत प्रसिद्ध पुस्तक है। इसमें शारीरिक, मानसिक और आचरण-सम्बन्धी सुधार के अनुभवजन्य साधन बतलाये गये हैं। एक बार हो पुस्तक पढ़ जाने से मनुष्य के आचरण पर बिजली का सा प्रभाव पड़ता है। नवयुवक और नवयुवतियों के लिए तो यह बहुत ही उपयोगी है। मूल्य सिर्फ़ दस आने।

७-सदाचार और नीति

आत्मनिरीक्षण, आत्मसंयमन, श्रद्धा, समाजनियम, ईश्वरभक्ति, परोपकार, इत्यादि धार्मिक और नैतिक विषयों पर सुन्दर विवेचन किया गया है। मनोरंजक दृष्टान्तों के द्वारा विषय को बहुत ही सरलता से समझाया है। मूल्य दस आने।

८—हमारा स्वर मधुर कैसे हो ?

स्वर-विज्ञान पर हिन्दीभाषा में यह एक ही पुस्तक है। यदि आप अपने स्वर को अत्यन्त कोमल और मधुर, कोयल की तरह, बनाना चाहते हैं, तो इस पुस्तक में बतलाई हुई तरकीबों पर अवश्य अमल करें। मूल्य सिर्फ ।-) आने।

९—स्वास्थ्य और प्राणायाम (सचित्र)

अर्थात् श्वास-प्रश्वास के द्वारा शरीर में प्राण संचार करने के साधन। यदि आप बिना औषधि के ही पूर्ण आरोग्य के साथ सौ वर्ष तक जीवित रहने की अभिलाषा रखते हैं; तो इस पुस्तक को मंगाकर इसमें बतलाई हुई कसरतों का अभ्यास कीजिए। पुस्तक सचित्र है। मूल्य लागत मात्र सिर्फ १॥) रु० रखा गया है।

१०—हमारे बच्चे स्वस्थ और दीर्घजीवी कैसे हों ?

हमारे बच्चे कमज़ोर क्यों पैदा होते हैं, माता-पिता किन नियमों का पालन करें कि जिससे मज़बूत सन्तान पैदा हो; और, पैदा होने के बाद बच्चों का पालन-पोषण कैसे किया जाय, कि वे अकाल में ही काल के गाल में न चले जायँ; और सुन्दर स्वस्थ जीवन के साथ दीर्घायु प्राप्त करें, इत्यादि बातें इसमें बड़ी योग्यता से बतलाई गई हैं। लेखक आयुर्वेद-विशारद पं० महेन्द्रनाथ पांडेय हैं। मूल्य सिर्फ ॥) आने।

निम्नलिखित पुस्तकें अवश्य मँगाकर पढ़िये।

इतिहास

१—रोम का इतिहास	...	...	॥)
२—ग्रीस का इतिहास	...	...	१=)
३—इटली की स्वाधीनता	...	...	॥)
४—फ्रांस की राज्यक्रान्ति	...	...	१)
५—मराठों का उत्कर्ष	...	...	१॥)
६—सचित्र दिल्ली	...	...	॥।)

जीवन-चरित्र

—महादेव गो० रानडे	...	...	॥।)
—एब्राहम लिंकन	...	...	॥=)
—नेहरुद्वय (मोतीलाल जवाहरलाल)		...	॥)
—पं० जवाहरलाल नेहरू की विस्तृत जीवनी और व्याख्यान सजिल्द सचित्र		...	२)
५— ” ”		अँगरेज़ी में	२)

नीतिधर्म

१—धर्मशिक्षा	...	...	१)
२—गार्हस्थ्यशास्त्र	...	...	१)
३—सदाचार और नीति	...	...	॥=)
४—अपना सुधार	...	...	॥=)
५—साहित्य-सीकर	...	...	१)
६—साम्यवाद का सन्देश	...	...	॥)

तरुण-भारत-ग्रन्थावली सं० २०

भोजन और स्वास्थ्य पर

महात्मा गांधी के प्रयोग

Mahatma's Experiments on Diet and Health

प्रकाशक

तरुण-भारत-ग्रन्थावली-कार्यालय,

दारागंज, प्रयाग

प्रथम बार } सं० १६८६ वि० { मूल्य ।।।) आने

निवेदन

महात्मा गान्धीजी आजकल सारे संसार में भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के आदर्शरूप हैं। प्राचीन काल में हमारे देश के ऋषियों और मुनियों की शक्ति क्या थी, और उनका रहन-सहन, इत्यादि कैसा था, इसकी मूर्तिमान जागृत प्रतिमा हमारे सामने महात्मा जी ही हैं।

जीवन के प्रत्येक पहलू पर आपने अपने अनुभव से जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं, वे हमारे लिए बिलकुल अपूर्व न होने पर भी, इस युग के लिए नवीन अवश्य हैं। उन में एक विलक्षण ज्योति है—वह प्रकाश है, जिससे हम अपने जीवन के लिए—इस पश्चिमी सभ्यता के प्रगाढ़ अंधकार में भी—सुगमतापूर्वक मार्ग पा सकते हैं।

अठारह वर्ष की अवस्था से ही महात्माजी अपने जीवन में "भोजन और स्वास्थ्य" के विषय में प्रयोग कर रहे हैं। अपने प्रयोगों पर यद्यपि उनको स्वयं अभी पूरा-पूरा सन्तोष नहीं हुआ है; परन्तु इस में तो कुछ भी सन्देह नहीं है कि प्राचीन ऋषियों के जो आदर्श हमारे शास्त्रों में लिखे हुए हैं, उनके निकट तक बहुत कुछ महात्माजी पहुँच गये हैं; और उनके प्रयोगों में सत्य की मात्रा, वर्तमान समय के किसी भी महापुरुष की अपेक्षा, अधिक है।

भोजन और स्वास्थ्य के सम्बन्ध में महात्माजी के जितने लेख अभी तक निकल चुके हैं, उन सब का इस पुस्तक में संग्रह किया गया है।

संग्रह करने का कार्य श्रीयुत केशवकुमार ठाकुर जी ने किया है। हमारा उद्देश्य सिर्फ इतना ही है कि महात्माजी के इन प्रयोगों से जनता अधिकाधिक लाभ उठावे। महात्माजी के लेखों की खास विशेषता यही है कि उन्होंने जो कुछ 'सत्य' समझा है, वही लिखा है; और यों ही नहीं लिखा है कि जैसे अन्य लेखक, बिना अनुभव के ही, लिख मारते हैं—बल्कि पहले स्वयं जिस बात को उन्होंने किया है, उसी को जनता के सामने रखा है। अतएव उन [illegible]ब्द, स्वानुभवपूर्ण होने के कारण हमारे लिए सर्वथा कल्याणकारी है।

प्रकाशक

विषय-सूची

—:०:—

पहला परिच्छेद

१—शरीर की रचना

मिट्टी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन्हीं पाँच तत्वों से संसार बना हुआ है। इन्हीं पांचों तत्वों को लेकर हमारे शरीर की भी रचना हुई है। इसका यह अर्थ है कि शरीर को सुस्थ और आरोग्य रखने के लिए इन पांचों तत्वों की आवश्यकता है। स्वच्छ मिट्टी, स्वच्छ जल, स्वच्छ धूप, स्वच्छ वायु और स्वच्छ आकाश (खुले स्थान) का मिलना हमारे शरीर के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इन तत्वों में से एक तत्व का भी न मिलना हमारे अस्वस्थ होने का कारण होता है। जिस तत्व की जिस परिमाण में आवश्यकता है, उस तत्व का उस परिमाण में मिलना ही हमारे शरीर का स्वास्थ्य है।

हड्डी, मांस, रक्त और चर्म से हमारा शरीर बनता है। हड्डियां हमारे शरीर के ढांचे का आधार हैं। उन्हीं के बल पर हम खड़े होते हैं, चलते फिरते हैं। हड्डियां ही हमारे शरीर के कोमल अंगों की रक्षा करती हैं। हमारे मस्तक की हड्डियां

पहला परिच्छेद

१—शरीर की रचना

मिट्टी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन्हीं पाँच तत्वों से संसार बना हुआ है। इन्हीं पांचों तत्वों को लेकर हमारे शरीर की भी रचना हुई है। इसका यह अर्थ है कि शरीर को सुस्थ और आरोग्य रखने के लिए इन पांचों तत्वों की आवश्यकता है। स्वच्छ मिट्टी, स्वच्छ जल, स्वच्छ धूप, स्वच्छ वायु और स्वच्छ आकाश (खुले स्थान) का मिलना हमारे शरीर के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इन तत्वों में से एक तत्व का भी न मिलना हमारे अस्वस्थ होने का कारण होता है। जिस तत्व की जिस परिमाण में आवश्यकता है, उस तत्व का उस परिमाण में मिलना ही हमारे शरीर का स्वास्थ्य है।

हड्डी, मांस, रक्त और चर्म से हमारा शरीर बनता है। हड्डियां हमारे शरीर के ढांचे का आधार हैं। उन्हीं के बल पर हम खड़े होते हैं, चलते फिरते हैं। हड्डियां ही हमारे शरीर के कोमल अंगों की रक्षा करती हैं। हमारे मस्तक की हड्डियां

हमारे मस्तिष्क की और पसलियां हमारे हृदय तथा फेफड़े की रक्षा करती हैं। डाक्टरों की गणना के अनुसार हमारे शरीर में २३८ हड्डियां हैं। हड्डियों का ऊपरी भाग कठोर और भीतरी भाग पोला तथा नरम होता है। हड्डियां जहां एक दूसरे से जुड़ती हैं, वहां मज्जा का परदा होता है। यह मज्जा भी नरम हड्डियों में ही गिनी जाती है।

हमारे दांत भी हड्डी के हैं। लड़कपन में दूध के दांत होते हैं। कुछ समय में वे गिर जाते हैं और उनके स्थान पर जो दांत निकलते हैं, वे मज़बूत, स्थायी और बुढ़ापे तक रहने वाले होते हैं। दूध के दांत छै और आठ महीने के बाद निकलने लगते हैं और दो-ढाई वर्ष की अवस्था तक प्रायः निकल आते हैं। इनके गिर जाने पर जो स्थायी दांत निकलते हैं, वे अन्न के दांत कहलाते हैं। वे पांच वर्ष की अवस्था से निकलने लगते हैं और सत्रह तथा पचीस वर्ष की अवस्था तक पूरे होते रहते हैं। दाढ़ें सब से पीछे निकलती हैं।

अपने शरीर में मांस के ऊपर ढके हुए चमड़े को छूने से हमको बहुत स्थानों पर मांस का लचलचापन अनुभव होता है। मांस की इस अवस्था को स्नायु कहते हैं। इन्हीं के द्वारा हम अपने हाथ-पैर सिकोड़ते हैं, फैला सकते हैं। अपने जबड़ों को चलाते हैं। आंखों को बन्द करते हैं।

हम इस पुस्तक में शरीर-सम्बन्धी विशेष जानकारी का वर्णन नहीं करना चाहते और ऐसा करने के लिए हमें ज्ञान

तथा अनुभव भी नहीं है। अत एव इसमें हम उन्हीं बातों का उल्लेख करना चाहते हैं जिनको हम स्वयं भली भांति समझ चुके हैं। सब से पहले हम शरीर के मुख्य मुख्य भागों का वर्णन करना चाहते हैं। शरीर का सब से मुख्य भाग पाकाशय अथवा मेदा है। इसकी थोड़ी सी भी त्रुटि से हमारे सारे शरीर में शिथिलता आ जाती है। प्रायः ऐसा होता है कि पाकाशय पर हम इतना अधिक भार लाद देते हैं जिसको पचाने के लिए उसमें शक्ति नहीं होती। पाकाशय का काम है कि हम जो भोजन करें, वह उसको पचाने का काम करे। पाकाशय, हमारे शरीर के लिए, वही काम करता है, जो रेलगाड़ी के लिए इंजिन करता है। पाकाशय, हमारी पसलियों के भीतर बाईं ओर होता है। इसके द्वारा हमारे खाये हुए पदार्थों को अनेक क्रियायें होती हैं, और उनसे अनेक रस तैयार होते हैं। ये रस उन पदार्थों के तत्व हैं, जिनको हम भोजन के रूप में खाते हैं। भोजन के पदार्थों में जो अंश निकम्मा होता है, वह मल-मूत्र के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है। इसके ऊपरी भाग में, कलेजे का बायाँ भाग है। मेदे (पाकाशय) के बाईं ओर तिल्ली है। कलेजा पसलियों के भीतर दाहिनी ओर है। इसके द्वारा रक्त की सफ़ाई होती है और पित्त का जन्म होता है। यह पित्त पाचन क्रिया के लिए बहुत उपयोगी है।

पसलियों के नीचे, खाली जगह में, अन्तःकरण अथवा रक्ताशय और फेफड़े हैं। अंतःकरण की थैली दोनों फेफड़ों

के बीच, बाईं ओर रहती है। छाती में दाहिनी और बाईं ओर की कुल मिलाकर २४ हड्डियां हैं। पाँचवीं और छठी पसली के बीच में कलेजे की धुकधुकाहट होती है। छाती के दाहिने और बाईं ओर दो फेफड़े होते हैं। श्वास की नली के साथ इनका सम्बन्ध होता है। इनमें हवा भरी रहती है। फेफड़े से रक्त की शुद्धि होती है। जब हम सांस लेते हैं, तब वायु श्वास की नली के द्वारा हमारे फेफड़ों में पहुँचती है। हमको सदा नाक से सांस लेना चाहिए। नाक से जो हवा जाती है वह गर्म होकर फेफड़ों में पहुँचती है। मुँह के द्वारा सांस लेना बड़ा हानिकारक होता है। मुँह केवल भोजन करने के लिए है। सांस हमेशा नाक से ही लेना चाहिए।

हमारे शरीर में जो रक्त प्रवाहित होता है, उसके द्वारा हमारा पोषण होता है। यह भोजन में से पोषणकारी अंश को खींच लेता है और निरुपयोगी भाग को मलमूत्र के रूप में बाहर कर देता है। हमारे शरीर को गर्म रखता है। शरीर की नलियों और नसों के द्वारा रक्त सदा दौड़ा करता है। रक्त की गति के कारण ही हमारी नाड़ी एक मिनट में लगभग बहत्तर बार गति करती है। बच्चों की नाड़ी तेज़ चलती है और बूढ़ों की सुस्त।

रक्त को शुद्ध करने का सब से अच्छा साधन है वायु। शरीर में चक्कर लगाकर जो रक्त फेफड़ों में जाता है, वह निकम्मा हो जाता है। उसमें विषाक्त पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। जो हवा भीतर जाती है, वह इस विषाक्त अंश को

खींच लेती है। अपनी प्राणवायु रक्त में छोड़ देती है। यह क्रिया सदा होती रहती है। जो वायु भीतर जाती है, वह रक्त के विपाक्त अंश को लेकर बाहर आ जाती है; और फेफड़ों में पहुँचा हुआ रक्त प्राणवायु को पा कर फिर शरीर में चक्कर लगाना आरम्भ कर देता है। यहां पर यह बात स्पष्ट प्रकट हो जाती है कि जो सांस हमारे शरीर से निकल कर बाहर आती है, वह कितनी विषमयी होती है।'

२--स्वास्थ्य

प्रायः लोग स्वस्थ उसी मनुष्य को समझते हैं जो पेट-भर भोजन करता है, खूब चलता-फिरता है और किसी वैद्य या डाक्टर के यहाँ नहीं जाता। किन्तु विचार करने से मालूम होता है कि ऐसा सोचने में लोग भूल करते हैं। ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं है कि जो खाते-पीते और चलते-फिरते हैं; किन्तु फिर भी वे रोगी हैं। वे अपनी बीमारी की परवा नहीं करते और अपने आपको नीरोग समझते हैं। बिल्कुल नीरोग मनुष्य संसार में बहुत थोड़े मिलेंगे।

एक अँगरेज़ लेखक का कहना है कि नीरोग उन्हीं मनुष्यों को कहना चाहिए जिनके शुद्ध शरीर में शुद्ध मन का वास होता है। मनुष्य केवल शरीर ही तो नहीं है। शरीर तो उसके रहने की जगह है। शरीर, मन और इन्द्रियों का ऐसा घना सम्बन्ध है कि इनमें किसी एक के बिगड़ने पर बाकी

नीरोग नहीं हैं। मृत्यु हमारे जीवन का परिवर्तन मात्र है जो सृष्टि के नियमानुसार हमारे लिए स्वास्थ्य में सुखदायी होना चाहिए। ऊपर की पंक्तियों में जिस स्वास्थ्य का वर्णन किया गया है, उस को प्राप्त करना हमारा कर्तव्य है।

दूसरा परिच्छेद

१—भोजन

हवा, पानी और अन्न—यही तीनों चीज़ें हमारी ख़ुराक हैं। फिर भी हम लोग साधारण रूप में अनाज को ही ख़ुराक मानते हैं। हम लोग अनाज में केवल दानों की ही गिनती करते हैं। गेहूं, चावल इत्यादि न खानेवालों को हम अनाज खानेवाले नहीं मानते। यह तो मानी हुई बात है कि हवा सब से पहली ख़ुराक है। इसके बिना काम नहीं चल सकता। यह इतनी ज़रूरी ख़ुराक है जिसको हम जाने बिना जाने सदा खाया करते हैं। पानी हवा से घट कर है। किन्तु अनाज से बढ़कर। इसीलिए प्रकृति का प्रबन्ध है कि पानी अनाज की अपेक्षा अधिक सरलता से मिल सकता है। अनाज तीसरी यानी आखिरी दर्जे की ख़ुराक है।

अन्न के सम्बन्ध में अधिक मीमांसा करना एक असाधारण काम है। कौन-सा अन्न कब और कितना खाना चाहिए, इस विषय में बहुत मतभेद है। लोगों की रीतियां

भिन्न भिन्न हैं। एक ही अन्न का प्रभाव भिन्न भिन्न लोगों में भिन्न भिन्न प्रकार से होता है। ऐसी अवस्था में निश्चित रूप से कुछ कहना बड़ा कठिन है और इतना कठिन जो लगभग असम्भव है। संसार के कितने ही स्थानों में मनुष्य को मार कर मनुष्य उसका मांस खाते हैं। यह भी उनका अन्न है। कितने ही केवल दूध पर निर्वाह करते हैं। दूध ही उनके लिए अनाज है। कितने ही जीव मैला खाते हैं। मैला ही उनका अनाज है। ऐसी अवस्था में अन्न का अधिक विश्लेषण करना और उसके सम्बन्ध में कुछ निश्चित बात कहना असम्भव ही है।

अनाज कौन सा खाना चाहिए, इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर देना यद्यपि कठिन है, फिर भी इस विषय पर विचार करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अनाज के बिना किसी मनुष्य का काम नहीं चल सकता। इसी लिए केवल अनाज प्राप्त करने के हेतु हमको सैकड़ों दुःख सहन करने पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में यह विचार अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि हम अनाज क्यों खाते हैं! इसके द्वारा हम ठीक ठीक इस बात का विचार कर सकेंगे कि हमें कौन सा अनाज खाना चाहिए। यह बात तो सब लोग मानेंगे ही कि लाख में निन्नानवे हज़ार नौ सौ निन्नानवे मनुष्य तो केवल स्वाद के लिए खाना खाते हैं। इसकी वे परवा नहीं करते कि खाने के बाद हम बीमार पड़ेंगे अथवा अच्छे रहेंगे। न जाने कितने आदमी तो ऐसे

देखे जाते हैं जो अधिक खा सकने के लिए जुलाब लेते हैं अथवा पाचक चूर्णों का प्रयोग करते हैं। कितने ही लोग स्वादिष्ट चीज़ों को ठूँस ठूँस कर पेट में भर लेते हैं और उसके बाद क़ै करके उसको पेट से निकाल देते हैं। इस प्रकार वे तुरंत ही फिर खाने के लिए तैयार हो जाते हैं। कुछ तो ऐसे आदमी होते हैं जो एक ही बार में इतना अधिक खा लेते हैं कि फिर उनको दो दो दिनों तक भूख नहीं लगती। कितने ही आदमी खाते-खाते इतना अधिक खा जाते हैं जो खा लेने के बाद मरते देखे गये हैं। ये सब बातें मैंने अपनी आंखों देखी हैं। मैंने अपने ही जीवन में न जाने कितने प्रकार की बातें देखी हैं, जिनमें से बहुतों की याद आने से हँसी आती है और बहुतों को देख करके लज्जित होना पड़ता है। एक समय था जब मैं सवेरे चाय पीता था, दो तीन घंटे के पश्चात् नाश्ता करता था। दोपहर को एक बजे भोजन करता था, फिर तीन बजे चाय पीता था और अन्त में सन्ध्याकाल, लगभग छः सात बजे फिर पूरा भोजन करता था। उस समय मेरी अवस्था बड़ी करुणाजनक थी। शरीर पर दूषित मांस खूब लदा रहता था। दवा की बोतल सदा पास रहती थी। अधिक खा सकने के लिए प्रायः जुलाब लेता था, और उसके बाद ताक़त के लिए दवाइयां पीता था। ये सब बातें प्रायः हुआ करती थीं। उस समय मुझ में काम करने की जितनी शक्ति थी, उससे तिगुनी शक्ति इस समय—जबकि मेरी उमर ढल रही है—मौजूद है। उस समय जैसी मेरी

अवस्था थी, वैसी अवस्था करुणाजनक होती है। और यदि गम्भीरता के साथ उस पर विचार करें तो वह अवस्था अधिक पापपूर्ण और धिक्कार योग्य मालूम होगी।

मनुष्य न तो खाने के लिए पैदा हुआ है और न वह खाने के लिए जीता ही है। वल्कि वह अपने उत्पन्न करनेवाले को पहचानने के लिए उत्पन्न हुआ है और वह इसी काम के लिए जीता है। यह पहचान शरीर की सहायता के विना नहीं हो सकती। और ख़ुराक के विना शरीर का निर्वाह नहीं हो सकता। इसीलिए हमको खाने की आवश्यकता है। हमारे जीवन की यह बहुत ऊँची मीमांसा है। आस्तिक स्त्री-पुरुषों के लिए इतना विचार काफ़ी है। नास्तिक भी मानते हैं कि हमें जीवित रहने के लिए उतना ही भोजन करना चाहिए, जितने से हम स्वस्थ और नीरोग रह सकें।

पशु-पक्षियों को देखिये, वे स्वाद के लिए नहीं खाते। वे ठूंस ठूंस कर भोजन से पेट को नहीं भरते। भूख लगने पर ही वे भूख भर खाते हैं। वे अपना भोजन पकाते नहीं हैं, प्रकृति के बनाये और तैयार किये हुए पदार्थों को खा कर सुखी हो जाते हैं। क्या मनुष्य ही स्वाद के लिए पैदा हुआ है? उन जानवरों में गरीब और अमीर—कोई-कोई दिन में दस बार खानेवाले, और कोई-कोई एक बार भी न पानेवाले, नहीं दिखाई देते। ये बातें केवल मनुष्य जाति में ही हैं। फिर भी हमें जानवरों से अधिक बुद्धिमान होने का घमंड है! इससे सिद्ध होता है कि यदि हम पेट को परमेश्वर मानकर उसकी

पूजा में जिन्दगी बितावें तो हम पशु-पक्षियों से अधिक बे-समझ और बद्तर हैं।

भली भाँति विचार करने से मालूम होगा कि झूठ, चोरी और धोखा आदि पापों का मुख्य कारण हमारी स्वादेन्द्रिय की स्वतंत्रता ही है। स्वाद को वश में रखने से दूसरी बुराइयों का नाश करना हमारे लिए बहुत आसान हो जाता है। लेकिन यहाँ तो हम खूब खाना और स्वादिष्ट पदार्थों का खाना पाप नहीं समझते। चोरी करने, व्यभिचार करने और झूठ बोलने पर लोग हमसे घृणा करते हैं। इस पर अनेक नैतिक ग्रंथ भी लिखे गये हैं। किन्तु जिनकी स्वादेन्द्रिय वश में नहीं है, उन पर कहीं कुछ नहीं लिखा गया। मानो इस विषय का नीति-अनीति से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इसका प्रधान कारण यह है कि सभी एक ही नाव पर बैठे हैं। सभी जीभ के गुलाम हैं। जब ऐसी अवस्था है तब कैसे हम दूसरे की बुराई पर हँस सकते हैं। भला, एक चोर कहीं दूसरे के काम पर हँसता है? हमारे पूर्व-पुरुष भी स्वादेन्द्रिय को अपने वश में नहीं कर सके। या यों कहिए कि स्वाद में उन्हें दोष दिखाई ही नहीं पड़े। बस, इतना लिख दिया कि अपनी इन्द्रियों को वश में रखने के लिए जहाँ तक हो सके, मिताहारी होना चाहिए। पर यह नहीं लिखा कि स्वाद के कारण और कितनी बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। सब लोग चोर, ठग, और व्यभिचारी मनुष्य को अपने समाज में कभी रहने न देंगे, किन्तु वे सभ्यताभिमानी

लोग साधारण मनुष्य से सौगुना अधिक स्वाद लेते हैं। और इसे बुरा नहीं समझते! आजकल बड़प्पन का अनुमान थाली से किया जाता है। जैसे डाकुओं के घर के लोग डाका डालने के काम को बुरा नहीं समझते, वैसे ही हम सब लोग, स्वादेन्द्रिय के गुलाम होने के कारण, उसको बुरा नहीं समझते। उल्टे उसमें आनन्द मानते हैं। व्याह-शादी में हम लोग, स्वाद ही के लिए, भोजन करते-कराते हैं। किसी आदमी के मरने पर भी हम स्वाद के भिन्न-भिन्न कर्मकाण्ड मनाते हैं! त्योहार आया कि पकवान और मिष्टान्न बनने लगे। मेहमान आया कि कड़ाही चढ़ी। कोई भी काम हुआ, जब तक पड़ोसियों, सम्बन्धियों और मित्रों-स्नेहियों को ख़ूब पेट भर भर कर खाने को न दिया जाय तब तक वह निन्दा के योग्य समझा जाता है! निमंत्रित लोगों को जब तक ठूँस-ठूँस कर भोजन न कराया जाय, तब तक कंजूसी साबित होती है। स्कूलों की छुट्टियाँ आयीं कि पूड़ी-कचौड़ी छनने लगीं। हम यह तो जानते ही हैं कि इतवार के दिन ख़ूब छककर और ठूँस-ठूँस कर भोजन करेंगे! इस प्रकार हमारे जीवन का जो दोष है, उसको हमने समझदारी और सौभाग्य की बात समझ रखी है! भोजन की तैयारी में हमने जो-जो ढोंग शामिल कर लिये हैं, उनसे मालूम होता है कि हम अपने आपको बहुत ऊंचा समझने लगे हैं। हमारे जीवन का यह अंधकार बढ़ता जाता है। इस लिए प्रत्येक मनुष्य को इस प्रश्न पर ख़ूब विचार करना चाहिए।

तीसरा परिच्छेद

मादक द्रव्य

१—शराब और भांग

हमें कौन सी चीज़ें खानी चाहिएं, इसका निर्णय करने के पहिले हमें यह जान लेना चाहिए कि कौन सी चीज़ें न खानी चाहिएं। मुख के द्वारा खानेवाली चीज़ों की गिनती यदि हम अनाज में करें तो शराब, बीड़ी, तम्बाकू, भांग और काफ़ी, कोको तथा मसाला इत्यादि भी अनाज ही हैं। मुझे अपने अनुभव से मालूम हुआ है कि ये सब चीज़ें छोड़ने के लायक हैं। इनमें से कुछ चीज़ों का अनुभव तो मैंने स्वयं किया है और कुछ के सम्बन्ध में मैंने दूसरों के अनुभवों से लाभ उठाया है।

शराब और भांग को संसार के सभी धर्मों ने दूषित ठहराया है। फिर भी शायद ही कोई उनके पीने से परहेज़ करता हो। शराब से हज़ारों घर धूल में मिल गये। लाखों आदमियों का सत्यानाश हो गया। शराबी को किसी बात का ज्ञान नहीं रहता। प्रायः वह माता, स्त्री और लड़की का भेद तक भूल जाता है। शराब से मनुष्य का भेजा जल जाता

है। अंत में वह पृथ्वी का भार-मात्र हो जाता है। शराबी मोरियों में पड़े नज़र आते हैं। एक अच्छा मनुष्य भी शराब के कारण कौड़ी का तीन हो जाता है। इस व्यसन से घिरे हुए मनुष्य, होश-हवास ठीक होते हुए भी, निकम्मे होते हैं। मन पर उनका अधिकार नहीं होता, सदा शेख़-चिल्लियों के से मनसूबे बांधा करते हैं। इसलिए शराब और उसकी सगी बहन भांग—दोनों चीज़ें छोड़ देने के योग्य हैं। इसमें कभी किसी का मतभेद नहीं हो सकता। कुछ लोगों का कहना है के दवा की भांति शराब के पीने में कोई हर्ज नहीं। परन्तु असल में इसकी भी ज़रूरत नहीं। शराब के माण्डार-योरप-के डाक्टरों की भी यही राय है। पहले अनेक बीमारियों में शराब काम में आती थी; परन्तु वहां पर अब बिलकुल ही बंद हो गई है। असल में तो दवा की दलील ही निराधार है। शराब के पक्षपाती दिखाना चाहते हैं कि जब शराब दवा के काम में आ सकती है, तो उसको पीने के काम में लाना क्यों बुरा है? परन्तु विष भी तो दवा की भांति काम आता है तो भी कोई उसे भोजन की भांति बरतने का विचार तक नहीं करता। हो सकता है, कुछ बीमारियों में शराब से लाभ पहुँचता हो; पर उससे हानि इतनी अधिक हो चुकी है कि विचारवान् मनुष्य को चाहिए कि जान जाने दे; परन्तु शराब को दवा के स्थान पर भी काम में न लावे।

जिस शराब से सैकड़ों मनुष्यों की भीषण हानि होती है, उसके द्वारा शरीर का कोई लाभ न हो, यही ज़्यादा अच्छा

है। हिन्दुस्तान में लाखों मनुष्य ऐसे हैं, जो वैद्य के कहने पर भी शराब नहीं पीते। वे शराब पीकर, अथवा अपनी समझ में बुरी चीज़ों का प्रयोग कर, जीना अच्छा नहीं समझते।

२—अफीम

अफीम का विचार भी शराब के साथ ही करना चाहिए। अफीम का नशा शराब से भिन्न है। फिर भी, उससे शराब से कम बुराई नहीं होती। अफीम के फेर में पड़कर चीन जैसे बड़े राष्ट्र की प्रजा पाई हुई स्वाधीनता खो बैठी। हमारे जागीरदार भी अफीम के चंगुल में पड़कर अपनी-अपनी जागीरों से हाथ धो बैठे।

३—बीड़ी, तम्बाकू, सिगरेट

शराब, भांग और अफीम की बुराइयां तो साधारण पाठकों की समझ में भी आसानी से आ जाती हैं; परन्तु बीड़ी और तम्बाकू तथा सिगरेट की बुराई सहज ही लोगों की समझ में नहीं आती। बीड़ी और तम्बाकू ने मनुष्य जाति पर अपना ऐसा असर जमा रखा है कि उसके मिटने में एक ज़माने की ज़रूरत है। छोटे-बड़े सभी इसके फेर में पड़े हैं। अच्छे भलेमानस भी बीड़ी सिगरेट का व्यवहार करते हैं। इनके पीने में किसी प्रकार की लज्जा का अनुभव नहीं किया जाता। मित्रों की खातिर करने में ये चीज़ें ही खास तौर पर इस्तेमाल की जाती हैं। दिन पर दिन इनका प्रचार

बढ़ता जाता है। सर्वसाधारण को इस बात की ख़बर नहीं कि सिगरेट का व्यसन बढ़ाने के लिए सिगरेट के व्यापारी लोग, उसकी बनावट में, हजारों तरकीबें लड़ाते हैं। तम्बाकू में अनेक प्रकार के सुगंधित तेज़ाब छिड़कते हैं और अफ़ीम का पानी मिलाते हैं। इससे सिगरेट हम पर अधिकाधिक अधिकार जमाता जाता है। उसके लिए विज्ञापनबाज़ी में हज़ारों पौंड ख़र्च किये जाते हैं। योरप में सिगरेट-कम्पनियाँ अपने छापेखाने चलाती हैं, बाइस्कोप ख़रीदती हैं, अनेक प्रकार के इनाम बांटती हैं, लाटरियां निकालती हैं और नाटिसबाज़ी में पानी की तरह पैसा बहाती हैं। इसका यह फल हुआ है कि स्त्रियों को भी सिगरेट पीने की आदत पड़ गई है। सिगरेट पीने पर कवितायें भी बनाई गई हैं। उन कविताओं में सिगरेट को ग़रीब-निवाज़ (दीन-बंधु) की उपमा दी गई है।

सिगरेट तम्बाकू से होनेवाली हानियों की गिनती नहीं हो सकती। सिगरेट पीनेवाले मनुष्य का व्यसन इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह बिना किसी की परवाह किये, दूसरे के घर में बिना आज्ञा ही सिगरेट का धुआं निकालने लगता है। उसको किसी की परवाह नहीं होती।

देखा गया है कि सिगरेट और तम्बाकू पीनेवाला मनुष्य इन चीज़ों की प्राप्ति के लिए बहुतेरे अपराध तक कर बैठता है। लड़के माता पिता के पैसे चुराते हैं। जेल में, क़ैदी बहुत जोखिम उठाकर सिगरेट रखते हैं। भोजन के बिना तो काम

चल भी जाता है ; किन्तु सिगरेट बिना नहीं चल सकता। लड़ाई में सिगरेट पीनेवाले, सिपाहियों को सिगरेट नहीं मिलता, तो वे ढीले पड़ जाते हैं, फिर किसी काम के नहीं रह जाते।

सिगरेट पर स्वर्गीय टाल्स्टाय ने लिखा है, कि एक मनुष्य के मन में अपनी स्त्री के ख़ून करने का विचार आया। छुरा निकाला, चलाने को तैयार हुआ। इसके साथ ही वह पछताया और पीछे हट गया, फिर सिगरेट पीने बैठ गया। सिगरेट के नशे से उसकी बुद्धि पर पर्दा पड़ गया। उसके बाद उसने अपनी स्त्री का ख़ून किया। महात्मा टाल्स्टाय तम्बाकू को एक सूक्ष्म प्रकार का, और कई अंशों में शराब से भी बुरा, नशा मानते थे।

सिगरेट का ख़र्च भी कुछ कम नहीं। कुछ मनुष्यों को चुरुट के पीछे पांच पौंड प्रति मास अर्थात् ७५ रुपये तक ख़र्च करते मैंने अपनी आंखों से देखा है। सिगरेट से पाचन-शक्ति कम हो जाती है। भोजन का स्वाद नहीं मिलता। अन्न फीका मालूम होता है। इसलिए उसमें मसाला इत्यादि डालना पड़ता है। सिगरेट पीनेवालों की सांस से बदबू निकलने लगती है। उसका धुआँ हवा को बिगाड़ता है। कितनी ही बार मुँह में फफोले पड़ जाते हैं। मसूड़े और दांत काले या पीले पड़ जाते हैं। कितने ही लोगों को इस से भी भयंकर बीमारियां हो जाती हैं। समझ में नहीं आता कि शराब के निन्दक सिगरेट क्यों पीते हैं। सिगरेट का ज़हर

सूक्ष्म होता है। कदाचित् इसीलिए उसका प्रयोग करते हैं। जो नीरोग रहना चाहते हैं, उन्हें सिगरेट पीना ज़रूर छोड़ देना चाहिए।

शराब, तम्बाकू, बीड़ी और भांग इत्यादि व्यसन हमारे शरीर का आरोग्य हर लेते हैं। मन और धन के आरोग्य का भी हरण करते हैं। इनसे हमारे आचरणों का नाश होता है और हम व्यसनों के ग़ुलाम बन जाते हैं।

४—चाय, काफ़ी, कोको

लोगों के मन में यह बैठना बहुत कठिन जान पड़ता है कि चाय, काफी और कोको बहुत बुरी चीज़ें हैं। लेकिन यह मानना ही पड़ेगा कि ये चीज़ें बुरी हैं। इनमें एक विशेष प्रकार का नशा होता है। यदि चाय और काफ़ी के साथ दूध-शक्कर न हो, तो उनमें कुछ भी पुष्टई का अंश नहीं होता। केवल चाय और काफ़ी पर जीवन-निर्वाह करके कितने ही प्रयोग किये गये। सिद्ध यह हुआ कि इनमें खून बढ़ानेवाली चीज़ें बिलकुल नहीं हैं। हम लोग कुछ वर्ष पहले साधारण तौर पर चाय और काफ़ी नहीं पीते थे। कहीं किसी विशेष अवसर पर या दवा में इसका प्रयोग कर लेते थे। परन्तु अब, नई रोशनी के कारण, चाय और काफ़ी साधारण वस्तुयें बन गई हैं। अब तो हम केवल मिलने के लिए आनेवाले मेहमानों को भी ये वस्तुयें पिलाते हैं—चाय की पत्तियां देते हैं। लार्ड कर्ज़न के शासनकाल से तो चाय ने और भी अपने

पैर-फैला दिये हैं। उन्होंने चाय के व्यापारियों को उत्तेजना दे-देकर चाय का प्रचार घर-घर कर दिया और जहां पहले लोग आरोग्यकारक चीज़ों का प्रयोग करते थे, वहाँ अब उनकी जगह रोग बढ़ानेवाली चाय का प्रयोग करते हैं।

कोको बहुत नहीं फैला। क्योंकि वह चाय से कुछ मँहगा पड़ता है। सौभाग्य से हम लोगों को इसका परिचय बहुत कम है। फिर भी फैशनेबुल घरों में उसकी पूर्ण सत्ता है।

चाय, काफ़ी और कोका, तीनों चीज़ें पाचन-शक्ति को कम करनेवाली हैं। ये नशे की चीज़ें हैं। क्योंकि जिन्हें व्यसन पड़ जाता है, वे उनको छोड़ नहीं सकते। लेखक खुद भी चाय पीता था। यदि चाय के समय मुझे चाय न मिलती थी, तो आलस्य मालूम होता था। यह नशे की पक्की निशानी है। एक उत्सव में लगभग ४०० स्त्रियाँ और बच्चे इकट्ठे हुए थे। प्रबन्धकों ने तय कर लिया था कि इनको चाय या काफ़ी न देनी चाहिए। जो स्त्रियाँ आईं थीं उन्हें चार बजे चाय पीने की अचूक आदत थी। प्रबन्धकों को ख़बर मिली कि औरतों को चाय न मिलेगी तो वे बीमार पड़ जायँगी, चल-फिर न सकेंगी। यह दशा जानकर प्रबन्धकों को प्रबन्ध बदल देना पड़ा। चाय बन ही रही थी कि शोर मच गया, चाय जल्दी चाहिए। औरतों का माथा चढ़ा हुआ था। उन्हें एक-एक पल एक-एक महीना मालूम होता था। चाय मिलने पर उनके चेहरे खिल गये और उनको होश आ गया। यह एक सच्ची घटना है। एक स्त्री को चाय से

इतना नुक़सान पहुँचा था कि उसे खाना हज़म नहीं होता था। सिर सदा दुखता रहता था। उसके बहुत दवा करने पर भी उसकी यह तकलीफ न गई। लेकिन जब से उसने अपने मन को वश में करके चाय का पीना छोड़ दिया तब से उसकी तबीयत अच्छी रहने लगी। इँगलैण्ड की बेटरसी म्युनिसिपेलिटी के एक डाक्टर ने अनुसन्धान करके बताया है कि इस इलाक़े की हज़ारों स्त्रियों के ज्ञान-तन्तुओं में दर्द होने का कारण उनका व्यसन है। चाय से मनुष्यों के आरोग्य बिगड़ने के बहुतेरे प्रमाण मुझे मिल चुके हैं। मेरा पक्का मत है कि चाय से आरोग्य को बहुत हानि पहुँचती है। काफी के सम्बन्ध में एक दोहा प्रचलित है—

"कफ़ छाँटे, बादी हरे, करे धातु-बल छीन।
रक्तहि पानी सम करे, दो गुन अवगुन तीन॥"

यह ठीक है कि काफी में कफ़ और बादी दूर करने की शक्ति है। लेकिन यही गुण और चीज़ों में भी तो मौजूद हैं। केवल इन्हीं गुणों को ग्रहण करने के लिए यदि अदरक का रस पिया जाय तो आवश्यकता पूरी हो सकती है। इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि हमारे शरीर में वीर्य ही सब से अमूल्य पदार्थ है। ऐसी अवस्था में हमारे वीर्य को जिस चीज़ से नुक़सान पहुँचे उसके छोड़ देने में ही कल्याण है।

कोको में भी यह सब दोष होते हैं। चाय के समान उसमें भी वे दोष पाये जाते हैं जो चमड़े को बिलकुल संज्ञाशून्य कर देते हैं।

जो लोग आरोग्य में नीति का समावेश करते हैं उनके सामने इन तीनों वस्तुओं के सम्बन्ध में नीचे लिखी दलीलें पेश की जा सकती हैं। चाय, काफ़ी, कोको अधिकतर उन मजदूरों के द्वारा उत्पन्न की जाती हैं जो शर्तबंधे कुली बनकर चाय-बगीचों में जाते हैं। जहां कोको की उपज होती है वहां मजदूरों पर होते हुए ज़ुल्मों को यदि हम अपनी आंखों से देख लें तो उसके ग्रहण की ज़रा भी इच्छा न करें। कोको के खेतों में होने वाले ज़ुल्मों पर बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। यदि हम सब अपनी ख़ुराक की उत्पत्ति के विषय में पूरा ज्ञान प्राप्त करें तो सौ में से नब्बे वस्तुओं का त्याग अवश्य कर दें।

इन तीनों वस्तुओं के बदले नीचे लिखे ढंग से निर्दोष और पुष्टिकारक चाय बन सकती है। चाय के स्थान पर इसको मज़े में पी सकते हैं। काफ़ी और इस निर्दोष चाय के स्वाद में इतना कम अन्तर है कि उसे काफ़ी पीनेवाले भी नहीं समझ सकते। पहले गेहूं को साफ़ तवे या कढ़ाही में डालकर चूल्हे पर भूनना चाहिए। खूब लाल हो जाने पर उतार लेना चाहिए और काफ़ी दलने वाली छोटी चक्की में साधारण तौर पर बारीक दल लेना चाहिए। इसमें से एक चम्मच भर कर प्याले में डालकर उसपर उबलता हुआ पानी डाल देना चाहिए। यदि इसे एक मिनट तक चूल्हे पर चढ़ा रहने दिया जाय तो और भी अच्छा हो। आवश्यकता होने पर दूध और शकर भी मिलाई जा सकती है। और शकर-दूध

के बिना भी इसको पी सकते हैं। पाठक इसका प्रयोग करके देख सकते हैं। इसे ग्रहण करके जो लोग चाय, काफी और कोको छोड़ देंगे उनके पैसे बचेंगे और स्वास्थ्यरक्षा भी होगी।

चौथा परिच्छेद

१—भोजन के अन्य पदार्थ

अभी तक ऊपर की पंक्तियों में उन चीज़ों पर विचार किया गया है जो बिलकुल ही छोड़ देने योग्य हैं। अब आगे उन पदार्थों पर विचार करना है जो हमारे खाने के पदार्थ हैं।

ख़ुराक के विचार से संसार के तीन बड़े-बड़े विभाग हो सकते हैं। पहले विभाग में वे मनुष्य हैं जो अपनी ख़ुशी से अथवा विवश होकर वनस्पति से उत्पन्न चीज़ों पर निर्वाह करते हैं। यह विभाग सब से बड़ा है। इस में हिन्दुस्तान का सब से बड़ा भाग, योरप का बहुत बड़ा भाग और चीन-जापान का अधिक बड़ा भाग आ जाता है। इस भाग के बहुत थोड़े लोग केवल धर्मरक्षा के विचार से वनस्पति का प्रयोग करते हैं। बाक़ी लोग, जो बहुत बड़ी संख्या में हैं, वनस्पति से उत्पन्न पदार्थों का केवल इसीलिए प्रयोग करते हैं कि म्

आदि प्राप्त करने में वे असमर्थ होते हैं और इसीलिए जब कभी मौक़ा मिल जाता है तो बड़े मज़े में मांस-मदिरा का सेवन करते हैं। इस प्रकार के मनुष्यों में इटालियन, आयरिश, स्काटलैण्ड के अधिकांश मनुष्य, रूस के ग़रीब मज़दूर और चीन-जापान के प्रायः सभी लोग गिने जाते हैं। इटली के लोगों का प्रधान भोजन मेकेरोनी, आयरलैंड के निवासियों का पोटैटो (आलू) स्काटलैंड-वालों का ओटमील (जयी) और चीन-जापान-वालों का चावल है। दूसरा भाग उन लोगों का है, जो वनस्पति के साथ कई प्रकार का मांस और मछली आदि एक अथवा कई बार सदा खाया करते हैं। इसमें इंगलैंड का अधिक भाग आता है। साथ ही हिन्दुस्तान के मालदार मुसलमान और वे धनी हिन्दू, जिसमें मांस खाना धर्म-दृष्टि से बुरा नहीं है, तथा धनाढ्य चीनी-जापानी भी, इसी विभाग में गिने जाते हैं। यह भाग भी बड़ा है; किन्तु पहले के मुक़ाबले में बहुत छोटा है। तीसरा भाग वह है जिसमें ठंडे देशों के रहनेवाले बहुतेरे जंगली आदमी शामिल हैं। जो केवल मांस खा-खाकर अपना जीवन बिताते हैं। यह भाग बहुत ही छोटा है और यह भी, ज्यों ज्यों योरप के यात्रियों के संसर्ग में आता जाता है, त्यों त्यों अपनी ख़ुराक के साथ-साथ वनस्पति को भी दाख़िल करता जाता है। इस विचार से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि मनुष्य तीन प्रकार से जी सकता है। परन्तु हमें तो विचार इस बात का करना है कि सब से अधिक आरोग्य-वर्द्धक ख़ुराक क्या है।

२—फलाहार

शरीर की बनावट पर विचार करने से जान पड़ता है कि प्रकृति ने मनुष्य को वनस्पति खानेवाला बनाया है। अन्य फलाहारी जीवों की बनावट से वह बहुत अधिक मिलता है। बन्दर को लीजिए। यह मनुष्य से मिलता है। इसकी खुराक हरे और सूखे फल हैं। इसके दांत और मेदा—दोनों हमसे बिलकुल मिलते हैं। किन्तु सिंह, बाघ आदि फाड़ खानेवाले जीवों के दांत और उनके मेदे की बनावट हमारे अंगों से सर्वथा निराली है। हमारे शरीर में उनकी भांति पंजे नहीं होते। अन्य निरामिषभोजी—जैसे गाय, बैल इत्यादि पशुओं से भी हम कुछ-कुछ मिलते हैं। पर ढेर की ढेर घास खा जाने के लिए उनके जो आंतें इत्यादि हैं, वे हममें नहीं हैं। अनेक वैज्ञानिक इसी आधार पर कहते हैं कि मनुष्य मांसाहारी नहीं है। इतनाही नहीं, वह चाहे जिस वनस्पति के खाने के लिए भी नहीं बना है। उसकी असली खुराक तो वनस्पति में भी कोई खास-खास फल आदि ही होनी चाहिए।

रसायन-शास्त्रियों ने प्रयोग करके बताया है कि मनुष्य के निर्वाह के लिए जिन तत्वों की आवश्यकता है, वे सब तत्व फलों में पाये जाते हैं। केले, नारंगी, खजूर, अंजीर, सेब, अनन्नास, बादाम, अखरोट, मूंगफली, नारियल आदि में तन्दुरुस्ती के कायम रखनेवाले सार तत्व हैं। इन वैज्ञानिकों का मत है कि मनुष्य को रसोई पकाने की कोई आवश्यकता

जैतून का तेल, नीबू या इसी प्रकार का और कोई फल तथा खजूर है। मैं नहीं कहता कि यह प्रयोग बराबर फलीभूत हुआ है। क्योंकि ऐसे बड़े भारी फेरफार का प्रभाव जानने के लिए छै महीने पर्याप्त नहीं हैं। परन्तु इतना तो तब भी कहा जा सकता है कि जब और मेरे साथी बीमार पड़े हैं, तब मेरी प्रकृति ठीक रही है। मुझ में पहले जितनी मानसिक और शारीरिक शक्ति थी, उससे अब ज़्यादा बढ़ गई है। शारीरिक शक्ति के सम्बन्ध में मैं कह सकता हूं कि पहले जितना भार मैं उठा सकता था, उतना कदाचित मुझ से न भी उठे; परन्तु पहले जितने समय तक मैं मजदूरी कर सकता था उससे अधिक समय तक—बिना किसी प्रकार की थकावट के—श्रम कर सकता हूं। कितने ही बीमारों पर मैंने इस प्रकार की खुराक की आजमाइश की, तो उसका परिणाम बड़ा ही आश्चर्यकारक हुआ है। उसका वर्णन मैं बीमारी के प्रकरण में करूंगा। कहने का मतलब यह है कि दूसरों के और अपने निजी अनुभव से, और जो कुछ पढ़कर मैंने विचार किया है, उससे इतना जान पड़ता है कि फलाहार एक प्रकार की उत्तम खुराक है।

मैं इस बात को नहीं मानता कि इस प्रकरण को पढ़कर कोई फलाहार का प्रयोग करने लगेगा। मेरे इस लेख का असर शायद ही पढ़नेवालों पर हो, परन्तु मुझे तो सत्य बात लिखना है। और मेरी ऐसी ही धारणा है। फिर मेरा यह कर्तव्य है कि जो कुछ मुझे ठीक जान पड़े वही मैं बतलाऊं।

परन्तु किसी पढ़ने वाले के जी में फलाहार का प्रयोग करने की इच्छा हो तो उसके प्रति मेरी यह नम्र सूचना है कि वह एकदम न कूदकर धीरे-धीरे इस विषय के अभ्यास को बढ़ावे। पुस्तक की सभी बातों को पढ़ने के पश्चात् सार खींचकर—समझ कर—जो कुछ उसे उचित जान पड़े, करे।

३—बनस्पति

अब हम दूसरे प्रकार की खुराक पर विचार करते हैं। मेरा विश्वास है कि लोगों को यह ज़्यादा पसंद आयेगी। फलाहार के सम्बन्ध की बातें भी इसे समझ लेने से अच्छी तरह समझ में आ जायँगी। इन पंक्तियों को पढ़नेवालों से मेरी प्रार्थना है कि सब परिच्छेदों को पढ़ लेने के बाद ही वे अपने विचारों का निर्णय करें।

दूसरे दर्जे की खुराक वनस्पति है। इसमें शाक-भाजी, अन्य द्विदल अन्न और दूध आदि का समावेश होता है। जैसे फलाहार में मनुष्य के लिए आवश्यक तत्व मिल जाते हैं उसी प्रकार वनस्पति में भी मिलते हैं। इतना होने पर भी दोनों का असर एक-सा नहीं होता। हमें जो तत्व खुराक से मिलते हैं, उनमें के कितने ही तत्व हवा में भी हैं। उन्हें हवा में से ग्रहण करने पर भी, खुराक के बिना, हम अपना काम नहीं चला सकते। वनस्पति को पकाने से उसका असली तत्व नहीं रहता। वह निर्वीज हो जाती है। परन्तु हम बहुत करके वनस्पति को पकाये बिना नहीं खा सकते। यदि मनुष्य को

के खाने योग्य नहीं होतीं। घर पर बनाई हुई फुलकियों और रोटियों को छोड़कर बाजार की रोटियों से पेट भरना केवल आलस्य की निशानी समझना चाहिए।

गेहूं के खाने का दूसरा उत्तम और सहज उपाय यह है कि गेहूं को मोटा मोटा दलकर उस का दलिया बनाना चाहिए। फिर इस दलिया को पानी में पकाकर उस में दूध-घी-शक्कर मिलाकर खाना चाहिए। इस का स्वाद भी अच्छा होता है और यह खुराक और खुराकों से अच्छी है।

चावल में सत्व नहीं होता। इस विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि अकेले चावल पर मनुष्य का निर्वाह हो सकता है या नहीं। देखा गया है कि उसके साथ दाल, घी, दूध आदि खाये जाते हैं और तभी निर्वाह होता है। गेहूं एक ऐसी वस्तु है कि उसे केवल पानी में भिगोकर खाने से भी मनुष्य तन्दुरुस्त रह सकता है।

शाक-भाजी हम ख़ासकर स्वाद के लिए खाते हैं। उसका गुण रेचक है। अतएव यह कुछ अंशों में रक्त का सुधार करती है। परन्तु कठिनाई से पचती है। क्योंकि यह एक प्रकार की घास ही होती है। इससे कोठे को ज़्यादा काम करना पड़ता है। सब को अनुभव होगा कि जो शाक-भाजी ज़्यादा खाते हैं उनके शरीर की गठन निर्बल होती है। उन्हें बार-बार अपच हो जाता है। वे अजीर्ण की दवा लिया ही करते हैं। यह हम अच्छी तरह से देख सकते हैं कि बहुत सी शाक-भाजियां तो बिलकुल घास ही होती हैं। इससे यह

बात याद रखनी चाहिए कि शाक-भाजी खानी चाहिए, परन्तु बहुत ही कम।

चने, उड़द, मूंग, मोठ, मटर, मसूर, अरहर आदि की दाल बहुत भारी खूराक है। इसे पचाने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। इसके लिए कोठे में गहरी आग चाहिए। इन्हें खानेवाले मनुष्य को बार-बार वायु सरता रहता है। इसका अर्थ यही है कि वे ठीक-ठीक नहीं पचतीं। इन वस्तुओं में यह गुण अवश्य है कि इनसे भूख देर में लगती है—इन्हें खाकर मनुष्य ज़्यादा समय तक रह सकता है। जिस मनुष्य को मजदूरी करनी पड़ती है, उसके लिए इनका खाना ठीक हो सकता है। और उसे फ़ायदा भी हो सकता है। परन्तु साधारणतया कम परिश्रम करनेवाले इन्हें अधिक नहीं खा सकते। मजदूर और गद्दी पर बैठनेवालों की खुराक समान नहीं हो सकती।

डाक्टर हेग इङ्गलैण्ड का एक प्रख्यात लेखक है। उसने बहुत से प्रयोग करके सिद्ध कर दिया है कि दालवाली चीज़ें बहुत ही ख़राब होती हैं। इनसे हमारे शरीर में एक प्रकार का एसिड विष पैदा होता है और उससे हमें बहुत से रोग पैदा हो जाते हैं, जिनके कारण हम जल्दी ही बूढ़े हो जाते हैं। ऐसा होने के उसने बहुत से कारण बताये हैं। जिन्हें यहां लिखने की आवश्यकता नहीं है। मेरा निजी अनुभव यह है कि इन वस्तुओं के खाने से नुकसान ही है। इतने पर भी जिनसे स्वाद न छोड़ा जाय उन्हें ऐसी वस्तु विचार कर खानी चाहिए।

५—मसाला

अब हमें इस बात का विचार करना चाहिए कि वनस्पात में कितनी वस्तुएँ छोड़ने के योग्य हैं। हिन्दुस्तान में लगभग सब जगह मिर्च, मसाला, धनिया, जीरा, काली मिर्च वगैरह खाने की बड़ी भारी चाल है। यह चाल और जगह नहीं है। यदि हम इस मसाले की खुराक अफ्रीका के हबशियों को खिलायें, तो वे भी यकायक इसे न खायेंगे। क्योंकि उन्हें यह बेस्वाद मालूम होती है। बहुत से गोरे—जिन्हें मसाले की आदत नहीं है, हमारे मसालेदार भोजन को नहीं खा सकते। और कदाचित् बेबस उन्हें ऐसा भोजन करना ही पड़े तो उनका कोठा खराब हो जाता है। और उनके मुख में छाले पड़ जाते हैं। कितने ही गोरों के सम्बन्ध में यह मैंने स्वयं अनुभव किया है। इससे साबित होता है कि मसाला स्वयं कुछ स्वादिष्ट नहीं है। परन्तु बहुत समय से उसके खाने की हमें आदत पड़ी हुई है, इस कारण हम उसकी गन्ध और स्वाद को पसन्द करते हैं। परन्तु इस बात को तो हम समझ चुके कि स्वाद के लिए मसाला खाना स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचाता है।

अब हमें इस बात का पता लगाना चाहिए कि मसाला क्यों खाया जाता है। यह बात तो सब लोग स्वीकार करेंगे कि मसाला खाने का कारण यही है कि खाना ज्यादा खाया जा सके, और अधिक पचे भी। मिर्च, धनिया, जीरा वगैरह

का यह खास गुण है कि वह हमारे पेट की अग्नि को अधिक उत्तेजित करता है और इससे हमें विशेष भूख लगती हुई जान पड़ती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं करना चाहिए कि खाया हुआ भोजन सब का सब पच जाता है और उसका उत्तम रक्त बन जाता है। बहुत से मनुष्यों का, जो अधिक मसाला खाते हैं, कोठा ख़राब हो जाता है। और कितनों ही को संग्रहणी हो जाती है। एक मनुष्य को अधिक मिर्च खाने की बड़ी आदत थी। वह उसे छोड़ न सका और जवानी के समय छः महीने पड़ा रहकर अंत में मर गया। इसलिए अपनी ख़ुराक में से मसाले को निकाल देना ही कल्याण-कारी है।

६—नमक

जो बात मसाले के सम्बन्ध में कही गई है, वही नमक के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। परन्तु यह बात किसी को पसंद न आवेगी। यहाँ तक कि बहुतों को तो भयंकर जान पड़ेगी। परन्तु यह निश्चित है कि ऊपर जो कुछ मसाले के सम्बन्ध में कहा गया है वह अनुभूत है। विलायत में एक ऐसी मण्डली है, जिसका मत है कि नमक बहुत से मसालों से भी ख़राब वस्तु है। हमारी ख़ुराक में हमें जितना वनस्पति-जन्य नमक मिलता है वह काफ़ी है; और उतने की आवश्यकता भी है। ... खान का नमक ... नहीं है। वह जैसा ... है वैसा ही ...

रास्ते या अन्य मार्गों से बाहर निकल जाता है। इस
कोई खास उपयोग शरीर में होता हुआ नहीं जान पड़
एक पुस्तक में तो यहाँ तक लिखा हुआ है कि नमक से र
बिगड़ता है। जिसने वर्षों से नमक न खाया हो, और दू
तरीकों से रक्त को बिगड़ने से बचाकर सुरक्षित रखा
उस पर साँप के काटने का कुछ असर नहीं होता। उस
में ऐसे दंशों के प्रभाव को दूर करने की एक खास श
होती है। मैं नहीं जानता कि यह बात ठीक है या न
परन्तु इतना तो मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ
खांसी, अर्श, दमा, रक्त-प्रवाह, वग़ैरह बीमारियों की द
में नमक छोड़ दिया जाय तो उसका असर तत्काल हो
है। एक हिन्दुस्तानी को बहुत समय से दमा और खां
की बीमारी थी, वह नमक छोड़कर इलाज करने से मि
गई। मैंने न सुना है और न अपने अनुभव से जाना है
नमक छोड़ने से किसी पर बुरा असर पड़ा हो। मुझे
नमक छोड़े हुए दो वर्ष हो गये। परन्तु उसका अब तक को
बुरा असर नहीं पड़ा। बल्कि लाभ ही हुआ है। नमक न खा
से पानी कम पीना पड़ता है और सुस्ती कम आती है। मु
पर नमक छोड़ने का जो प्रसंग आया था, वह विचित्र ही था
जिसकी बीमारी के लिए मैं ने नमक छोड़ा था, उस की बीमा
सदा बनी रही। यदि वह बीमार भी नमक छोड़ देता तो मेरा
विश्वास है कि उसकी बीमारी बिलकुल अच्छी हो जाती।

नमक छोड़ने वाले देर दाल और शाक-भाजी भी छोड़

देनी पड़ती है। मैंने बहुत से प्रयोगों में देखा है कि यह बात बहुत ही कठिन है। परन्तु नमक के त्यागी को हरी तरकारी और दाल छोड़े बिना काम नहीं चल सकता। क्योंकि नमक के बिना दाल-शाक का पचाना कठिन है। इसका यह अर्थ नहीं है कि नमक पाचन-शक्ति को बढ़ानेवाली वस्तु है; परंतु जैसे मिर्च खाने से पाचन-शक्ति बढ़ती नहीं—बढ़ती-सी केवल जान पड़ती है—और अंत में उससे नुकसान होता है, वही हाल नमक का भी है। नमक छोड़ने वाले को दाल-शाक अवश्य छोड़ देना चाहिए। इस प्रयोग को सब कोई अपने ऊपर ही आज़मा कर उसके असर को देख सकते हैं। जैसे अफीम छोड़ने वाले को थोड़े दिनों तक कष्ट मालूम होता है और शरीर शिथिल-सा जान पड़ता है, वैसा ही नमक छोड़ने वाले को जान पड़ेगा। परन्तु इससे विचलित होने की कोई ज़रूरत नहीं है। धैर्य रखने से नमक छोड़नेवाले को लाभ ही पहुँचेगा।

७—दूध

इस लेखक ने दूध को भी छोड़ने योग्य वस्तुओं में गिनने का साहस किया है। इसका कारण उसका निजी अनुभव है। परन्तु यहाँ पर उस अनुभव के ज़िक्र करने की आवश्यकता नहीं। दूध के महात्म्य के सम्बन्ध में हम लोगों का एक ऐसा भ्रम-सा हो गया है कि उसके निकालने का यत्न करना व्यर्थ है। इस ले [illegible] बात का भरोसा नहीं

इस पुस्तक में बतलाये हुए विचारों को पढ़ने वाले स्वीकार करेंगे, और न यही भरोसा है कि जिन्हें ये विचार पसंद होंगे, वे सब इन पर अमल करेंगे। लेखक का मतलब केवल विचारों को प्रकट करना है। इनमें जिन्हें जो विचार पसंद हों, उन्हें वे ग्रहण करें। अतएव दूध के सम्बन्ध में भी लिखना अयोग्य नहीं जान पड़ता। बहुत से डाक्टरों ने लिखा है कि दूध काल-ज्वर पैदा करने वाली वस्तु है। इसके सम्बन्ध में बहुत-सी पुस्तकें और मासिक पत्र निकलते हैं। दूध में हवा लगने से तुरन्त ही हानिकारक जंतु पैदा हो जाते हैं। दूध को ठीक रखने के लिए बहुत-सी झंझटें उठानी पड़ती हैं। दक्षिण अफ्रिका में दूध के कारखानों के सम्बन्ध में कई क़ानून बने हुए हैं कि दूध को कैसे स्वच्छ रखा जाय—बरतन कैसे साफ़ किये जाँय, कैसे रखे जाँय इत्यादि। इस प्रकार जिस वस्तु के लिए बहुत यत्न करने पड़ें और कुछ भूल हो जाय तो नुकसान उठाना पड़े, ऐसी वस्तु छोड़ना चाहिए या रखना चाहिए, यह बात विचारणीय है।

इसके सिवा दूध का अच्छा या बुरापन इस बात पर निर्भर है कि गाय कैसी है और वह क्या खाती है। क्षयरोग से पीड़ित गाय का दूध पीने से क्षयरोग हो जाने के उदाहरण अनेक डाक्टरों ने दिये हैं और बिल्कुल स्वस्थ गाय का मिलना कठिन है। यदि गाय तन्दुरुस्त न हो तो उसका दूध अच्छा नहीं हो सकता। इस बात को सब कोई जानते हैं कि बीमार

[म]ाता के दूध पीने वाले बच्चे भी बीमार हो जाते हैं। दूध पीने [व]ाले बच्चे को बीमारी होती है तो वैद्य बच्चे को दवा न देकर [उ]सकी माँ को दवा देते हैं। कारण यह कि दवा का असर [द]ूध के द्वारा बच्चे पर हो जाता है। इसी तरह गाय [क]े दूध का उसके पीने वाले पर असर पड़ता है। [ग]ाय के स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य का प्रभाव भी उसके [द]ूध पीनेवाले पर पड़ता है। जिस दूध में इतनी विडम्बनायें और इतनी जोखिम है, क्या वह छोड़ने योग्य नहीं है? शक्ति देने का जो गुण दूध में बताया गया है, वह अन्य बहुत-सी चीज़ों में है। कई अंशों में जैतून के तेल से इसकी पूर्ति हो सकती है। अथवा बादाम की मीगी को गर्म पानी में भिगोकर उसका छिलका दूर करना चाहिए और उसे पीसकर पानी में मिला लेना चाहिए। इसमें दूध के सारे गुण होते हैं और दूध से उत्पन्न होने वाली खराबियां नहीं होतीं। अच्छा अब कुदरत के नियम की ओर भी ध्यान दीजिए। बछड़े थोड़े ही महीने दूध पीते हैं और दांत आते ही ऐसी चीज़ों का खाना आरम्भ कर देते हैं जो दांतों से खाई जाती है। यही मनुष्य-जाति के लिए भी होना चाहिए। हम केवल बचपन में दूध पीने को बने हैं। हमारे दांत आ जांय, तब हमें सेव वग़ैरह हरा मेवा और बादाम वग़ैरह सूखा मेवा अथवा रोटी चबाना चाहिए। इस बात के निर्णय करने का यह स्थान नहीं है कि दूध की गुलामी से छूटनेवाला मनुष्य कितना पैसा और समय बचा सकता है। परंतु इस बात का मनुष्य

है, स्वप्न होते हैं और प्रातःकाल उसकी जीभ बिगड़ी हुई होती है। जो प्रवाही पदार्थों को बहुत खाता और पीता है उसे रात में पेशाब करने को बहुत बार उठना पड़ता है। इस प्रकार, बारीकी के साथ देख कर, मनुष्य अपनी-अपनी खुराक की मर्यादा स्वयं नियत कर सकते हैं। बहुत से मनुष्य ऐसे होते हैं जिनके श्वास में बदबू होती है। उन्हें समझना चाहिए कि नियम से खुराक हजम नहीं हुई। कितनी ही बार देखा गया है कि ज्यादा खानेवालों के फोड़े-फुंसी हो जाते हैं। मुंहासे निकला करते हैं। नाक में फुंसियां हो जाती हैं। परन्तु इन उपद्रवों को वे परवा नहीं करते। कितने ही लोगों को डकारें आया करती हैं और कितनों ही को वायु सरा करती है। इन सब बातों का यह अर्थ होता है कि हमारा पेट पाखाना हो गया है और हम पाखाने की पेटी को अपने साथ-साथ लिये फिरते हैं। यदि हमें अवकाश हो और हम इन बातों पर विचार करें तो हमें अपनी आदतों पर घृणा उत्पन्न हुए बिना न रहेगी। हम सदा के लिए ज्यादा खाना छोड़ देंगे औ खाने-पीने तथा ज्योनारों की बात भी न करेंगे। हमारी मेहमानदारी दूसरी ही तरह की हो जायगी। और हम स्वय सुखी रहकर मेहमान को सुखी बना सकेंगे। दावत का तो हम फिर नाम भी न लेंगे। हम दतौन करने के लिए किसी को न्योता नहीं देते। उसी प्रकार भोजन करना भी एक प्र[illegible] शारीरिक व्यवहार है, फिर इसके [illegible]
[illegible] एक करना चाहिए। मेहमा[illegible]

[मे]हमान, दोनों की कमबख़्ती आ जाती है। यह क्यों? इसका [उत्त]र यह है कि हमने अधिक खाने की आदतों से अपने मुँह [बि]गाड़ डाले हैं। इस कारण हम कुछ न कुछ खाने के बहाने [ढूँ]ढ़ा करते हैं। मेहमान को खूब भोजन कराकर उसके यहाँ [ख]ूब भोजन करने की इच्छा करते हैं। इस तरह खाने के एक [घण्टे] बाद ही यदि हम अपना मुँह, किसी स्वस्थ-शरीर-[वा]ले से सूँघने को कहें, और उसके विचार सुनें, तो हमें [ल]ज्जित होना पड़ेगा। बहुत से ऐसे भी शौकीन खानेवाले [हो]ते हैं जो अच्छा खाने के लिए, भोजन करने के बाद, [तु]रन्त फ्रूटसाल्ट पियेंगे और उलटी करके फिर खाने को [उ]ठ जायेंगे।

हम सबकी थोड़ी या बहुत ऐसी ही दशा है। इसलिए [ह]मारे महापुरुषों ने हमारे लिए उपवास या रोज़े आदि व्रत [ब]तलाये हैं। रोमन कैथेलिक क्रिश्चियनों में भी बहुत से उपवास [हैं]। केवल शरीर के आरोग्य के लिए ही यदि मनुष्य हर एक [पक्ष] में उपवास या एकाशन करे तो भी कुछ बुरा नहीं है। [इ]ससे बहुत कुछ फ़ायदा होगा। चौमासे में बहुत से हिन्दू एक [ब]ार खाने का व्रत लेते हैं। इस में आरोग्य का रहस्य भरा [ह]ुआ है। जब हवा में नमी होती है, सूर्य नहीं देख पड़ता, तब [क]ोठा कम काम करता है। अतएव ऐसे समय में कम ही [ख]ाना चाहिए।

अब हम इस बात का विचार करते हैं कि कितनी बार [ख]ाना चाहिए। हिन्दुस्तान में प्रायः मनुष्य दो ही बार खाते

हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो तीन बार खाते हैं। वे मज़दूर लोग हैं। और जो चार बार खानेवाले हैं, जान पड़ता है, वे अंगरेज़ी दवाएं प्रचलित होने के बाद पैदा हुए हैं। हाल में अमेरिका और इंगलैण्ड में ऐसी सभायें स्थापित हुई हैं जो मनुष्यों को दो बार से अधिक न खाने का उपदेश देती हैं। इन संस्थाओं का कहना है कि हमें सुबह का कलेवा न करना चाहिए। रात की निद्रा ही कलेवा का काम करती है। प्रातःकाल के समय हम भोजन करने के लिए नहीं, बल्कि काम करने को तैयार होते हैं। उनका मतलब है कि एक पहर काम कर चुकने के बाद ही हम खाने के योग्य होते हैं। ऐसे मनुष्य दिन में दो ही बार खाते हैं। वे दिन में चाय आदि भी नहीं पीते। इस विषय पर प्रसिद्ध डाक्टर ड्यूई ने एक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने कलेवा छोड़ने, कम खाने और उपवास करने के लाभ बड़ी अच्छी तरह बतलाये हैं। आठ वर्ष से मेरा भी यही अनुभव है कि युवा अवस्था के बाद दो बार से अधिक खाने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। मनुष्य के शरीर का संगठन हो चुकने के बाद न उसके बहुत बार खाने की आवश्यकता है और न अधिक परिमाण में ही खाने की आवश्यकता है।

छठा परिच्छेद

१—अग्नि से अछूते आहार के प्रयोग

बग़ैर राँधे हुए आहार का जो प्रयोग मैं कर रहा हूं, उसके सम्बन्ध में मेरे पास अंग्रेज़ी और गुजराती के पत्र अच्छी संख्या में आते रहते हैं। कई उसका परिणाम जानने को उत्सुक हैं। कुछ ने बिना पकाये आहार के अपने सफल प्रयोगों का वर्णन भी लिख भेजा है। इन अन्तिम प्रकार के पत्रों से मुझे पता चलता है कि बग़ैर रँधा हुआ (कच्चा) आहार करनेवालों की संख्या देश में काफ़ी है।

मेरे प्रयोग को दो महीने से अधिक समय हो गया। इतने ज़रा-से समय में अन्तिम फल नहीं जाना जा सकता। डाक्टर अन्सारी ने दिल्ली में मेरे शरीर की परीक्षा करके कहा था कि आज मेरा शरीर जितना नीरोग है उतना उन्होंने पहले कभी देखा हो, याद नहीं पड़ता। कोल्हापुर की बीमारी के बाद मेरे खून का जो दबाव १५५ से कम कभी पाया गया था, इस समय ११८ था; और नाड़ी का

४८। डा० अन्सारी के विचार में ११८ मामूली से कुछ कम था। मगर इसमें कोई ख़तरा न था। क्योंकि तब मलेरिया के हलके आक्रमण से मैं उठा ही था और केवल रसीले फल खाकर ही रहता था। कमज़ोरी—अगर सचमुच मुझमें हो—के सिवा मैं स्वयं भी और कोई ख़राबी नहीं देख रहा हूं। कमज़ोरी तो काल्पनिक भी हो सकती है। अतएव कुल मिलाकर यों कहा जा सकता है कि प्रयोग से अभी तो मुझे कोई भी शारीरिक हानि होती दिखाई नहीं पड़ती। अतएव फिलहाल तो प्रयोग चालू रहेगा।

प्रयोग का परिणाम उत्तम हुआ है। इसका कारण ऐसी खूराक के प्रति मेरा पक्षपात भी हो सकता है। जहां तक विकारों के साथ खूराक का सम्बन्ध है, कहा जा सकता है कि विकारों पर भी इस प्रयोग का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा है। आज मैं जिस सुन्दर मनःस्थिति का अनुभव कर रहा हूं, वैसी स्थिति का अनुभव दक्षिण अफ्रीका में जब मैं कच्ची खूराक खाता था, तब किया था। दक्षिण अफ्रीका के प्रयोग में और आज के प्रयोग में बड़ा भेद तो यह है कि पहले में शाक या गेहूं आदि अनाज का कोई स्थान न था। 'ट्यूबर क्युलोसिस' पर लिखे गये डाक्टर मूथू के ग्रंथ और फर्नेल मैंक फैरिसन की 'आहारप्रवेशिका' नामक उपदेशपूर्ण और सावधानी से लिखी गई पुस्तिका को पढ़कर प्रयोग को जारी रखने का मेरा निश्चय कहीं

र उम्दा प्रकाश डालनेवाला एक प्रकरण है और दूसरी में, जो के भारत-सन्तानों को समर्पित की गई है, बड़ी सरल और संक्षिप्त भाषा में गृहस्थ के लिए आवश्यक आहार-सम्बन्धी तमाम उपयोगी बातें बताई गई हैं। यह पुस्तक बड़ी सावधानी के साथ पढ़ी जाने योग्य है। मेरे विचार में ग्रन्थकार ने प्राणिज अन्न (जैसे; मांस और दूध) पर बहुत ज्यादा जोर दिया है, यद्यपि उनके लिए यह बिलकुल स्वाभाविक है। वनस्पति-जगत में मनुष्य के सम्पूर्ण पोषण की जो अनन्त सामग्री पड़ी है, वर्तमान मेडिकल (औषधि)-विज्ञान ने इस क्षेत्र को अछूता ही रहने दिया है। और सहज स्वभाव के वश होकर मांस, और मांस नहीं तो दूध, या उसके अन्य पदार्थों पर ही ज़ोर दिया है। भारतीय चिकित्सकों का, जो परम्परा से शाकाहारी हैं, कर्त्तव्य है कि वे इस कार्य को पूरा करें। विटामिन या जीवनतत्व के नवीन आविष्कारों, और सीधे सूर्य से महत्व के विटामिन पाने की सम्भावना ने चिकित्सा-शास्त्र द्वारा प्रस्थापित और स्वीकृत आहार-सम्बन्धी कई सिद्धान्तों में क्रान्ति का क्षेत्र खड़ा कर दिया है। और चाहे जो हो, दोनों ग्रन्थकार इस बात पर तो मुझे एकमत होते मालूम पड़ते हैं कि तमाम खाद्य पदार्थ उनकी प्रकृत अवस्था में ही खाने चाहिएँ, बशर्ते कि हम उनसे ज्यादा लाभ उठाना चाहते हों और ख़ासकर अगर हम उनमें के कुछ महत्व-पूर्ण जीवनतत्वों को नष्ट न कर देना चाहते हों। उनका मत है कि आग से कुछ जीवनतत्व नष्ट हो जाते हैं,

और गेहूं के मैदे में से एवं पालिश किए हुए चावल में से क्षार और जीवन-तत्व का मोटा भाग निकल जाता है।

इस समय की मेरी खूराक का परिमाण यों है:—

पिसे हुए अंकुरित गेहूं	...	८ तोला
पिसी हुई बादाम	...	४ "
मग्ज बादाम	...	१ "
ककड़ी या आल	...	२० "
खट्टे नींबू	...	२ दाने
सूखे दाख (किसमिस)	...	२० दाने
शहद	...	४ तोला

एक महीने तक नमक नहीं लिया था। फिलहाल कुछ डाक्टर मित्रों के चेतावनी देने से और प्रयोग की दृष्टि से सिर्फ ३० ग्रेन नमक ले रहा हूं।

ऊपर बतलाई गई खूराक दो भागों में ली जाती है। सवेरे छै बजे एक तोला बादाम (मग्ज) चबा लेता हूं। गर्म पानी के साथ शहद तीन बार पीता हूं। दैनिक कार्यक्रम में अब तक किसी तरह की रुकावट नहीं आई है। न वजन घटा है।

पहिले मेरा ख़याल था कि कोई मेरे प्रयोग का जल्दी से अनुकरण न करें। मगर अब मैं कह सकता हूं कि दूध-घी के साथ जो यह प्रयोग करना चाहें, निश्चिन्त होकर कर सकते हैं। अगर वे क्रम-क्रम से बढ़ेंगे और अनाज को खूब चबा-चबाकर खायँगे तो हानि की जरा संभावना नहीं रहेगी, बल्कि लाभ की पूरी आशा रक्खी

जा सकती है। हां, खूराक का परिमाण ठीक-ठीक बनाए रखना चाहिए। अगर थोड़ा भी मुँह बिगड़े, हिचकियां आने लगें, कै या वमन हो, तो समझना चाहिए कि कोई न कोई पदार्थ ज्यादा खा लिया गया है। दूध लेनेवालों को बादाम की कोई ज़रूरत नहीं रहती, और चूंकि दूध-घी तो लेते ही हैं, अतएव बादाम को छूना भी न चाहिए। घी के बदले कच्चा—पानीवाला—नारियल पीस कर गेहूं चने के साथ लिया जा सकता है। नारियल का पिसा हुआ गूदा एक बार में चार तोला से ज्यादा न लिया जाय। मेरे प्रयोग में इस समय चने नहीं हैं। मगर प्रयोग करनेवाले अंकुरित चने या मूंग, बिना किसी भय के, ले सकते हैं। अगर नमक लेना हो तो थोड़ा लिया जाय। चार तोला गेहूं और दो तोला चनों से शुरुआत करने में कोई खटका नहीं रहता। मुझे शाक अधिक लेना पड़ता है। आम तौर पर उतना लेना ज़रूरी नहीं है। जिन्हें कब्ज़ियत हो, पालक आदि की भाजी लें। यह भाजी भी एक बार में चार तोले से ज्यादा न ली जाय। मेरे प्रयोग में शहद है, जो प्रत्येक प्रयोगकर्त्ता के लिए ज़रूरी नहीं है। कुछ दिनों के प्रयोग के बाद अगर किसी तरह का बखेड़ा न मालूम हो, जीभ साफ रहे और दस्त खुलकर आवे, तो आवश्यकता-नुसार गेहूं चने का परिमाण बढ़ाया जा सकता है। मज़बूत दांतवाले नारियल को छोड़कर और कोई भी चीज़ [illegible] कर न खायें। शुरुआत में दांत और जबड़े दुखने [illegible]

इस से कोई डरे नहीं। यह थकावट बतलाती है कि हमने दांत और जबड़ों का उपयोग करना—उन्हें कसरत देना छोड़ दिया था, उन पर अत्याचार किया था। ऊपर बतलाई खूराक को चबाने में कम से कम आधा घन्टा लगेगा, इस से भी ज्यादा लगे तो कोई घबरावें नहीं, न जल्दी-जल्दी चबाना शुरू करें। जब तक खूराक भली भांति पिसकर मुँह में लपसी न हो जाय, तब तक उसे गले के नीचे न उतारा जाय। इस तरह अधिक से अधिक पैंतालीस मिनट में जितना चबाया जाय, उतना चबाकर, जो बच रहे उसे दूसरी बार खाना चाहिए। इस खूराक में गेहूं, चने, और नारियल तो सवेरे से सांझ तक खुशी-खुशी रह सकते हैं। ली हुई भाजी के चबा जाने से कोई अड़चन नहीं होगी। चबाते-चबाते अगर बच ही जाय तो फेंक दी जा सकती है। सूखे दाख के बदले एक केला लेना अधिक अच्छा है। दिन भर में दो केलों से ज्यादा की ज़रूरत नहीं होती। इस से भी अच्छा तो यह है कि मौसमी फल लिये जांय। सूखे फलों की अपेक्षा ताज़े फल अच्छे होते हैं।

गुड़ लिया जा सकता है। सफ़ेद चीनी तो हरगिज़ न लेनी चाहिए। क्योंकि वह स्पष्टतया हानिकारक है। सूखे मेवे, अंजीर या खजूर से आवश्यक चीनी हमें मिल सकती है, लेकिन इनका उपयोग भी बहुत परिमित होना चाहिए। अगर ज़रूरत हो तो गेहूँ की मात्रा बढ़ा दी जा सकती है।

में कुछ समय तक पेट खाली-खाली-सा मालूम पड़ेगा।

इसका कारण पेट का वह दुरुपयोग है, जो हम लोग करते रहते हैं। जब तक वह अपनी पूर्व-स्थिति में न आ जाय, हम इस कष्ट को सहन कर लें। ऐसी भूख रसीले फल खाकर, कुछ अधिक भाजी लेकर, या अच्छी मात्रा में शुद्ध पानी पीकर कम की जा सकती है। गेहूं या चने की बतलाई हुई मात्रा में वृद्धि करके नहीं, अगर हालत खुशहाल हो तो, दूध अवश्य ही बढ़ाया जा सकता है। इस समय तीस से भी अधिक साथी मेरे साथ यह प्रयोग कर रहे हैं। उनके लिए जो ज्यादा-से-ज्यादा परिमाण रक्खा गया है, वह यों है।

अंकुरित गेहूं	...	२० तोला
" चना	...	८ "
भाजी	...	१६ "
नारियल	...	८ "
दाख	...	४ "
नींबू	...	१ "
दूध	...	आधा पौण्ड
ताज़े फल जब मिल जांय		
नारियल के बदले में दूध	...	२ तोला

गाँवों में, जहां भाजीपाला मुफ़्त मिल सकना चाहिए, बिलकुल नहीं मिलता। इसका कारण सिर्फ़ अज्ञान और आलस्य ही है। थोड़ी-सी ही मेहनत से खेत के एक हिस्से में या घर के आंगन में थोड़ी-बहुत शाक-भाजी पैदा की जा सकती है। भाजी बनाने में तो कुछ भी परिश्रम नहीं है

बहुतेरी भाजी तो अपने आप उग आती है। ऐसी बहुतेरी भाजी खाने योग्य भी होती है। और इस प्रयोग में भाजी एक अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। हर तरह की भाजी कोमल होनी चाहिए, और उसे पानी से भली भांति साफ़ कर लेना चाहिए। आलू वग़ैरह भी बूढ़ी न हों। इनकी छाल न निकाली जानी चाहिए। हां, छाल को बोथी छुरी से घिस कर साफ़ कर लेना चाहिए। बहुमूल्य क्षार छाल के नीचे ही रहते हैं। छाल निकालकर शाक का गूदा-मात्र रखने से शाक की क़ीमत आधी रह जाती है।

जो इस लेख को पढ़कर प्रयोग करने को ललचाएं, वे नियमानुसार प्रयोग शुरू करें। नियमित-रूप से रोज़नामचा लिखें। हर एक वस्तु को तौलकर लें और उसकी क़ीमत भी लिखते रहें। शरीर में मालूम होनेवाले परिवर्तन और मल-मूत्रादि की स्थिति भी नोट करते रहें। इस तरह का टिप्पणीपूर्ण रोज़नामचा उनके खुद के लिए और दूसरों के लिए भी मार्गदर्शक होगा। प्रयोग शुरू करते समय अपने शरीर का वज़न करा लेना चाहिए।

२—अनपक्व आहार

जो पत्र मेरे नाम आते हैं उन से मुझे पता चलता है कि इस प्रयोग के नतीजों को जानने के लिए बहुतेरे पाठक उत्सुक हैं। यह भी मालूम होता है कि कुछ पाठकों ने इसे शुरू भी किया है। अतः अगर हो सका तो मैं हर हफ़्ते

उद्योग-मन्दिर में किये जानेवाले प्रयोग के बारे में लिखने की आशा रखता हूं।

शुरुआत में तो उत्साहवश लगभग ४० व्यक्तियों ने प्रयोग शुरू किया है। उन में कुछ स्त्रियाँ और बालक भी थे। किसी को मना करने की मेरी इच्छा न हुई। बालकों ने तो जल्दी छोड़ दिया, फिर स्त्रियाँ भी छोड़ बैठीं। अब इक्कीस व्यक्ति प्रयोग कर रहे हैं, जिन में एक स्त्री है। जो टिके हैं उन के प्रयोग में से ठीक-ठीक सीखने को मिल रहा है। आज-कल लगभग सब ने दूध छोड़ दिया है। इस कारण प्रयोग और भी कठोर होगया है। इस बात की तफसील में जाने की ज़रूरत नहीं है। इन दिनों गोपालरावजी मन्दिर में आए हैं; और उन्होंने खूराक का परिमाण बढ़ाया है। अब तक के अवलोकन के आधार पर कह सकता हूं कि:—

१—जो दूध के साथ प्रयोग करें, उन्हें कमज़ोरी का कोई डर रखने की ज़रूरत नहीं है।

२—कच्चे अंकुरित गेहूं और द्विदल पचाने में कोई भी कठिनाई नहीं होती।

३—प्रयोग में नारियल के दूध से अच्छी-सी सहायता मिलती है। नारियल को 'कस' कर उस में उसी का या दूसरा पानी मिलाकर साफ़ खादी के रूमाल में छान लेने से दूध निकल सकता है।

४—हद से ज्यादा ली हुई खूराक, अन्य खूराक की ही तरह नुकसान पहुँचाती है।

अपने बयान में बड़ी सावधानी, सचाई और संयम से काम लेना चाहिए और बड़ी छानबीन के साथ किसी निश्चय पर पहुँचना चाहिए।

मैं सफलता को भासमान या दिखाई देनेवाली इसलिए कहता हूं कि अग्नि से अछूते आहार में आज भी मुझे वही विश्वास है, जो आज से क़रीब चालीस साल पहले था। नाकामयाबी का कारण तो यह है कि अग्नि से अछूते आहार के प्रयोग की विधि और उसकी ठीक-ठीक मिक़दार का मुझे सच्चा ज्ञान न था। इस प्रयोग के जो दो-चार अच्छे परिणाम निकलते हैं वे सचमुच आश्चर्यजनक हैं। किसी को गम्भीर पीड़ा नहीं उठानी पड़ी। जिस किसी डाक्टर ने मेरे स्वास्थ्य की जाँच की है, हरएक ने उसे पहले से बेहतर बतलाया है। अपने साथियों के लिए मेरी रहनुमाई, एक अन्धे रहनुमा के अन्धे साथियों-सी थी। मुझे इस बात का दुख है कि इस प्रयोग के लिए कोई ऐसा रहनुमा न मिला जिसे अग्नि से अछूते आहार की बारीकियों से जानकारी और एक वैज्ञानिक का-सा धैर्य प्राप्त होता।

लेकिन अगर मेरी तन्दुरुस्ती ठीक हो गई और मुझे थोड़ा अवकाश मिला तो मैं इन ग़लतियों से बचने का लाभ उठाकर फिर से कच्चे अन्न का प्रयोग शुरू करने की आशा रखता हूँ। एक सत्य-शोधक के नाते मैं इस बात की खोज करना आवश्यक समझता हूं कि मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा को स्वस्थ रखने के लिए सम्पूर्ण आहार क्या हो सकता है।

रा विश्वास है कि इस तरह की खोज अग्नि से अछूते
आहार को लेकर ही सफल हो सकती है; और मैं यह भी
मानता हूं कि अन्तहीन वनस्पति-जगत में दूध का सम्पूर्ण
स्थान ले लेनेवाली कोई न कोई वनस्पति अवश्य है। क्योंकि
यह तो हरएक डाक्टर (मेडिकल मैन) कबूल करता है
कि दूध के अपने कुछ दोष हैं और कुदरत ने भी उसे छोटे
बच्चों और पशुओं के बछड़ों के लिए बनाया है। मनुष्यों के
लिए नहीं। अतः जो शोध मेरी दृष्टि में एक नहीं, बल्कि
अनेक दृष्टियों से इतना आवश्यक है, उसके लिए किया गया
कोई भी त्याग मेरी राय में महँगा न होना चाहिए। अतएव
आज भी मैं इस काम में दिलचस्पी लेनेवाले सज्जनों की
सलाह और रहनुमाई की आशा रखता हूं। जो लोग मेरे
जीवन के इस अंश से सहानुभूति नहीं रखते और मेरे प्रति
अपने प्रेम के कारण मेरे लिए चिन्तित हैं, उन्हें मैं विश्वास
दिलाता हूं कि मैं ऐसा कोई प्रयोग न करूँगा जिससे मेरे
दूसरे कामों को क्षति उठानी पड़े। मेरी अपनी राय तो यह
है कि यद्यपि मैं १८ वर्ष की उम्र से ऐसे प्रयोग करता रहा
हूं। मुझे बहुत कम बार गम्भीर बीमारियों का मुकाबला करना
पड़ा है; और मैं साधारणतया अपने स्वास्थ्य को भी सुन्दर
रख सका हूँ। मैं चाहता हूं कि मेरे साथ वे भी यह महसूस
करें कि जब तक ईश्वर इस दुनियाँ का कोई काम मुझसे
कराना चाहेगा, तब तक के लिए वह क्षति से मेरी रक्षा
करेगा और मुझे मर्यादा से बाहर जाने से रोकेगा।

जो लोग प्रयोग कर रहे हैं, वे मेरी क्षणिक रुकावट से प्रभावित होकर उसे छोड़ न दें। मेरी असफलता के कारण से वे कुछ-न-कुछ सीख ज़रूर लें।

१— यह ध्यान रहे कि अगर इस बात का थोड़ा भी शक हो कि भोजन बराबर चबाया नहीं जाता है, तो खुराक बारीक चबाकर मुँह में घुल जाने दो, वैसे ही न निगल जाओ।

२—अगर मुँह में कुछ ऐसा अंश रह जाय जो घुल न सकता, तो उसे बाहर निकाल डालो।

३—अनाज और दाल का बहुत थोड़ा उपयोग करो।

४—हरी भाजी तथा शाक पहले खूब धो लो और बाद उसकी छाल को ऊपर-ऊपर से छीलकर खाओ। इसका परिमाण भी थोड़ा ही रहे तो अच्छा।

५—आरम्भ में तो आहार की मुख्य चीज़ों में ताज़े और सूखे फल (भिगोए हुए) तथा नारियल वग़ैरह ही होना चाहिए।

६—जब तक कच्चा आहार करते-करते काफी लम्बा समय निर्विघ्न न बीत जाय तब तक दूध न छोड़ना ही अच्छा है। मैंने इस सम्बन्ध में जितना साहित्य पढ़ा है, सब में फल, मेवे, नारियल और थोड़ी हरी भाजी पर ही ज़ोर दिया है और उसी को सम्पूर्ण खुराक कहा है।

सातवां परिच्छेद

—०○—

१—हवा

शरीर की रचना का विवेचन करने से जान पड़ता है कि शरीर को तीन प्रकार की खुराक की आवश्यकता है। हवा, पानी और अन्न। इनमें सबसे ज़्यादा आवश्यक वस्तु हवा है। प्रकृति ने हवा इतनी ज़्यादा रखी है कि वह हमें मुफ़्त मिलती है। इतना होने पर भी वर्तमान समय के सुधार ने हवा को बहुमूल्य कर दिया है। वर्तमान समय में हमें हवा के लिए दूर-दूर देशों में जाना पड़ता है। और दूर जाने में पैसे ख़र्च होते हैं। बम्बई के रहनेवालों को माथेरान में हवा खाने को मिले तो उनकी प्रकृति सुधरती है। और बम्बई में मलाबार-हिल पर रह सकें तो उन्हें अच्छी हवा मिल सकती है। परन्तु ऐसा करने के लिए टके चाहिए। डरबन में रहनेवाले को अच्छी हवा प्राप्त करना हो तो उसे बेरिया जाना चाहिए। ये सब बातें पैसे के बिना पूर्ण नहीं की जा सकतीं। अतएव आजकल के ज़माने में यह कहना सर्वथा उचित नहीं गिना जा सकता कि हवा बिना मूल्य मिलती है।

हवा बिना मूल्य मिले या मूल्य में, परन्तु इसके बिना

हम एक घड़ी भी अपना निर्वाह नहीं कर सकते। हम बता चुके हैं कि रक्त सारे शरीर में फिरता है। वह फेफड़ों में आकर स्वच्छ होता है। और स्वच्छ होकर फिर चक्कर मारना आरम्भ कर देता है। यह क्रिया हमारे शरीर में दिन-रात होती रहती है। सांस बाहर निकालकर हम विषैली हवा को बाहर निकालते हैं और सांस लेकर हम हवा से प्राण वायु को भीतर पहुँचाते हैं। उसके द्वारा रक्त को शुद्ध करते हैं। यह श्वास-प्रश्वास चलता रहता है। इसी पर शरीर की ज़िन्दगी का आधार है। मनुष्य पानी में डूबकर मर जाता है। इसका अर्थ इतनाही है कि वह प्राणवायु को शरीर में नहीं पहुँचा सकता। और भीतर की विषैली हवा को बाहर नहीं निकाल सकता। डुबकी लगानेवाले बख़्तर पहनकर पानी में उतर जाते हैं। उन्हें पानी के बाहर निकली हुई नली के द्वारा बाहर की हवा पहुँचती रहती है। इससे वे अधिक समय तक पानी में रह सकते हैं।

कितने ही वैद्यों के प्रयोगों से साबित हुआ है कि यदि मनुष्य को हवा के बिना रखा जाये, तो पाँच मिनट में उसके प्राण निकल जायँगे। प्रायः देखा गया है कि माँ की रज़ाई में लिपटा हुआ बच्चा दम घुट जाने के कारण मर गया है। यह मृत्यु बालक के नाक और मुँह के बन्द हो जाने के कारण बाहर की हवा न मिलने से हो जाती है।

इन बातों से हम समझ सकते हैं कि हवा हमारी सबसे आवश्यक खुराक है। और वह हमें बिना मांगे मिलती है।

पानी और अन्न माँगने और खोजने से हमें मिलता है। परन्तु हवा तो हमें इच्छा किए बिना मिलती रहती है।

जैसे हम ख़राब पानी और अन्न ग्रहण करते हुए हिचकिचाते हैं, वैसे ही हमें हवा के सम्बन्ध में भी ध्यान रखना चाहिए। परन्तु हम जितना ख़राब अन्न-जल ग्रहण नहीं करते, उतनी ख़राब हवा ग्रहण करते हैं। इसका कारण यह है कि हम मूर्तिमान वस्तु को ही देखते हैं। हवा आँखों से नहीं देख पड़ती है। इस लिए हम इस बात का विचार नहीं कर पाते कि हम कितनी ख़राब हवा ग्रहण करते हैं। दूसरे के जूठे अन्न-जल को हम न खाते हैं और न पीते हैं, और हमें यदि उससे घृणा न भी हो तो ऐसे अन्न-जल को हम कभी ग्रहण न करेंगे। अकाल के मारे हुए मनुष्य के सामने भी ऐसी ख़ुराक रखी जाय तो वह मरना पसन्द करेगा, पर उस ख़ुराक को ग्रहण न करेगा। परन्तु दूसरों की फ़ूँक की हुई—प्रश्वास के द्वारा बाहर निकाली हुई—हवा को हम सब, बिना किसी प्रकार की घृणा के, ग्रहण करते रहते हैं। आरोग्य-शास्त्र के नियमानुसार यह हवा भी उस अन्न-जल के समान ख़राब ही है। ऐसा सिद्ध किया गया है कि एक मनुष्य का प्रश्वास दूसरे मनुष्य के फेफड़े में प्रविष्ट कर दिया जाय, तो उस दूसरे मनुष्य का तुरन्त ही मरण हो जायगा। प्रश्वास के इतने विषैले होने पर भी, उसे एक कोठरी में ठसाठस बैठे हुए या सोते हुए मनुष्य ग्रहण करते रहते हैं। मनुष्य का सौभाग्य है कि हवा ऐसी चञ्चल वस्तु है कि यह

सदा चलती रहती है और सर्वत्र फैल जाती है। इतना ही नहीं, बारीक से बारीक छिद्रों में भी वह प्रविष्ट हो जाती है। एक ओर कोठरी में इकट्ठा होकर हम हवा को खराब करते हैं; और दूसरी ओर दरवाज़ों की सन्धियों और छप्पर के छिद्रों में से जो थोड़ी बहुत बाहर की हवा आती रहती है, उससे हम बिलकुल प्रश्वास की ही हवा को ग्रहण नहीं करते। किन्तु हमारी बाहर निकली हुई हवा की निरन्तर शुद्धि होती रहती है। खुली हवा में हम प्रश्वास छोड़ते हैं तो वह क्षण भर में बाहर की हवा में फैल जाती है और उत्तम हवा की जो मिकदार (परिमाण) है उसे कुदरत रख लेती है। हवा बहुत बड़े विस्तार में इस छोटी-सी पृथ्वी के चारों ओर फैली हुई है।

अब हम समझ सकते हैं कि बहुत से मनुष्य निर्बल और बीमार क्यों रहा करते हैं। जहाँ तक देखा गया है, सौ में निन्नानवे की बीमारी का कारण खराब हवा है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। क्षय, बुख़ार और अनेक प्रकार के जो छूत के रोग हैं, उन सब का कारण हमारी ग्रहण की हुई हमारी खराब हवा है। अतएव इन रोगों को दूर करने का पहला और अंतिम सहज उपाय यही है कि हम अच्छी से अच्छी हवा को ग्रहण करें। इस उपाय को संसार में कोई वैद्य, डाक्टर या हकीम नहीं पहुँच सकता। क्षयरोग फेफड़े सड़ने की निशानी है। और फेफड़ा सड़ता है विषैली हवा से। जैसे इंजिन में खराब कोयले भरने से वह खराब हो

जाता है, वैसे ही खराब हवा के भरने से फेफड़े खराब हो जाते हैं। इस कारण समझदार डाक्टर क्षय के रोगी को चौबीसों घंटे खुली हवा में रखने का पहला उपाय करते हैं। अन्यान्य उपाय वे इस के बाद करते हैं।

फेफड़ों के द्वारा हम हवा को ग्रहण करते हैं, इतना ही नहीं, कुछ-कुछ त्वचा के द्वारा भी उसे ग्रहण करते हैं—त्वचा में जो असंख्य सूक्ष्म छिद्र हैं, उनके द्वारा हवा को ग्रहण करते हैं। अतएव इस बात को जानना प्रत्येक मनुष्य का काम है कि इतनी भारी आवश्यक वस्तु (हवा) कैसे स्वच्छ रखी जा सकती है। वास्तव में तो ऐसा होना चाहिए कि जब से बच्चा कुछ समझदार होने लगे, तभी से उसे हवा की आवश्यकता का ज्ञान करा देना चाहिए। इन परिच्छेदों के पढ़नेवाले इस सहज परन्तु अत्यन्त आवश्यक काम को करने का प्रयत्न करेंगे और स्वच्छ हवा के सम्बन्ध में सामान्य ज्ञान सम्पादन कर उसके अनुसार चलेंगे और अपने बाल-बच्चों को भी सब बातें समझाकर उसी भाँति चलाने का यत्न करेंगे, तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा।

हमारे पाख़ाने, हमारे बाड़े और ऐसे पेशाब करने के स्थान, जहाँ पेशाब-घर नहीं होता, हवा खराब होने के प्रधान साधन हैं। बहुत ही कम मनुष्य ऐसे हैं, जिन्हें पाखाने की गन्दगी से होते हुए नुकसान का अनुमान हो। कुत्ते-बिल्ली जो पाख़ाना फिरते हैं, तो बहुत करके वे अपने पंजों से, ज़मीन को खोदते हैं और उस गड्ढे में पाख़ाना फिर कर उस

पर मिट्टी डाल देते हैं। जहां पर सुधरे हुए ढंग के पानी के नलवाले पाख़ाने नहीं हैं वहां पर ऊपर की भांति क्रिया करने की ज़रूरत है। हमें अपने पाख़ानों में एक हौज़ राख या सूखी मिट्टी से भर रखना चाहिए, और जब-जब हम पाखाने जावें, तब-तब हमें, मैले को राख या सूखी मिट्टी से अच्छी तरह बंद कर देना चाहिए। ऐसा करने से बदबू नहीं फैलती और मक्खी-मच्छड़ वग़ैरह उड़नेवाले जीव-जंतु मैले पर बैठकर हमारे शरीर को नहीं छू सकते। जिनकी नाकें ख़राब नहीं हैं या जिन्हें मैले की दुर्गन्ध सहने की आदत नहीं हो गई है वे अच्छी तरह जान सकते हैं कि मैला खुला रखने से हवा में कैसी बदबू फैलती है। हमारे खाने में यदि कोई मैला मिलाकर हमारे सामने रख दे, तो हमें क़ै हो जायगी; परन्तु हम मैले की बदबू से भरी हुई हवा क्या श्वास के द्वारा खाते नहीं हैं ? सच बात तो यह है कि ऐसी हवा और मैला मिले हुए खाने में कुछ फ़र्क नहीं है। हां फ़र्क है तो इतना ही है, कि मैला मिले हुए खाने को हम आंख से देख सकते हैं और हवा में मिले हुए को नहीं देख सकते। पाख़ाने की बैठक, मोरी वग़ैरह, बिल्कुल साफ़ रखना चाहिए। अफ़सोस है कि ऐसा काम करने में हम शर्माते हैं, घृणा करते हैं, परन्तु वास्तव में देखा जाय तो हमें वैसे पाख़ाने काम में लाने से घृणा होनी चाहिए। जो मैला हमारे शरीर से निकलता है उसे हम दूसरे मनुष्यों के द्वारा उठवाते हैं। ऐसा न कर हमें स्वयं न अपना मैला साफ़ करना चाहिए। ऐसा करना कुछ

बुरा नहीं है। यह बात स्वयं हमें सीख कर अपने बच्चों को सिखानी चाहिए। मोरी जब भर जावे तब मल को हाथ या आधे हाथ के गहरे गढ़े में गाड़कर ऊपर से खूब धूल पूर देना चाहिए। यदि हमे जंगल में पाख़ाना जाने की आदत हो तो मकानों से बहुत दूर अच्छी जगह में जाना चाहिए। वहां हाथ से एक छोटा सा गढ़ा खोदकर मल त्याग करना चाहिए और खोदी हुई मिट्टी उस पर पूर देना चाहिए। जहां तहां पेशाब करके भी हम हवा को ख़राब करते हैं। इस आदत को बिलकुल छोड़ देना चाहिए। जहां पर पेशाब-घर न हों, वहां पर घरों से दूर जाकर सूखी ज़मीन में पेशाब करना चाहिए और उस पर धूल डाल देना चाहिए। मल को ज्यादा गहराई में नहीं गाड़ने के दो प्रबल कारण हैं। एक तो यह कि मल गहराई में गाड़ने से उस पर सूर्य की गर्मी काम नहीं कर सकती; और दूसरे, उस के आस-पास के पानी के झरों को हानि पहुँचना सम्भव है।

बिना विचारे जहां तहां थूक देना भी अच्छा नहीं है। प्रायः थूक जहरीला होता है। क्षय के रोगी का थूक बहुत ही जहरीला होता है। उस के जन्तु उड़कर श्वास द्वारा दूसरों में प्रवेश कर जाते हैं और उन्हें नुक़सान पहुँचाते हैं। इसके सिवाय जहां तहां थूक देने से वे स्थान भी ख़राब होते हैं। इस विषय में हमारा कर्त्तव्य यह है कि हमें घरों के भीतर तो जहां तहां थूकना ही न चाहिए। एक पीकदानी रखनी चाहिए—चाहे वह मिट्टी की कुलिया ही क्यों न हो।

और यदि रास्ता चलते हुए थूकने की ज़रूरत जान पड़े तो ऐसी जगह थूकना चाहिए जहां पर सूखी ज़मीन में खूब धूल हो। ऐसा करने से थूक सूखी मिट्टी में मिल जायगा; और कम हानि पहुँचावेगा। कितने ही वैद्यों की तो सम्मति यह है कि क्षय के रोगियों को तो ऐसे बर्त्तनों में थूकना चाहिए जिनमें जन्तुनाशक दवा डाली गई हो; क्योंकि ऐसे बीमार के थूक के जन्तु सूखी ज़मीन की धूल में मर नहीं जाते। वह धूल उड़कर हवा में जाती है और उन जन्तुओं को फैलाती है। यह बात सही हो या न हो; परन्तु इस से हम इतना तो समझ सकते हैं कि जहां-तहां थूकने की आदत गन्दी और नुक़सान करनेवाली है।

सड़ा अनाज, तुस और शाक की पत्तियों को कुछ लोग योंही इधर उधर फेंक देते हैं। यदि उन्हें वे ज़मीन में कुछ गहराई पर गाड़ दें तो हवा ख़राब न हो और समय पाकर उपयोगी खाद तैयार हो जाय। सड़नेवाली कोई भी चीज़ खुली हवा में न फेंकना चाहिए। हर एक मनुष्य अपने अनुभव से समझ सकेगा कि इन बातों का जान लेना और अमल करना कितना आवश्यक है।

यह बात हम जान चुके हैं कि हमारी बुरी आदतों से हवा कैसे ख़राब होती है और हवा को ख़राब होने से कैसे बचाया जा सकता है। अब हम इस बात पर विचार करते हैं कि हवा कैसे ग्रहण की जाय।

हम इसके पहले बता चुके हैं कि हवा ग्रहण करने का मार्ग

नाक है, मुँह नहीं। इतने पर भी बहुत ही कम ऐसे आदमी हैं जिन्हें श्वास लेना आता हो। बहुत से लोग मुँह से श्वास लेते हुए भी देखे जाते हैं। यह आदत नुकसान करती है। बहुत ठंडी हवा जो मुँह से ग्रहण की जाय तो प्रायः सरदी हो जाती है। स्वर बैठ जाता है। हवा के साथ धूल के कण सांस लेनेवालों के फेफड़ों में घुस जाते हैं और फेफड़ों को नुकसान पहुँचाते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव विलायत के शहरों में स्पष्ट देखा जाता है। वहां पर बहुत से कल-कारखानों के कारण नवम्बर मास में बहुत ही फौग—पीली धूमस—होती है। उसमें बारीक-बारीक काले धूल के कण होते हैं। जो मनुष्य इस धूल भरी हवा को मुँह से ग्रहण करते हैं, उनके थूक में धूल देख पड़ने लगती है। ऐसा अनर्थ न होने के लिए बहुत सी स्त्रियां—जिन्हें नाक से सांस लेने की आदत नहीं होती—चेहरे पर जाली बाँधे रहती हैं। यह जाली चलनी का काम देती है। इसमें होकर जो हवा जाती है वह साफ़ हो जाती है। इस जाली को उतार कर देखने से उस में धूल के कण दिखाई देते हैं। ऐसी ही चलनी परमात्मा ने हमारी नाक में रखी है। नाक से ग्रहण की हुई हवा गरम होकर भीतर जाती है। इस बात को ध्यान में रखकर प्रत्येक मनुष्य को नाक के द्वारा ही हवा लेना सीखना चाहिए। यह कुछ कठिन नहीं है। जिस समय हम बोल न रहे हों या किसी से बात-चीत न कर रहे हों, उस समय हमें मुँह बन्द कर रखना चाहिए। जिन्हें मुँह खुला रखने की

आदत पड़ गई हो उन्हें मुँह पर पट्टी बाँध कर रात में सोना चाहिए। इससे लाचार होकर उन्हें नाक से ही सांस लेनी पड़ेगी। प्रातःकाल खुली हवा में भी उन्हें २०-२२ बार लम्बी-गहरी सांसें नाक के द्वारा लेनी चाहिएं। तन्दुरुस्त और नाक से सांस लेनेवाला आदमी भी प्रातःकाल गहरी सांसें लेने का अभ्यास करेगा तो उसका सीना मज़बूत और चौड़ा होगा। यह बात सब के आज़माने के लायक़ है। इसे आज़माने वाले को चाहिए कि वह पहले अपने सीने को नाप ले और फिर इस क्रिया को एक महीने तक करते जाये। उसे जान पड़ेगा कि इतने थोड़े समय में भी उसका सीना कुछ बढ़ गया है। सैण्डो वग़ैरह डम्बल की जो कसरत करते हैं उसमें भी यही रहस्य है। झपाटे के साथ डम्बल फिराने से खूब गहरी सांस लेनी पड़ती है और इससे सीना खूब मज़बूत और चौड़ा होता है।

इस प्रकार हवा लेने की रीति जान लेने के बाद रात-दिन सांस द्वारा खुली हवा लेने की आदत डालना आवश्यक है। हम लोगों की यह साधारण आदत सी पड़ गई है कि दिन में तो हम घर में या दूकान में बैठे रहते हैं और रात में जब सोते हैं तब तिजोरी की भाँति बन्द कोठरी में सो जाते हैं और खिड़की-दरवाज़े हों तो उन्हें भी बन्द कर लेते हैं। यह बात बड़ी निन्दनीय है। जितने समय तक हो सके उतने समय तक—खासकर सोते समय—खुली हवा ही में सोना चाहिए। हो सके तो खुले बरामदे, चाँदनी या मैदान में सोना

चाहिए। यदि ऐसा सुभीता न हो, तो जितने दरवाज़े और खिड़कियां खुली रखी जा सकें, खोल रखनी चाहिएं। हवा हमारी चौबीसों घन्टे खाने की खुराक है। इससे भय खाने की कोई बात नहीं है। ऐसा वहम कभी न करना चाहिए कि खुली हवा से या प्रातःकाल की हवा से बीमारी पैदा हो जायगी। जिन्होंने बुरी आदतों से अपने फेफड़ों को बिगाड़ लिया है, उन्हें खुली हवा में सर्दी हो जाना सम्भव है। परन्तु ऐसे मनुष्यों को भी ऐसी सर्दी से नहीं डरना चाहिए। यह सर्दी थोड़े-से अर्से में दूर हो जायगी। क्षय के रोगियों के लिए योरप में अब जगह-जगह खुली हवा के मकान बनाये गये हैं। देश में जो महामारी का उपद्रव रहा करता है, इसका खास कारण हमारी हवा बिगाड़ने और बिगड़ी हुई हवा के ग्रहण करने की बुरी आदत है। इस बात को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए कि नाज़ुक से नाज़ुक मनुष्य को भी खुली हवा के ग्रहण करने से लाभ ही होगा। अगर हम हवा को ख़राब न होने दें, और साफ़ हवा का लेना सीख लें, तो बहुतसे रोगों से सहज ही बच जावें और हम पर गन्दे रहने का जो दोष लगाया जाता है, वह कई अंशों में दूर हो जाय।

जैसे खुली हवा में सोना ज़रूरी है, वैसे ही मुँह न ढक कर सोना भी आवश्यक है। बहुत से लोगों की ऐसी आदत होती है कि वे मुँह ढककर सोते हैं। ऐसा करने से हम अपनी निकाली हुई विषैली हवा को फिर ग्रहण करते हैं। हवा एक

ऐसी वस्तु है जो थोड़ा भी मार्ग पा जाने पर भीतर घुस जाती है। हमारा ओढ़ना कैसा ही लिपटा हुआ क्यों न हो, उसमें होकर थोड़ी-बहुत हवा घुस ही जाती है। यदि ऐसा न होता तो मुँह ढककर सोनेवाला घुटकर ही मर जाता। परन्तु ऐसा नहीं होता, इसका कारण यही है कि थोड़ा-बहुत बाहर का प्राणवायु हमें मिल ही जाता है। परन्तु इतनी थोड़ी हवा पर्याप्त नहीं है। सिर को ठंढ लगती हो तो कुछ ओढ़ लेना चाहिए, टोपी पहन लेना चाहिए; परन्तु नाक तो इस दशा में भी खुली ही रखनी चाहिए। कितनी ही ठंढ क्यों न पड़ती हो, नाक को खुली रखकर ही सोना चाहिए।

२—उजेला

हवा और उजेले का इतना निकट-सम्बन्ध है कि उजेले के विषय में दो बातें इस परिच्छेद में लिखना आवश्यक जान पड़ता है। जैसे हम हवा के बिना नहीं रह सकते, वैसे ही उजेले के बिना भी जीते नहीं रह सकते। नरक में हवा ख़राब होती है, सो इस लिए कि वहाँ पर उजेले का अभाव है। जहाँ प्रकाश नहीं होता, वहां की हवा ख़राब होती है। यदि हम किसी अँधेरी कोठरी में घुसें तो वहां की हवा में हमें बदबू आवेगी। अँधेरे में हमें देख नहीं पड़ता, यही इस बात को प्रकट करता है कि उजेले में ही रहने के लिए हम पैदा हुए हैं। जितने अँधेरे की हमें आवश्यकता है, परमेश्वर ने उतने अँधेरे वाली सुखदायी रात हमारे लिए बना दी है।

कितने ही आदमियों की ऐसी आदत होती है कि वे अतिशय गर्मी के दिनों में अपने अँधेरे तहखानों में खिड़की-दरवाज़े बन्द कर के सो रहते हैं। याद रखना चाहिए कि हवा और उजेले में न रहने वाले मनुष्य निर्बल और तेजहीन हो जाते हैं।

योरप में इन दिनों ऐसे डाक्टर हैं जो बीमार को खुली हवा और प्रकाश के द्वारा आराम करते हैं। वे चेहरे पर ही हवा और प्रकाश नहीं पहुँचाते, सारे शरीर की त्वचा पर उसका प्रयोग करते हैं। बीमार को वे करीब-करीब नंगा रखते हैं। ऐसे इलाज से सैकड़ों बीमार अच्छे होते देखे जाते हैं। हमें अपने घरों के सब खिड़की-दरवाज़े हवा और उजेले के आने-जाने के लिए खुले रखने चाहिए।

इसे पढ़कर बहुत से लोग शंका करेंगे, कि हवा और उजेले की इतनी आवश्यकता होती तो उन मनुष्यों को नुकसान क्यों नहीं पहुँचता जो अपनी कोठरियों में पड़े रहते हैं? मालूम होता है कि ऐसी शंका करनेवालों ने इस बात पर विचार नहीं किया कि हमारा काम, जैसे-तैसे, जिन्दगी को बिताना ही नहीं है; किन्तु पूर्ण आरोग्य रहना है। यह बात अच्छी तरह सिद्ध की गई है कि जहां-जहां लोग कम हवा और कम उजेले में निर्वाह करते हैं, वहां-वहां पर लोग बीमार रहते हैं। गावों के लोगों से शहर के लोग नाज़ुक होते हैं; क्योंकि उन्हें हवा और उजेला कम मिलता है। डरबन में लोगों को खांसी आदि रोग बहुत होते हैं, इसका कारण सरकारी डाक्टर ने अपनी रिपोर्ट में यह लिखा है कि वहां अच्छी हवा नहीं

मिलती अथवा उसे लोग लेते ही नहीं हैं। हवा और उजेला आरोग्य के लिए ऐसा आवश्यक है, कि प्रत्येक मनुष्य को इनके विषय में अच्छी तरह जानकारी होनी चाहिए।

३—पानी

जिस भांति ऊपर की पंक्तियों में बताया गया है कि हवा हमारी खुराक है, उसी भांति पानी को खुराक समझना चाहिए। हवा पहले दर्जे की खुराक है; और पानी दूसरे दर्जे की। हवा के बिना आदमी कुछ मिनट ही जी सकता है, परन्तु पानी के बिना कई घंटे और देश-काल के अनुसार कई दिन भी रह सकता है। इतना होने पर भी, यह बात निश्चित है कि दूसरी खुराक के बिना तो मुद्दत तक रहा जा सकता है, पानी के बिना नहीं रहा जा सकता। पानी यदि बराबर मिलता रहे, तो मनुष्य कई दिन तक बिना अन्न के ही अपना निर्वाह कर सकता है। हमारे शरीर में सत्तर फी सदी से अधिक अंश जल का है। पानी के बिना शरीर का वज़न ८ पौंड से लेकर १२ पौंड तक गिना जाता है। हमारी सारी खुराकों में थोड़ा-बहुत पानी रहता ही है।

पानी हमारी बड़ी आवश्यक वस्तु है। परन्तु हम उसकी सँभाल बहुत कम करते हैं। मड़ामारी, हैज़ा आदि रोग अशुद्ध हवा-पानी के ही कारण होते हैं। लड़ाई में लगी हुई सेनाओं में कभी-कभी काल-ज्वर फैल जाता है। इसका कारण भी दूषित पानी बताया गया है। फौज को जहाँ पर जैसा पानी

मिल जाता है, वही उसे पीना पड़ता है। प्रायः शहर के रहनेवालों को बुख़ार आ जाता है। इसका कारण भी अधिकतर पानी की ख़राबी होती है। ख़राब पानी पीने से बहुत बार पथरी की बीमारी होती देखी गई है।

पानी ख़राब होने के दो कारण हैं। एक तो ऐसी जगह पानी का होना कि जहाँ पर वह अच्छा न रह सकता हो; और दूसरा यह कि हम उसे स्वयं ख़राब कर दें। ख़राब जगह के पानी को तो पीना ही न चाहिए। और हम पीते भी नहीं; परन्तु अपनी असावधानी से ख़राब हुए पानी को पीते हुए हम नहीं हिचकिचाते। जैसे कि नदियों में हम चाहे जो वस्तु डाल देते हैं; उसी पानी को धोने तथा पीने के काम में लाते हैं। हमें चाहिए कि जहाँ पर हम नहाते-धोते हों, वहां का पानी पीने के काम में कभी न लावें। पीने के लिए नदी के बहाव की ओर से पानी लेना चाहिए, जहाँ पर कोई न नहाता हो। हर एक बस्ती में नदी के दो विभाग करने चाहिए। नीचे की ओर का पानी नहाने-धोने के लिए, और ऊपर की ओर का पानी पीने के लिए रहे। पानी के आस-पास जब किसी सेना की छावनी पड़ती है, तब उसका एक सैनिक नदी के बहाव की देख-भाल करने के लिए उसके किनारे पर पड़ाव डाल देता है। उसके बहाव की ओर का हिस्सा कोई नहाने-धोने के लिए काम में लाता है तो उसे सज़ा दी जाती है। जहां पर ऐसा बन्दोबस्त नहीं होता, वहां की मेहनती स्त्रियां रेती में झरना खोद कर पानी भरती हैं। यह रिवाज बहुत अच्छा है। क्योंकि

ऐसा करने से पानी रेती आदि में छनकर मिलता है। कुएँ के पानी में कभी-कभी बड़ी जोखिम रहती है कच्चे—मट्टी के—कुएँ में जमीन के भीतर मल-मूत्र का रस मिलता रहता है। उसमें प्राय: मरे हुए पक्षी पड़े मिलते हैं। कभी-कभी पक्षी कच्चे कुओं में घोंसले बना लेते हैं। जो कुएँ पक्के बँधे नहीं होते, उनमें पानी भरनेवालों के पैरों का मैल इत्यादि घुलकर पानी बिगड़ जाता है। मतलब यह है कि कुएँ का पानी पीने में बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। टंकियों में भरा हुआ पानी बहुत करके खराब होता है। टंकी के पानी को ठीक रखने केलिए उसे बार-बार धोना चाहिए, और वह ढकी रहनी चाहिए। जहाँ से उसमें पानी की आमद हो, वह स्थान स्वच्छ रहना चाहिए। ऐसी स्वच्छता रखने की कोशिश बहुत कम आदमी करते हैं। पानी को ठीक रखने का सबसे सुन्दर नियम तो यह है कि हम पानी को आध घंटे तक खूब उबाल कर उसे ठंढा कर लें। और फिर बिना हिलाये उसे दूसरे बर्तन में निकाल कर तीसरे बर्तन में रखें और कपड़े से छान कर काम में लावें। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि इतना कर लेने से ही मनुष्य अपने कर्त्तव्य से मुक्त नहीं हो सकता। सार्वजनिक उपयोग के लिए जो जल है, वह मुहल्ले या शहर में रहनेवाले सारे मनुष्यों की सम्पत्ति है। अतएव इस सम्पत्ति का उपयोग उसे एक संरक्षक की भाँति करना चाहिए। अर्थात् उसे ऐसा कोई काम न करना चाहिए जिससे पानी खराब हो। वह नदी या कुएँ को खराब

नहीं कर सकता। पीने के पानी के हिस्से को नहाने-धोने के काम में नहीं ला सकता। पानी के पास मल-मूत्र का त्याग नहीं कर सकता। जल-स्थान के पास मुर्दे को नहीं जला सकता; और न उसकी ख़ाक वग़ैरह को पानी में डाल सकता है।

बहुत सँभाल रखने पर भी हमें बिल्कुल अच्छा पानी नहीं मिल पाता। उसमें क्षार आदि का भाग होता है। अक्सर उसमें सड़ी हुई वनस्पति के भाग पाये जाते हैं। बरसात का पानी सब से अच्छा समझा जाता है। परन्तु जब तक वह हमारे पास पहुँच पाता है उसके पहले ही उसमें हवा के भीतर के धूल के कण मिल जाते हैं। स्वच्छ जल का प्रभाव शरीर पर कुछ और ही तरह का होता है। इसलिए कितने ही अँगरेज़ी डाक्टर अपने मरीज़ों को 'डीस्टील्ड' अर्थात् शुद्ध किया हुआ पानी पीने को देते हैं। यह पानी, पानी की भाफ़ बनाकर, तैयार किया जाता है। जिसे कब्जियत वग़ैरह रहती हो, वह इस शुद्ध पानी का उपयोग करे तो उसे तुरन्त दस्त हो जाता है। ऐसा जल बहुत से विलायती दवा बेचनेवाले बेचते रहते हैं। पानी और उसके उपचार पर हाल में एक ग्रन्थ लिखा गया है। लिखनेवाले का विश्वास है कि उसकी विधि के अनुसार शुद्ध किया हुआ पानी पीने से बहुत-से रोग मिट सकते हैं। यद्यपि इस कथन में कुछ अतिशयोक्ति है, फिर भी यह असम्भव बात नहीं है। बिल्कुल स्वच्छ पानी का असर शरीर पर ख़ूब अच्छा पड़ता है।

सब लोग इस बात को नहीं जानते कि पानी हलका और भारी दो प्रकार का होता है। परन्तु यह जानना सब के लिए आवश्यक है। भारी पानी में साबुन को मलने से उससे झाग नहीं उठता। इसका अर्थ यह हुआ कि उस पानी में क्षार बहुत है। जैसे खारे पानी में साबुन का उपयोग नहीं होता, वैसे ही भारी पानी में भी नहीं होता। भारी पानी में अनाज कठिनता से पकता है। इसी प्रकार भारी पानी से अन्न पचने में भी कठिनाई होती है। भारी पानी स्वाद में खारा और हलका पानी मीठा या सर्वथा-स्वाद-रहित होता है। कुछ लोगों का विश्वास है कि भारी पानी में पोषक तत्व होते हैं। अतएव उसके उपयोग से लाभ होता है। परन्तु वास्तव में देखा जाय, तो हलके पानी को काम में लाना अच्छा जान पड़ता है। बरसात का पानी स्वभाव से ही अच्छा होता है। यह हलका होता है। अतएव उसे काम में लाना लाभदायक है। इस बात को सभी मानते हैं कि भारी पानी के उबालने के बाद आध घंटे चूल्हे पर रहने देने से वह हलका हो जाता है। चूल्हे से उतारने के बाद उसकी व्यवस्था करनी चाहिए।

कितनी ही बार यह सवाल उठता है कि पानी कब पीना चाहिए और कितना पीना चाहिए? इसका सीधा उत्तर यह है कि प्यास लगे तब पानी पीना चाहिए और जितना पानी पीने से प्यास बुझ जाय उतना पीना चाहिए। खाने के समय और खाने के बाद पानी पीने में कोई रुकावट नहीं है। परन्तु खाने के समय इतना स्मरण रखना चाहिए कि खुराक शीघ्र गले

से उतार देने के लिए पानी न पीना चाहिए। खुराक अपने आप गले से न उतरे तो समझना चाहिए कि या तो वह अच्छी तरह चबाई ही नहीं, या उसे कोठा नहीं चाहता।

वास्तव में देखा जाय तो बहुत करके पानी पीने की ज़रूरत ही नहीं है और न होनी चाहिए। जैसे हमारे शरीर में सत्तर फी सदी से अधिक पानी है वैसे ही खूराक में भी है। कितनी ही चीज़ों में सत्तर फी सदी से बहुत ज्यादा परिमाण में पानी रहता है। ऐसा एक भी अन्न नहीं है जिस में बिलकुल पानी न हो। हमारे घरों में भोजन बनाने में बहुत पानी काम में लाया जाता है। इतने पर भी पानी की ज़रूरत रहती ही है। यह क्यों? इसके उत्तर में यह कहना ही यहां पर काफ़ी होगा कि जिस की खूराक में प्यास बढ़ानेवाली चीज़ें—जैसे मिरच, मसाला वग़ैरह—नहीं होते उसे थोड़ा ही पानी पीना पड़ता है। जो अपनी खूराक मुख्यकर हरे मेवे से पूरी करते हैं उन्हें कदाचित ही पानी पीने की इच्छा होती हो। बिना कारण यदि किसी मनुष्य को प्यास लगे तो समझना चाहिए कि कुछ बीमारी है।

कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जिन को किसी प्रकार का पानी पीने पर भी कुछ नहीं होता। ऊपरी निगाह से ऐसा देखकर प्रायः सभी आदमी पानी के सम्बन्ध का विचार छोड़ देते हैं। लेकिन यह ठीक नहीं है। यदि किसी को अशुद्ध पानी से भी हानि न पहुँचे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है—इस लिए कि हमारे रक्त में कभी ऐसे गुण पाये जाते हैं जो कई प्रकार के

विष को स्वयं दूर कर देते हैं। परन्तु यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि अच्छी तलवार को काम में लाने के बाद यदि उसकी धार को ठीक न किया जाय तो उससे नुकसान ही होता है। यही बात रक्त के लिए भी है। रक्त के द्वारा अपने रक्षक सिपाही का काम लेकर यदि उसकी सँभाल न की जाय तो उसकी शक्ति कम हो जाती है और अन्त में नाश हो जाती है। इसमें कुछ अचम्भे की बात नहीं है। यदि हम सदा खराब पानी पियेंगे तो अन्त में रक्त अपना काम करना छोड़ देगा।

आठवाँ परिच्छेद

१—ब्रह्मचर्य के प्रयोग

यहाँ पर ब्रह्मचर्य के विषय में विचार करना है। एक-पत्नीव्रत ने तो विवाह के समय से ही मेरे हृदय में स्थान कर लिया था। पत्नी के प्रति मेरी वफादारी मेरे सत्यव्रत का एक अंग था। परन्तु स्व-पत्नी के साथ भी ब्रह्मचर्य्य का पालन करने की आवश्यकता मुझे दक्षिण अफ्रीका में ही स्पष्ट रूप से दिखाई दी। किस प्रसंग से अथवा किस पुस्तक के प्रभाव से यह विचार मेरे मन में पैदा हुआ, यह इस समय ठीक-ठीक याद नहीं पड़ता। पर इतना स्मरण होता है कि इसमें रायचन्द भाई का प्रभाव प्रधान-रूप से काम कर रहा था।

उनके साथ हुआ एक सम्वाद मुझे याद है। एक बार मैं मि० ग्लैडस्टन के प्रति मिसेज़ ग्लैडस्टन के प्रेम की स्तुति कर रहा था। मैंने पढ़ा था कि हाउस आफ़ कौमन्स की बैठक में भी मिसेज़ ग्लैडस्टन अपने पति को चाय बना कर पिलाती थीं। यह बात उस नियम-निष्ठ दम्पति के जीवन का एक नियम ही बन गया था। मैंने यह प्रसंग कवि जी को पढ़ सुनाया और उसके सिलसिले में दम्पति-प्रेम की स्तुति की। रायचन्द भाई बोले—इसमें आप को कौन सी बात महत्व की मालूम होती है—मिसेज़ ग्लैडस्टन का पत्नीपन या सेवा-भाव! यदि वे ग्लैडस्टन की बहन होतीं तो! अथवा उनकी वफ़ादार नौकर होतीं और फिर भी उसी प्रेम से चाय पिलातीं तो! ऐसी बहनों, ऐसी नौकरानियों के उदाहरण क्या आज हमें न मिलेंगे? और नारी जाति के बदले ऐसा प्रेम यदि नर जाति में देखा होता तो क्या आपको आनन्द और आश्चर्य न होता? इस बात पर विचार कीजिएगा।

रायचन्द भाई स्वयं विवाहित थे। उस समय तो उनकी यह बात मुझे कठोर मालूम हुई—ऐसा स्मरण होता है। परन्तु इन वचनों ने मुझे लोह-चुम्बक की तरह जकड़ लिया। पुरुष नौकर की ऐसी स्वामि-भक्ति की कीमत पत्नी की स्वामि-निष्ठा की कीमत से हज़ारगुना बढ़ कर है। पति-पत्नि में एकता का अतएव प्रेम का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। स्वामी और सेवक में ऐसा प्रेम पैदा करना पड़ता है। दिन-दिन कवि जी के वचन का बल मेरी नज़रों में बढ़ने लगा।

अब मन में यह विचार उठने लगा कि मुझे अपनी पत्नी के साथ कैसा सम्बन्ध रखना चाहिए? पत्नी को विषय-भोग का वाहन बनाना उस के प्रति वफ़ादारी कैसे हो सकता है? जब तक मैं विषय-वासना के अधीन रहूंगा तब तक मेरी वफ़ादारी की कीमत कृत्रिम मानी जायगी। मुझे यहां यह बात कह देनी चाहिए कि हमारे पारस्परिक सम्बन्ध में कभी पत्नी की तरफ़ से मुझ पर ज्यादती नहीं हुई। इस दृष्टि से मैं जिस दिन से चाहूं, ब्रह्मचर्य्य का पालन मेरे लिए सुलभ था। मेरी अशक्ति अथवा आसक्ति ही मुझे रोक रही थी।

जागरूक होने के बाद भी दो बार तो मैं असफल ही रहा। प्रयत्न करता; पर गिरता। प्रयत्न में मुख्य हेतु उच्च न था। सिर्फ़ सन्तानोत्पत्ति को रोकना ही प्रधान लक्ष्य था। सन्ततिनिग्रह के बाह्य उपकरणों के विषय में विलायत में मैंने थोड़ा बहुत पढ़ लिया था। उसका कुछ क्षणिक असर मुझ पर हुआ भी। परन्तु मि० हिल्स के द्वारा किए गये उनके विरोध का तथा अन्तर-साधन (संयम) के समर्थन का बहुत असर मेरे दिल पर हुआ और अनुभव के द्वारा वह चिरस्थायी हो गया। इस कारण प्रजोत्पत्ति की अनावश्यकता जँचते ही संयम-पालन के लिए उद्योग आरम्भ हुआ। संयम-पालन में कठिनाइयां बेहद थीं। चारपाइयां दूर रखते। रात को थककर सोने की कोशिश करने लगा। इन सारे प्रयत्नों का विशेष परिणाम उसी समय तो न दिखाई

देया। पर जब मैं भूतकाल की ओर आंख उठाकर देखता हूं
तो जान पड़ता है कि उन्हीं सारे प्रयत्नों ने मुझे अन्तिम बल
प्रदान किया।

अन्तिम निश्चय तो १९०६ ई० में ही कर सका। उस
समय सत्याग्रह का श्रीगणेश नहीं हुआ था। उसका स्वप्न तक
में मुझे ख़याल न था। बोअर-युद्ध के बाद नेटाल में 'ज़ुलू'
बलवा हुआ। उस समय मैं जोहान्सबर्ग में वकालत करता
था। पर मन ने कहा कि इस समय बलवे में मुझे अपनी सेवा
नेटाल-सरकार को अर्पित करनी चाहिए। मैंने अर्पित की भी।
वह स्वीकृत भी हुई। परन्तु इस सेवा के फल-स्वरूप मेरे मन
में तीव्र विचार उत्पन्न हुए। अपने स्वभाव के अनुसार अपने
साथियों से मैंने उसकी चर्चा की। मुझे जँचा कि सन्तानोत्पत्ति
और सन्तान-रक्षण लोक-सेवा के विरोधक हैं। इस बलवे के
काम में शरीक होने के लिए मुझे अपना जोहान्सबर्ग वाला घर
तितर-बितर करना पड़ा। टीपटाप से सजाए हुए घर को
और जुटाई हुई विविध सामग्री को अभी एक महीना भी न
हुआ होगा कि मैंने उसे छोड़ दिया। पत्नी और बच्चों को
फ़ीनिक्स में रक्खा। और मैं घायलों की शुश्रुषा करनेवालों की
टुकड़ी बनाकर चल निकला। इन कठिनाइयों का सामना करते
हुए मैंने देखा कि यदि मुझे लोक-सेवा में ही लीन हो जाना है
तो फिर पुत्रैषणा एवं धनैषणा को भी नमस्कार कर लेना
चाहिए और वानप्रस्थधर्म का पालन करना चाहिए।

बलवे में मुझे डेढ़ महीने से ज्यादा न ठहरना पड़ा।

परन्तु यह छै सप्ताह मेरे जीवन का अत्यन्त मूल्यवान समय था। व्रत का महत्व मैंने इस समय समझा। मैंने देखा कि व्रत, बन्धन नहीं, स्वतन्त्रता का द्वार है। आज तक मेरे प्रयत्नों में आवश्यक सफलता नहीं मिलती थी; क्योंकि मुझ में निश्चय का अभाव था। मुझे अपनी शक्ति का विश्वास न था। मुझे ईश्वर की कृपा का अविश्वास था और इसी लिए मेरा मन अनेक तरंगों में और अनेक विकारों के अधीन रहता था। मैंने देखा कि व्रत-बन्धन से पृथक रहकर मनुष्य मोह में पड़ता है। व्रत से अपने को बांधना मानो व्यभिचार से छूटकर एक पत्नी से सम्बन्ध रखना है। मेरा तो विश्वास प्रयत्न में है। व्रत के द्वारा मैं बँधना नहीं चाहता—यह वचन निर्बलता-सूचक है और उसमें छिपे-छिपे भोग की इच्छा रहती है। जो चीज़ त्याज्य है, उसे सर्वथा छोड़ देने में कौन-सी हानि हो सकती है? जो सांप मुझे डँसनेवाला है, उसको मैं निश्चयपूर्वक हटा देता हूं। हटाने का केवल उद्योग ही नहीं करता; क्योंकि मैं जानता हूं कि केवल प्रयत्न का परिणाम होनेवाला है मृत्यु। प्रयत्न में सांप की विकरालता के स्पष्ट ज्ञान का अभाव है। उसी प्रकार जिस चीज़ के त्याग का हम प्रयत्न मात्र करते हैं, उसके त्याग की आवश्यकता हमें स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं दी है। यही सिद्ध होता है। मेरे विचार यदि बदल जांय तो? ऐसी शंका से बहुत बार हम व्रत लेते हुए डरते हैं। इस विचार में स्पष्ट दर्शन का अभाव है। इसी लिए निष्कुलानन्द ने कहा है कि "विरक्ति के बिना त्याग-

टिक नहीं सकता"। जहां किसी चीज़ से पूर्ण वैराग्य हो गया है, वहां उसके लिए व्रत लेना अपने आप अनिवार्य हो जाता है।

२—ब्रह्मचर्य का व्रत

खूब चर्चा और दृढ़ विचार करने के बाद १९०६ में मैंने ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया। व्रत लेने तक मैंने धर्म-पत्नी से इस विषय में सलाह न ली थी। व्रत के समय अलबत्ते ली। उसने उसका कुछ भी विरोध न किया।

यह व्रत लेते हुए मुझे बड़ा कठिन मालूम हुआ। मेरी शक्ति कम थी। विकारों को क्योंकर दबा सकूँगा? स्वपत्नी के साथ विकारों से अलिप्त रहना भी अजीब बात मालूम होती थी। फिर भी मैं देख रहा था कि यह मेरा स्पष्ट कर्तव्य है। मेरी नियत साफ़ थी। यह सोचकर कि ईश्वर शक्ति और सहायता देगा, मैं कूद पड़ा।

आज बीस साल बाद, उस व्रत को स्मरण करते हुए, मुझे सानन्द आश्चर्य होता है। संयम पालन करने का भाव तो १९०१ से ही प्रबल था। और उसका पालन कर भी रहा था। परन्तु जो स्वतंत्रता और आनन्द मैं अब पाने लगा, वह मुझे नहीं याद पड़ता कि १९०६ के पहले मिला हो। क्योंकि उस समय मैं वासनाबद्ध था—हर समय उसके अधीन हो जाने का भय था। अब वासना मुझ पर सवारी करने में असमर्थ हो गई।

फिर भी ब्रह्मचर्य की महिमा और अधिकाधिक समझने लगा। व्रत मैंने फिनिक्स में लिया था। घायलों की सुश्रूषा से छुट्टी पाकर मैं फिनिक्स गया था। वहाँ से मुझे तुरन्त जोन्सबर्ग जाना था। मैं वहां गया और महीने के अन्दर ही सत्याग्रह-संग्राम की नींव पड़ी। मानो यह ब्रह्मचर्य-व्रत उसके लिए मुझे तैयार करने आया हो ! सत्याग्रह की कल्पना मैंने पहले से ही नहीं कर रखी थी। उसकी उत्पत्ति तो अनायास—अनिच्छा से—हुई। पर मैंने देखा कि उसके पहले जो-जो काम किये थे, जैसे फिनिक्स जाना, जोन्सबर्ग का भारी घर-खर्च कम कर डालना और अन्त में ब्रह्मचर्य का व्रत लेना—ये सब मानो उसकी पेशबन्दी में थे।

ब्रह्मचर्य के सोलहों आने पालन का अर्थ है ब्रह्मदर्शन। यह ज्ञान मुझे शास्त्रों के द्वारा न हुआ था। यह अर्थ मेरे सामने धीरे धीरे अनुभवसिद्ध होता गया। उससे सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र-वचन मैंने बाद में पढ़े। ब्रह्मचर्य में शरीर-रक्षण, बुद्धिरक्षण और आत्मा का रक्षण सब कुछ है। यह बात मैं व्रत के बाद दिनों दिन अधिकाधिक अनुभव करने लगा। क्योंकि अब ब्रह्मचर्य को एक घोर तपश्चर्या रहने देने के बदले रसमय बनाना था, उसी के बल पर काम चलाना था। इसी लिए उसकी खूबियों के नित नये दर्शन होने लगे।

मैं इस तरह उससे रस की घूँटें पी रहा था। इससे कोई यह न समझे कि मैं उसकी कठिनता को अनुभव नहीं कर रहा था। आज यद्यपि मेरे छप्पन साल पूरे हो गये हैं,

फिर भी उसकी कठिनता का अनुभव तो होता ही है। यह अधिकाधिक समझता जाता हूँ कि यह असि-धारा-व्रत है। निरंतर जागरूकता की आवश्यकता देखता हूँ।

३—ब्रह्मचर्य और स्वादेन्द्रिय

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए स्वादेन्द्रिय को वश में करना चाहिए। मैंने खुद अनुभव करके देखा है कि यदि स्वाद को जीत लें, तो फिर ब्रह्मचर्य अत्यन्त सुगम हो जाता है। इस कारण, इसके बाद मेरे भोजन-प्रयोग, केवल अन्नाहार की दृष्टि से नहीं, पर ब्रह्मचर्य की दृष्टि से होने लगे। प्रयोग-द्वारा मैंने अनुभव किया है कि भोजन कम, सादा, बिना मिर्च-मसाले का, और स्वाभाविक रूप में करना चाहिए। मैंने खुद छै साल तक प्रयोग करके देखा है कि ब्रह्मचारी का आहार वन-पके फल हैं। जिन दिनों में हरे या सूखे वन-पके फलों पर रहता था, उन दिनों जिस निर्विकारपन का अनुभव होता था, वह खुराक में परिवर्त्तन करने के बाद न हुआ। फलाहार के दिनों में ब्रह्मचर्य सहज था, दूधाहार के कारण कष्टसाध्य हो गया है। फलाहार छोड़कर दूधाहार क्यों ग्रहण करना पड़ा, इसका ज़िक्र करने की यहां आवश्यकता नहीं। यहां तो इतना ही कहना काफ़ी है कि ब्रह्मचारी के लिए दूध का आहार विघ्नकारक है। इसमें मुझे लेशमात्र सन्देह नहीं। इससे कोई यह अर्थ न निकाल ले कि हर ब्रह्मचारी के लिए दूध छोड़ना ज़रूरी है। आहार का असर ब्रह्मचर्य पर

क्यों और कितना पड़ता है, इस सम्बन्ध में अभी अनेक प्रयोग की आवश्यकता है। दूध के सदृश शरीर के रगोरेशे को मज़बूत बनानेवाला और उतनी ही आसानी से हज़म हो जानेवाला फलाहार अब तक मुझे नहीं मिला है। न कोई वैद्य, हकीम या डाक्टर ऐसे फल या अन्न बता सके हैं। इस कारण दूध को विकारोत्पादक जानते हुए भी अभी मैं उसके त्याग की सिफारिस किसी से नहीं कर सकता।

४—ब्रह्मचर्य और उपवास

बाहरी उपचारों में जिस तरह आहार के प्रकार और परिमाण की मर्यादा आवश्यक है उसी प्रकार उपवास की बात समझनी चाहिए। इन्द्रियाँ ऐसी बलवान हैं कि चारों ओर से, ऊपर नीचे दशो दिशाओं से, जब उन पर घेरा डाला जाता है तभी वे कब्ज़े में रहती हैं। सब लोग इस बात को जानते हैं कि आहार के बिना वे अपना काम नहीं कर सकतीं। इसलिए इस बात में मुझे ज़रा भी शक नहीं है कि इन्द्रिय-दमन के हेतु से इच्छापूर्वक किये गये उपवासों से इन्द्रिय-दमन में बड़ी सहायता मिलती है। कितने लोग उपवास करते हुए भी सफल नहीं होते। वे यह मान लेते हैं कि केवल उपवास से ही सब काम हो जायगा। वे बाहरी उपवास मात्र करते हैं, पर मन में छप्पन भोगों का ध्यान लगाते रहते हैं। उपवास के दिनों में इन विचारों का स्वाद चक्खा करते हैं कि उपवास पूरा होने पर क्या-क्या खायँगे; और फिर शिकायत करते हैं

कि न स्वादेन्द्रिय का संयम हो पाया और न जननेन्द्रिय का। उपवास से वास्तविक लाभ वहीं होता है जहाँ मन भी देह-दमन में साथ देता है। इसका यह अर्थ हुआ कि मन में विषय-भोग के प्रति वैराग्य हो जाना चाहिए। विषय का मूल तो मन में है। उपवास आदि साधनों से मिलने वाली सहायता बहुत होते हुए भी अपेक्षाकृत थोड़ी ही होती है। यह कहा जा सकता है कि उपवास करते हुए भी मनुष्य विषयासक्त रहता है। परन्तु उपवास के बिना विषयासक्ति का समूल विनाश सम्भव ही नहीं। इसलिए उपवास ब्रह्मचर्य-पालन का अनिवार्य अंग है।

५—ब्रह्मचर्य और मनोविकार

ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले बहुतेरे विफल होते हैं। क्योंकि वे आहार-विहार तथा दृष्टि इत्यादि में अ-ब्रह्मचारी की तरह बर्ताव करते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं। यह कोशिश वैसी ही है जैसे कि गर्मी के मौसम में सर्दी के मौसम का अनुभव करने की कोशिश होती है। संयमी और स्वच्छन्द तथा भोगी और त्यागी के जीवन में भेद अवश्य होना चाहिए। साम्य तो सिर्फ़ ऊपर ही रहता है। भेद स्पष्ट रूप से दिखाई देना चाहिए। आँख से दोनों काम लेते हैं। परन्तु ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है, भोगी नाटक-सिनेमा में लीन रहता है। कान का उपयोग दोनों करते हैं; परन्तु एक ईश्वर-भजन सुनता है और दूसरा विलासमय गीतों को सुनने में आनन्द

मनाता है। जागरण दोनों करते हैं; परन्तु एक तो जाग्रत अवस्था में अपने हृदय-मन्दिर में विराजित राम की आराधना करता है, दूसरा नाच-रंग की धुन में सोने की याद भूल जाता है। भोजन दोनों करते हैं; परन्तु एक शरीर रूपी तीर्थक्षेत्र की रक्षा मात्र के लिए कोठे में अन्न डाल लेता है और दूसरा स्वाद के लिए देह में अनेक चीज़ों को भरकर उसे दुर्गन्धित बनाता है। इस प्रकार दोनों के आचार-विचार में भेद रहा ही करता है। और यह अवसर दिन-दिन बढ़ता है, घटता नहीं।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन, वचन और काया से समस्त इन्द्रियों का संयम। इस संयम के लिए पूर्वोक्त त्यागों की आवश्यकता है। यह बात मुझे दिन-दिन दिखाई देने लगी और आज भी दिखाई देती है। त्याग के क्षेत्र की सीमा ही नहीं जैसे कि ब्रह्मचर्य की महिमा की भी सीमा नहीं है। ऐसा ब्रह्मचर्य अल्प प्रयत्न से साध्य नहीं होता। करोड़ों के लिए तो यह हमेशा एक आदर्श के रूप में ही रहेगा। क्योंकि प्रयत्नशील ब्रह्मचारी तो नित्य अपनी त्रुटियों का दर्शन करेगा, अपने हृदय के कोने-कोने में छिपे विकारों को पहचान लेगा और उन्हें निकाल बाहर करने का सदा प्रयत्न करेगा। जब तक अपने विचारों पर इतना कब्ज़ा न हो जाय कि अपनी इच्छा के बिना एक भी विचार न आने पावे, तब तक वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं। जितने भी विचार हैं वे सब एक तरह के विकार हैं। उनको वश में करने के माने हैं मन को वश में करना। और मन को वश में करना वायु को वश में करने

से भी कठिन है। इतना होते हुए भी यदि आत्मा कोई चीज़ है तो फिर यह भो साध्य होकर रहेगा। रास्ते में बड़ी कठिनइयाँ आती हैं, इससे यह न मान लेना चाहिए कि वह असाध्य है। वह तो परम अर्थ है। और परम अर्थ के लिए परम प्रयत्न की आवश्यकता हो तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है!

परन्तु देश आने पर मैंने देखा कि ऐसा ब्रह्मचर्य महज़ प्रयत्नसाध्य नहीं है। कह सकते हैं कि तब तक मैं मूर्छा में था, कि फलाहार से विकार समूल-नष्ट हो जायँगे और इस लिए अभिमान से मानता था कि अब मुझे कुछ करना बाकी नहीं रहा है। अस्तु।

यहां इतना कह देना आवश्यक है कि ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए मैंने जिस ब्रह्मचर्य की व्याख्या की है उसका पालन जो करना चाहते हैं, वे यदि अपने प्रयत्न के साथ ही ईश्वर पर श्रद्धा रखनेवाले होंगे तो उन्हें निराश होने का कारण नहीं है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥ *
गीता अ० २ श्लोक ५९

इसलिए आत्मार्थी का अन्तिम साधन तो रामनाम और राम-कृपा ही है। इस बात का अनुभव मैंने हिन्दुस्तान आने पर ही किया।

---

* निराहारी के विषय तो शान्त हो जाते हैं। परन्तु रसों का शमन नहीं होता। ईश्वर-दर्शन से रस भी शान्त हो जाते हैं।

नवां परिच्छेद

१—प्राकृतिक व्यायाम

मनुष्य को हवा, पानी और अन्न की जितनी जरूरत है, उतनी ही व्यायाम की भी है। हाँ, कसरत-बिना मनुष्य बर्षों तक जीवित रह सकता है और हवा, पानी तथा अन्न बिना नहीं। फिर भी यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि कसरत के बिना मनुष्य नीरोग नहीं रह सकता। हमने खुराक का जैसा अर्थ किया है, वैसा ही कसरत का भी करना चाहिए। कसरत का अर्थ, हाकी, टेनिस, फुटबाल, क्रिकेट और घूमना ही नहीं है। कसरत मात्र के माने हैं शारीरिक और मानसिक काम। जैसे खुराक हाड़ और मांस ही के लिए नहीं, मन के लिए भी आवश्यक है, वैसे ही कसरत शरीर ही के लिए नहीं, मन के लिए भी होनी चाहिए। शारीरिक कसरत न करने से शरीर रोगी रहता है, और मन की कसरत न होने से वह भी शिथिल रहता है। मूर्खता का एक तरह का रोग ही समझना चाहिए। कोई बड़ा पहलवान कुश्ती मारने में तो बड़ा प्रवीण हो; किन्तु मन उसका गँवारों का-सा हो तो उसके लिए नीरोग शब्द का प्रयोग करना भूल है। अँगरेजी कहावत है कि नीरोग वही मनुष्य है जिसके नीरोग शरीर में नीरोग

देसी कसरतें कौन-सी हैं? प्रकृति ने तो हमारे लिए ऐसा सुन्दर प्रबन्ध किया है कि हम सदा कसरत करते रह सकते हैं। शान्तिपूर्वक विचार करने से मालूम होगा कि दुनिया का बहुत बड़ा भाग खेती पर ही निर्वाह करता है। किसान के परिवार को खूब कसरत करनी पड़ती है। रोज़ आठ-दस घंटे अथवा इससे भी अधिक कार्य करने पर इन्हें खाने-पहनने भर को मिल सकता है। इन्हें मन के लिए अलग कसरत नहीं करनी पड़ती। किसान मूढ़ हो तो कोई काम ही न कर सके। उसे मिट्टी की पहचान, ऋतु-परिवर्त्तन का ज्ञान, चतुराई के साथ जोतना और साधारणतया चन्द्रमा, सूर्य और तारों की गति जाननी चाहिए। शहर का बड़ा भारी बुद्धिमान भी किसान के यहां जाकर निर्बुद्धि सिद्ध होगा। किसान ही यह बता सकेगा कि अमुक बीज कैसे बोया जाता है। उसे आस-पास के रास्तों का ज्ञान होता है, आस-पास के मनुष्यों को पहचानता है, तारे इत्यादि देख कर वह रात में भी दिशा को पहचान लेता है। पक्षियों के शब्द और उनकी गति से वह बहुत-सी बातें जान लेता है। विशेष प्रकार के पक्षियों को इकट्ठा होते और कल्लोल करते देखकर वह बता सकता है कि पक्षियों का अमुक काम अमुक बात का सूचक है। किसान अपने काम-भर की खगोल, भूगोल, और भूगर्भ विद्या समझता है। उसे अपने बाल-बच्चों का पालन-पोषण करना पड़ता है, इससे उसे मानव-धर्म-शास्त्र का साधारण ज्ञान होना सिद्ध होता है। पृथ्वी के विशाल भाग में रहने के कारण

नवां परिच्छेद

१—प्राकृतिक व्यायाम

मनुष्य को हवा, पानी और अन्न की जितनी जरूरत है, उतनी ही व्यायाम की भी है। हाँ, कसरत-बिना मनुष्य वर्षों तक जीवित रह सकता है और हवा, पानी तथा अन्न बिना नहीं। फिर भी यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि कसरत के बिना मनुष्य नीरोग नहीं रह सकता। हमने खुराक का जैसा अर्थ किया है, वैसा ही कसरत का भी करना चाहिए। कसरत का अर्थ, हाकी, टेनिस, फुटबाल, क्रिकेट और घूमना ही नहीं है। कसरत मात्र के माने हैं शारीरिक और मानसिक काम। जैसे खुराक हाड़ और मांस ही के लिए नहीं, मन के लिए भी आवश्यक है, वैसे ही कसरत शरीर ही के लिए नहीं, मन के लिए भी होनी चाहिए। शारीरिक कसरत न करने से शरीर रोगी रहता है, और मन की कसरत न होने से वह भी शिथिल रहता है। मूर्खता का एक तरह का रोग ही समझना चाहिए। कोई बड़ा पहलवान कुश्ती मारने में तो बड़ा प्रवीण हो; किन्तु मन उसका गँवारों का-सा हो तो उसके लिए नीरोग शब्द का प्रयोग करना भूल है। अँगरेजी कहावत है कि नीरोग वही मनुष्य है जिसके नीरोग शरीर में नीरोग मन का निवास है।

देसी कसरतें कौन-सी हैं? प्रकृति ने तो हमारे लिए ऐसा सुन्दर प्रबन्ध किया है कि हम सदा कसरत करते रह सकते हैं। शान्तिपूर्वक विचार करने से मालूम होगा कि दुनिया का बहुत बड़ा भाग खेती पर ही निर्वाह करता है। किसान के परिवार को खूब कसरत करनी पड़ती है। रोज़ आठ-दस घंटे अथवा इससे भी अधिक कार्य करने पर इन्हें खाने-पहनने भर को मिल सकता है। इन्हें मन के लिए अलग कसरत नहीं करनी पड़ती। किसान मूढ़ हो तो कोई काम ही न कर सके। उसे मिट्टी की पहचान, ऋतु-परिवर्तन का ज्ञान, चतुराई के साथ जोतना और साधारणतया चन्द्रमा, सूर्य और तारों की गति जाननी चाहिए। शहर का बड़ा भारी बुद्धिमान भी किसान के यहाँ जाकर निर्बुद्धि सिद्ध होगा। किसान ही यह बता सकेगा कि अमुक बीज कैसे बोया जाता है। उसे पास-पास के रास्तों का ज्ञान होता है, आस-पास के मनुष्यों को पहचानता है, तारे इत्यादि देख कर वह रात में भी दिशा को पहचान लेता है। पक्षियों के शब्द और उनकी गति से वह बहुत-सी बातें जान लेता है। विशेष प्रकार के पक्षियों को इकट्ठा होते और कल्लोल करते देखकर वह बता सकता है कि पक्षियों का अमुक काम अमुक बात का सूचक है। किसान अपने काम-भर की खगोल, भूगोल, और भूगर्भ विद्या समझता है। उसे अपने बाल-बच्चों का पालन-पोषण करना पड़ता है, इससे उसे मानव-धर्म-शास्त्र का साधारण ज्ञान होना सिद्ध होता है। पृथ्वी के विशाल भाग में रहने के कारण

यह ईश्वर का महत्व सहज में समझता है, शरीर से मज़बूत होता है, अपनी दवा स्वयं कर लेता है। उसकी मानसिक शिक्षा की बाबत जिक्र किया ही जा चुका है।

किन्तु सब लोग किसान नहीं बन सकते। और न यह परिच्छेद किसानों के लिए लिखा ही जाता है। यहां व्यापार अथवा ऐसे अन्य धंधे करने वालों का प्रश्न है कि वे क्या करें। हमने किसानों की जिन्दगी का कुछ वर्णन यहां इसलिए किया है जिसमें लोग इस प्रश्न का उत्तर आसानी से समझ सकें और अपना रहन-सहन उन्हीं के समान बना सकें। हमारा रहन-सहन किसान के रहन-सहन से जितना ही भिन्न होगा, हम उतना ही अधिक रोगी भी होंगे। किसान के जीवन-वृत्तान्त से पाठक समझ गए होंगे कि मनुष्य को आठ घंटे शारीरिक श्रम करना चाहिए। और वह ऐसा कि जिसमें मानसिक शक्तियों को भी काम करने का अवसर मिल सके। इसमें सन्देह नहीं कि व्यापारी आदि को कुछ मानसिक व्यायाम करने का अवसर मिलता है। परन्तु यह कसरत एकतरफ़ी होती है। ये लोग किसान के समान खगोल, भूगोल तथा इतिहास का ज्ञान नहीं रखते। इन्हें भाव-ताव की ख़बर रहती है, माल की खपत करना खूब जानते हैं। परन्तु इस काम में मानसिक शक्ति पर पूरा ज़ोर नहीं पड़ता। और न इस धंधे में शरीर को ही अधिक मेहनत पड़ती है।

ऐसे मनुष्य के लिए पाश्चात्य विद्वानों ने क्रिकेट इत्यादि के खेल लाभकारक बतलाये हैं। उनकी राय है कि धार्मिक

उत्सवों पर भिन्न-भिन्न खेल खेलने चाहिएं। और मानसिक श्रम के लिये ऐसी पुस्तकें पढ़नी चाहिएं जिनमें बहुत ज्यादा सोचने-विचारने की ज़रूरत न पड़े। यह एक ओर की बात हुई। अब इसकी जांच होनी चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे खेलों से शरीर की कसरत हो जाती है; पर ऐसी कसरतों से मनुष्य का मन नहीं सुधरता। इसके अनेक उदाहरण हैं। क्रिकेट अथवा फुटबाल के अच्छे खिलाड़ियों की संख्या देखी जाय तो उनमें कितने अच्छी मानसिक शक्ति वाले मिलेंगे? हिन्दुस्तान के जो राजा-महाराजा अच्छे खिलाड़ी हैं, उनकी मानसिक शक्ति के सम्बन्ध में हमें क्या प्रमाण मिले? इसके विपरीत जो अच्छी मानसिक शक्ति वाले हैं, उनमें कितने खिलाड़ी हैं? मेरी समझ में, मानसिक शक्ति वाले लोगों में बहुत ही कम खेलनेवाले दिखाई पड़ेंगे। विलायत के गोरे आजकल खेलने से खूब काम लेते हैं। उनको उन्हीं के महाकवि किपलिंग ने बुद्धि-शत्रु की उपाधि दी है। और यह भी कहा है कि ये लोग इँगलैंड के शत्रु बनेंगे।

हमारे भारतीय बुद्धिमान गृहस्थों का मार्ग निराला ही है। ये मन की कसरत करते हैं। किन्तु शरीर की कसरत बिलकुल नहीं करते या कम करते हैं। इसी से इन्हें हम असमय खो बैठते हैं। इनका शरीर बराबर मानसिक काम करते रहने के कारण क्षीण हो जाता है। कोई न कोई रोग इनके शरीर में घर किये रहता है, और उनके पुष्ट विचारों से देश के लाभ उठाने का समय आते-आते ही वे संसार से चल

देते हैं। इससे मालूम होता है कि शारीरिक या केवल मान
सिक व्यायाम काफ़ी नहीं है। न वही कसरत जो निरुपयोगी
और सिर्फ़ खेलवाड़ के लिए हो। जिस कसरत से मन और शरीर
दोनों का सुधार साथ-साथ और हरदम होता रहे, वही
कसरत अच्छी है। उसी से मनुष्य नीरोग रह सकता है।
किसानों में ये दोनों गुण हैं।

जो किसान नहीं हैं, वे क्या करें? क्रिकेट इत्यादि खेलों से
होनेवाली कसरत ठीक नहीं। इसलिए हमें ऐसी कसरत
तलाश करनी चाहिए जिससे किसान का-सा कुछ काम हो।
व्यापारी तथा अन्यान्य लोग अपने घर के आस-पास फुलवारी
लगा सकते हैं; और उसमें नित्य दो-चार घंटे खोदने का काम
कर सकते हैं। फेरीवालों की तो अपने धंधे में ही कसरत
हो जाती है। यह प्रश्न तो बेफ़ायदा होगा कि हम दूसरे के
घर में रहते हों तो उसकी ज़मीन में कैसे काम करें? यह मन
की संकीर्णता है। ज़मीन चाहे जिसकी हो, हमें खोदने और
बोने से मिलनेवाले फ़ायदे तो मिलेंगे ही। इसके सिवा हमारा
घर सुथरा रहेगा। साथ ही हमें संतोष भी होगा कि हमने
दूसरे की जमीन ठीक कर रखी है। जिन्हें जमीन-सम्बन्धी
कसरत करने का मौक़ा न मिल सके अथवा जिन्हें वह
नापसन्द हो, उनके लिए भी दो बातें लिख देना ज़रूरी है।
जमीन का काम करने की कसरत के बाद सर्वोत्तम कसरत
है। इसे कसरतों की रानी कहते हैं। और यह बहुत
है। हमारे साधु-सन्त बहुत तन्दुरुस्त रहते हैं, इसके

अनेक कारणों में से एक यह भी है कि ये लोग घोड़ा, गाड़ी आदि का उपयोग नहीं करते। अपनी सारी मुसाफिरी पैदल ही करते हैं। थोरो नामक एक बड़े विद्वान् अमेरिकन ने चलने की कसरत के सम्बन्ध में एक बहुत ही विचारपूर्ण पुस्तक लिखी है। उसने दिखाया है कि जो लोग समय न मिलने का बहाना करके घर से बाहर नहीं निकलते, हिलते-डुलते नहीं, और सदा लिखने आदि का काम करते रहते हैं, उन मनुष्यों के लिखे लेख आदि भी वैसे ही रोगी—शिथिल होते हैं जैसे वे खुद होते हैं। अपने अनुभव के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि मैं जिस समय अधिक-से-अधिक चलता था, मेरे उत्तम से उत्तम ग्रन्थ उसी समय के लिखे हुए हैं। उसके लिए रोज़ चार-पाँच घंटे चलना कुछ बात न थी। जिस प्रकार सच्ची भूक लगने पर हम कोई काम नहीं कर सकते, पेट-पूजा में ही व्यस्त हो जाते हैं, उसी प्रकार हमें कसरत की ऐसी पक्की आदत डाल लेनी चाहिए कि उसके बिना किये हम और काम ही न कर सकें। अपने मानसिक कामों का नापना हमें पसन्द नहीं। इससे हम यह नहीं देख सकते कि शारीरिक कसरत के बिना किये हुए मानसिक काम नीरस और निकम्मे होते हैं। चलने से शरीर के प्रत्येक भाग में खून तेज़ी से दौरा करता है, प्रत्येक अंग में हलचल पैदा होती है और सारा शरीर कस उठता है। चलने से हाथ-पैर तो हिलते ही हैं, साथ ही बाहर की शुद्ध हवा मिलती है। बाहर के सुन्दर दृश्यों का आनन्द भी प्राप्त होता है। सदा

एक ही जगह और गलियों में न चलना चाहिये। खेतों और जंगलों में घूमना आवश्यक है। वहाँ प्राकृतिक शोभा की कुछ परख होगी। दो-एक मील का चलना कोई चलना नहीं कहलाता। दस-बारह मील का चलना, चलना है। जो लोग हर रोज ऐसा न कर सकें वे प्रति रविवार को खूब चल सकते हैं। कोई बीमार एक अनुभवी वैद्य के यहां दवा लेने गया। अजीर्ण का रोगी था। वैद्य ने उसे रोज़ थोड़ा चलने की सलाह दी। बीमार ने कहा, मुझमें ज़रा भी चलने की ताक़त नहीं है। वैद्य ने समझ लिया कि बीमार कम हिम्मत है। वह उसे अपनी गाड़ी पर चढ़ाकर घूमने ले गया। रास्ते में उसने जानबूझकर अपना चाबुक गिरा दिया। सभ्यता की रक्षा के विचार से रोगी चाबुक उठाने के लिए उतर पड़ा। इधर वैद्य ने गाड़ी हांक दी। बेचारे रोगी को हांफते हुए दूर तक गाड़ी के पीछे जाना पड़ा। तब वैद्य ने गाड़ी घुमाई और उसे चढ़ाकर कहा कि तुम्हारे लिए चलना दवा थी। इसी से तुम्हें चलाने के लिए मुझे यह निर्दय व्यवहार करना पड़ा। बीमार को खूब कड़ाके की भूख लगी थी। इससे वह चाबुक की बात भूल गया। उसने वैद्य का उपकार माना और घर जाकर संतोषपूर्वक भोजन किया। जिन्हें बदहज़मी और उससे उत्पन्न होनेवाली बीमारियाँ हों वे चलने का प्रयोग आज़मा देखें।

दसवाँ परिच्छेद

स्वास्थ्य और पोशाक

आरोग्य जैसे आहार पर निर्भर है वैसे ही, किसी हद तक, पोशाक पर भी। गोरी लेडियाँ शौक के लिए ऐसी पोशाक पहनती हैं कि जिससे उनके पैर और कमर तंग रहें। इससे उन्हें कई प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हैं। चीन में औरतों के पैर इतने छोटे कर दिये जाते हैं कि हमारे बच्चों के पैर भी उनके पैरों से बड़े होते हैं। इससे चीन की औरतों के स्वास्थ्य को बड़ा धक्का पहुँचता है। इन दो उदाहरणों से पढ़नेवाले समझ सकते हैं कि कुछ अंश में हमारे स्वास्थ्य का आधार पोशाक पर भी है। बहुत अंशों में पोशाक को पसन्द करना हमारे हाथ में नहीं रहता। हम अपने बड़े-बूढ़ों की पोशाक पहनते हैं। और वर्त्तमान काल में ऐसा करने की ज़रूरत भी है। पोशाक का मुख्य उद्देश्य क्या है, उसे भूल कर अब पोशाक से हमारा धर्म, हमारा देश और हमारी जाति आदि जाने जाते हैं। मज़दूर, मास्टर, कारबारी आदि की पोशाक भी जुदी ही जाति की होती है। ऐसी स्थिति में आरोग्य की दृष्टि से पोशाक का विचार करना बहुत ही कठिन काम है। फिर भी विचार करने से कुछ लाभ ही होगा।

पोशाक शब्द में जूते और ज़ेवर इत्यादि शामिल समझने चाहिए। पोशाक का मुख्य उद्देश्य क्या है? मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्थिति में कपड़ा नहीं पहनता था। स्त्री पुरुष केवल अपना गुप्त भाग ढक लेते और बाक़ी शरीर का सब भाग खुला रखते थे। इससे इनका चमड़ा कठिन और मज़बूत हो जाता था। ऐसे मनुष्य हवा और पानी को ख़ूब सह सकते हैं। उन्हें यकायक सर्दी इत्यादि नहीं होती। हवा के प्रकरण में विचार कर चुके हैं कि हम केवल नथुनों से ही हवा नहीं लेते हैं; बल्कि चमड़े के अनेक छेदों द्वारा भी हवा लेते हैं। कपड़े पहनकर हम इस चमड़े के बड़े काम को रोकते हैं। ठन्डे देश के मनुष्य ज्यों-ज्यों आलसी बनते गये त्यों-त्यों उन्हें शरीर ढकने की ज़रूरत हुई। वे ठन्ड न सह सके और पोशाक का रिवाज चल पड़ा। अन्त में लोगों ने पोशाक को मनुष्य का आभूषण मान लिया। फिर उससे देश, जाति आदि की पहचान होने लगी।

असल में प्रकृति ने मनुष्य के शरीर पर चमड़े की बहुत ही योग्य पोशाक दी है। यह मानना कि शरीर नग्न दशा में बुरा मालूम होता है, बिलकुल भ्रम है। अच्छे-अच्छे से चित्र तो नग्न दशा में दिखाई पड़ते हैं। पोशाक से शरीर के साधारण अंगों को ढककर मानों हम दिखाते हैं कि उनके दोष छिपाने के लिए हम यह कर रहे हैं। मानों हम प्रकृति के कामों में दोष निकाल रहे हैं। हमारे पास ज्यों-ज्यों पैसा अधिक होता है त्यों-त्यों हम अपनी टीमटाम बढ़ाते जाते हैं।

र तरह से आदमी अपनी सुन्दरता बढ़ाना चाहता है। शीशे
मुँह देख-देख अकड़ता है—वाह! मैं कैसा खूबसूरत हूँ।
दि ऐसी आदतों से हम "सब की दृष्टि में फ़र्क न पड़ा हो
ो हम तुरन्त समझ सकते हैं कि मनुष्य का अच्छे-से-अच्छा
प उसकी नग्न दशा में दिखाई देता है; और उसी में उसका
ारोग्य भी है। एक पोशाक पहनी कि रूप में उतना ही फ़र्क
ाला। शायद केवल कपड़ों से संतोष न होने पर स्त्री-पुरुषों
गहने पहनने शुरू कर दिये। बहुतेरे मर्द भी पैर में कड़े
हनते हैं; कानों में बालियाँ लटकाते हैं और हाथ में अँगूठी
हनते हैं। ये सब गन्दगी के घर हैं। यह समझना बहुत ही
ठिन है कि इनके पहनने में कौन-सी शोभा फटी पड़ती है।
स विषय में औरतों ने तो हद ही कर दी है। ये पैरों में ऐसे
ारी-भारी कड़े, पाजेब, पहनती हैं कि पैर उठाना भी कठिन
ो जाता है। बालियों से कान गुथे रहते हैं। नाक में भारी नथ
टका करती है और हाथों में तो जितने गहने हों उतने ही
ाड़े। इस पहनाव से शरीर पर बड़ा मैल जमा हो जाता
। कान और नाक में तो मैल की हद ही नहीं रहती। हम
स मैली दशा को श्रृंगार समझकर खूब पैसे फूंकते हैं।
ोरों के भय से जान जोखिम में डालते हुए नहीं डरते।
ंसो ने बहुत ठीक कहा है कि अभिमान से पैदा हुई मूर्खता
ा हम तकलीफें झेलते हुए जो नज़राना देते हैं वह बहुत ही
ाधिक होता है। ऐसे उदाहरण बहुत लोगों ने अपनी आंखों
ेखे होंगे कि कान में फोड़ा होने पर भी औरतों ने अपनी

बालियां नहीं उतारने दीं। हाथ में फोड़ा होकर हाथ पक गया, फिर भी पहुँची न उतरी। अँगुली पककर सूज आयी तब भी मर्द और औरतें हीरा-जड़ी अंगूठी अपनी अँगुली से उतार डालना रूप में फर्क आ जाने का कारण समझती हैं।

पोशाक के सम्बन्ध में अधिक सुधार मुश्किल है। फिर भी हम गहनों और अनावश्यक कपड़ों को एकदम विदा कर सकते हैं। रीति-रवाज के लिए कुछ कपड़ों को रखकर बाकी को अलग कर सकते हैं। पोशाक मनुष्य का आभूषण है, यह वहम जिन लोगों के मन से दूर हो गया है वे बहुत कुछ सुधार करके अपना आरोग्य ठीक रख सकते हैं।

आजकल यह हवा बह रही है कि योरप की पोशाक हमारे लिए बहुत अच्छी है, इस पोशाक से हमारा रोब बढ़ जाता है और लोग हमारा सम्मान करने लगते हैं। इन सब बातों पर विचार करने का यह स्थल नहीं। यहां तो इतना ही कहना आवश्यक है कि योरप की पोशाक वहां के ठन्डे भागों के लिए भले ही योग्य हो; किन्तु वह भारतवर्ष के लिए उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकती। हिन्दुस्तान के लिए, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, हिन्दुस्तान की ही पोशाक समुचित हो सकती है। हमारे कपड़े खुले और ढीले-ढाले होते हैं। इसलिए उनमें हवा आ जाती है। यह नहीं, अधिकतर सुफेद होते हैं। जिससे सूर्य की किरणें बिखर जाती हैं। काले रंग के कपड़े में सूर्य की गर्मी अधिक मालूम होती है। इसका कारण यह है कि उसमें लगकर किरणें बिखरती नहीं।

हम अपना सिर प्रायः ढके रहते हैं और बाहर जाते समय तो अवश्य ही ढक लिया करते हैं। पगड़ी तो हमारी पहचान हो गई है। फिर भी, जहां तक सुभीता हो, सिर खुला रखने में ही फायदा है। बाल बढ़ाना और पटिया पाड़ना जंगलीपन की निशानी है। बढ़े हुए बालों में धूल, मैल और जूएँ पड़ जाते हैं। कहीं सिर में फोड़ा हुआ तो उसका इलाज करना भी कठिन हो जाता है। सिर पर साहब लोगों के से बाल बढ़ाना पगड़ी बांधनेवालों के लिए बेवक़ूफ़ी है।

पैरों के द्वारा भी हम बहुतेरे रोगों के पंजे में फँस जाते हैं। बूट इत्यादि पहिननेवालों के पैर नाज़ुक हो जाते हैं। उनसे पसीना निकलने लगता है और वह बहुत ही बदबू करता है। जिस मनुष्य को बास की परख है वह मोज़े और बूट पहिनने वाले मनुष्य के पास बदबू के मारे उस समय खड़ा नहीं रह सकता जब वह अपने मोज़े और बूट उतार रहा हो। हम जूतों को पादत्राण या कंटकारि कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि हमें जब कांटों में, ठंढक में, अथवा धूप में चलना पड़े तभी जूते पहनने चाहिएं और सो भी इस प्रकार के जिनसे केवल तलुवे ढकें। सारा पैर न ढक जाय। इस अभिप्राय को सेंडल (खड़ाऊँदार) जूते भली-भांति पूरा कर सकते हैं। जिनका सिर दुखता हो, जिनका शरीर कमज़ोर हो, जिनके पैरों में दर्द होता हो और जिन्हें जूते पहनने की आदत है, उनके लिए तो हमारी यही सलाह है कि वे नंगे पैर चलने का प्रयोग कर देखें। इससे उन्हें तुरन्त मालूम होगा कि पैर खुले रखने,

ज़मीन पर नंगे पैर चलने और उन्हें पसीना-रहित रखने से हम तत्काल कितना लाभ उठा सकते हैं।

ग्यारहवां परिच्छेद

रोग और चिकित्सा

१—हवा के द्वारा

यदि लोग आरोग्य प्राप्ति के सब नियमों का सदा पालन करें और आरोग्य सुरक्षित रखने के लिए अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते रहें तो आगे के प्रकरणों की ज़रूरत ही न हो; क्योंकि ऐसे लोगों को शारीरिक और मानसिक व्याधियां सता ही नहीं सकतीं। पर ऐसे स्त्री-पुरुष हमें मिलते कहाँ हैं? बिरले ही स्त्री-पुरुष ऐसे होंगे जिन्हें कभी किसी प्रकार की व्याधि न हुई हो। साधारण मनुष्य तो सदा व्याधियों से पीड़ित रहते हैं। ऐसे मनुष्य प्रथम भाग में बताए नियमों का जितना अधिक पालन करेंगे उतने ही अधिक नीरोग रहेंगे। पर इस विचार से कि रोग उत्पन्न होने की दशा में ऐसे मनुष्य घबड़ाकर डाक्टर और वैद्यों के पास दौड़ते न फिरें, बल्कि खुद ही व्याधि दूर करने का उपाय कर सकें, आगे के प्रकरण लिखे जाते हैं।

हम दिखा चुके हैं कि आरोग्य-रक्षा के लिए पहली आवश्यक वस्तु हवा है। उसी प्रकार हवा रोगों के नाश करने के लिए भी बहुत मूल्यवान हैं। उदाहरणार्थ ऐसे मनुष्य को लीजिए जिसे गठिया होगई हो। उसे गरम हवा की भाप दी जाय तो पसीना आ जायगा; और जोड़ खुल जायँगे। इस प्रकार भाप देने को 'टर्किश बाथ' कहते हैं।

जिस मनुष्य का शरीर बुखार से आग के समान जल रहा हो उसे यदि बिलकुल नंगा करके हवा में सुला दिया जाय तो उसकी गरमी का माप एकदम कम हो जायगा। उसकी बेचैनी जाती रहेगी। शरीर ठंडा हो, उसे ओढ़ा दिया जाय तो पसीना निकलेगा और बुख़ार उतर जायगा। पर हम लोग बुख़ार चढ़ने पर—चाहे बीमार गरमी से घबड़ा ही क्यों न रहा हो—कमरे की खिड़कियां और दरवाज़े बन्द कर रखते हैं, उसका सिर और नाक खुले नहीं रहने देते, उसे खूब ओढ़ा लपेटकर रखते हैं। यह निरा वहम है। इससे बीमार घबराता है और कमज़ोर हो जाता है। यदि गरमी से बुखार आया हो तो ऊपर बताए हवा के उपचार से नहीं डरना चाहिए। इसका फायदा तुरन्त जान पड़ेगा। इससे नुकसान ज़रा भी नहीं होगा। हाँ, इस बात की सँभाल रखनी चाहिए कि बीमार स्वयं खुला रहकर काँपने न लगे। यदि बीमार को सरदी मालूम हो तो समझ लेना चाहिए कि उसे ज़्यादा घबराहट नहीं है। बीमार नग्न दशा में बाहर न रह सके तो भी उसे ओढ़ाकर बाहर खुली हवा में रखने से कभी नुकसान नहीं है।

जीर्ण-ज्वर (पुराने बुख़ार) अथवा दूसरी बीमारियों के लिए वायु-परिवर्त्तन (हवा बदलना) एक अक्सीर दवा है। हवा बदलने का रिवाज उपचार का ही अङ्ग है। कभी-कभी लोग घर भी बदल देते हैं। जिस घर से बीमारी कभी दूर नहीं होती उसमें भूत-प्रेतपन हवा की ख़राबी में ही रहा करता है। घर बदलने से हवा बदल जाती है। यही फायदा है। हमारे शरीर के साथ हवा का ऐसा घना सम्बन्ध है कि उसका जरा भी फेर-फार हमारे ऊपर अच्छा अथवा बुरा परिणाम डाले बिना नहीं रहता। पैसेवाले हवा बदलने के लिए बाहर दूर जा सकते हैं। ग़रीब लोग पास के गाँव में जाकर, और मजबूरी की हालत में दूसरे घर में जाकर भी, फायदा उठा सकते हैं। बीमार को एक से दूसरी कोठरी में ले जाने से भी कुछ फ़ायदा होता है। घर, कोठरी और गाँव आदि के बदलने में हमको इस बात का ज़रूर ख़याल रखना चाहिए कि जहां जाना है वहां की हवा बहुत ही बढ़िया हो। नम (सर्द) हवा में उत्पन्न हुई बीमारी अधिक नम हवा-वाले स्थान में जाने से दूर नहीं होगी। कभी-कभी हवा तबदील करने का फल अच्छा नहीं होता। इसका कारण यह होता है कि बिना समझे हवा तबदील की जाती है। कितनी ही बार अच्छी हवा में जाने पर भी लाभ नहीं दिखाई पड़ता। क्योंकि अन्य प्रकार की आवश्यक सावधानी नहीं रखी जाती।

पिछले भाग के हवा के प्रकरण के साथ इसे मिलाकर पढ़ने से पाठकों को समझने में बहुत आसानी होगी। उसमें हवा

का आरोग्य के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है और हवा के विषय में सामान्य विचार किया गया है। यहाँ हवा का विचार सिर्फ उपचार की भाँति किया गया है।

२—जल के इलाज

हवा का काम अदृश्य रूप से होता है, इसलिए हम हवा के उपचारों की खूबी भली भांति नहीं परख सकते। परन्तु पानी का प्रभाव और काम हम देख सकते हैं। इससे उसकी खूबियां तुरन्त जानी जा सकती हैं।

सभी लोग थोड़ी-बहुत भाप की जलचिकित्सा जानते हैं। बुखार में बीमार को भाप देते हैं, सिर में दर्द अधिक होने पर प्रायः भाप से दूर किया जाता है। संधिवात (गठिया) से जोड़ों के जकड़ जाने पर बीमार को शीघ्र लाभ होता है। शरीर पर ज़्यादा फोड़े-फुन्सी होने पर मरहम-पट्टी से काम नहीं चलता; पर भाप देने से वे एकदम नरम पड़ जाते हैं।

बहुत थका हुआ मनुष्य अगर भाप ले, गरम पानी से नहाकर तत्काल ठंडे पानी से नहा ले, तो शरीर हलका हो जायगा। थकावट उतर जायगी। जिसे नींद न आती हो वह भाप लेकर ठंडे पानी में नहाये और खुली हवा में लेटे तो तुरन्त नींद आ सकती है।

जहाँ भाप काम में लाने को कहा गया है, वहाँ गरम पानी काम में ला सकते हैं। भाप और गरम पानी में भेद न समझना चाहिए। अगर पेट में सख्त दर्द होता हो तो गरम पानी से

सेंकने से तुरन्त आराम होगा। उबलते हुए पानी की बोतल या हांडी में भरकर और पेट पर मोटा कपड़ा रखकर उसके द्वारा सेंकने का काम कर सकते हैं। कभी-कभी कै (उल्टी) कराने की जरूरत पड़ती है। अधिक गरम पानी से कै हो सकती है। जिन्हें कब्ज़ रहता हो वे यदि सोते समय या सवेरे दतुवन के बाद गरम पानी पीवें, तो दस्त आने की बहुत सम्भावना रहती है। सर गार्डन स्प्रिंग—जो किसी समय केप टाउन के प्रधान थे—बड़े तन्दुरुस्त थे। किसी ने पूछा, इसका मुख्य कारण क्या है? बोले, "मैं सोते समय तथा सवेरे उठकर हर रोज़ एक गिलास गरम पानी पीता हूँ। इसी से मेरी तन्दुरुस्ती पेट अच्छी रहती है।" कितने ही मनुष्यों को चाय पीने के बाद दस्त उतरता है। वे ग़लती से समझते हैं कि यह चाय पीने का परिणाम है। पर [illegible] चाय तो उलटा नुकस[illegible] पानी ही है। [illegible]

भाप लेने के लिए एक विशेष प्रकार के चौकठे भी आते हैं परन्तु उनकी कोई विशेष ज़रूरत नहीं होती। बेत की कुरसी के नीचे स्पिरिट या मिट्टी के तैल का चूल्हा या जलती लकड़ी या कोयले की छोटी-सी अँगेठी रखी जाय। अँगेठी पर एक छोटी-सी पतीली पानी भर मुँह ढककर रख दें। कुरसी पर एक गुदड़ी या कम्बल इस प्रकार डाल दें कि वह आगे की तरफ़ लटकती रहे, जिस से बीमार को अँगेठी या भाप की आँच न लगे। अब बीमार को कुरसी पर बिठाकर उसके चारों

तरफ़ कम्बल या चादर लपेट दें। फिर पतोली पर से ढक्कन हटा दें। अब बीमार को भाप लगनी शुरू होगी। हम लोगों में बीमार का सिर ढकने की रीति है। परन्तु वैसा करने की ज़रूरत नहीं। शरीर में जो गरमी पैदा होती है वह मस्तक तक चढ़ती है और उससे मुँह पर पसीना आ जाता है। अगर बीमार उठ बैठ न सकता हो तो उसे रस्सी के पलंग या लोहे की चारपाई पर लेटाकर भाप दी जा सकती है। इस में कम्बल को इस तरह रखें कि गरमी और भाप बाहर न निकल जाय। भाप देते हुए इस ओर विशेष ध्यान रखें कि बीमार जल न जाय—कहीं उसके कम्बल इत्यादि में आग न लग जाय। बीमार की हालत बहुत ही नाज़ुक हो तो बहुत सोच समझकर भाप दें, भाप देने में जैसे लाभ हैं वैसे ही हानियाँ भी हैं। भाप लेने के बाद मनुष्य कमज़ोर ज़रूर पड़ जाता है। पर यह कमज़ोरी बहुत दिनों तक नहीं रहती। हाँ, अगर रोज़ाना भाप लेने की आदत पड़ गई हो तो आदमी ज़रूर कमज़ोर हो जाता है। इस लिए भाप का उपयोग बहुत सावधानी से करना चाहिए। शरीर के किसी भी भाग को भाप दी जा सकती है। किसी मनुष्य का सिर दुखता हो तो सारे शरीर को भाप न दें। छोटे मुँहवाली पतीली या हांड़ी में पानी उबालकर उस पर केवल माथा रखें, सिर के ऊपरी भाग को कपड़े से ढाँककर नाक द्वारा भाप लें। भाप नाक के छेदों से सिर में चढ़ जायगी। नाक बन्द हो गई हो तो भाप लेने से खुल जायगी। किसी विशेष अंग पर सूजन आ जाय तो उसके दूर

करने के लिए उतने ही अंग को भाप देनी चाहिए।

गरम पानी और भाप का फायदा साधारणतः सब लोग समझते हैं। पर ठंडे पानी के लाभ समझनेवाले बहुत कम दिखाई पड़ते हैं। यह निर्विवाद है कि ठंडे पानी का सा असर गरम पानी में नहीं है। ठंडे पानी में ताक़त देने का गुण अधिक होता है। कमज़ोर-से-कमज़ोर आदमी को भी ठंडे पानी का उपचार किया जा सकता है। तापज्वर, शीतला की बीमारी और चर्म-रोगों में ठंडे पानी में भिगोई हुई चादर लपेटने का इलाज अक्सीर है। इसका असर बहुत विचित्र होता है। हर आदमी बेखटके इसकी आज़माइश कर सकता है। मनुष्य को यदि उन्माद हो गया हो, सन्निपात ने घर लिया हो, तो बर्फ़ के पानी में भिगोया हुआ कपड़ा सिर पर रखने से शान्ति मिलेगी। जिसे दस्त न होता हो, वह बर्फ़ के पानी में भीगा हुआ कपड़ा अपने पेट पर रखे तो सम्भवतः दस्त आ जायगा। वीर्यपात हो जाता हो तो पेड़ू पर ठंडे पानी में भिगोया हुआ कपड़ा बाँधकर सोने से अवश्य लाभ पहुँचेगा। किसी जगह खून बह रहा हो तो बर्फ़ के पानी में भींगी पट्टी बाँधने से खून बन्द हो जायगा। नकसीर फूटने पर माथे पर लगातार ठंडा पानी चढ़ाना बहुत ही लाभदायक है। नाक का एक छेद बन्दकर दूसरे से पानी चढ़ाया और पहले से निकाला जा सकता है। दोनों छेदों से पानी चढ़ाकर मुँह से भी निकाला जा सकता है। नाक साफ़ हो तो चढ़ाए हुए पानी के पेट में जाने से भी कोई डर नहीं। पानी

चढ़ाकर नाक साफ़ रखने की आदत बहुत ही अच्छी है।* नाक से पानी न चढ़ा सकनेवाले पिचकारी से चढ़ा सकते हैं। दो-चार बार प्रयत्न करने से पानी चढ़ाना आ जाता है। हर आदमी को यह क्रिया मालूम होनी चाहिए। क्योंकि सिर की बीमारियाँ ऐसे सहज उपाय से प्रायः तुरन्त बन्द हो सकती हैं। नाक से बुरी बास आती हो तब भी यह इलाज काम का है। कितने ही लोगों की नाक में पपड़ी पड़ती है, इसके लिए भी पानी चढ़ाना रामबाण है।

बहुत लोग गुदा (मलद्वार) के रास्ते से पेट में पानी चढ़ाते आगा-पीछा करते हैं। कितने ही कहते हैं, इससे शरीर निर्बल हो जाता है; पर यह निरा भ्रम है। तुरन्द दस्त लाने के लिए गुदा के रास्ते से पानी की पिचकारी लेने की अपेक्षा दूसरा उत्तम इलाज नहीं है। बहुतेरी बीमारियों में जब दूसरा इलाज काम नहीं करता, तब यही करता है। इस इलाज से मल बिलकुल साफ़ हो जाता है और शरीर में नया ज़हर नहीं जमता। जिन्हें वातरोग हो, वादी हो, मेदे की ख़राबी से किसी प्रकार का भी दर्द हो, उन्हें गुदा द्वारा दो पाउण्ड (एक सेर) पानी की पिचकारी लेकर देखना चाहिए। तुरन्त दस्त हो जायगा। इस विषय पर एक मनुष्य ने एक पुस्तक लिखी है। उसने बहुतेरी दवाइयां कीं; किन्तु बदहज़मी के चंगुल से छुटकारा न पाया। उसका शरीर निर्बल होकर पीला पड़ गया

*नाक से पानी चढ़ाने के लाभ और उसकी तरकीबें "तरुण-भारत-ग्रन्थावली" से प्रकाशित "उषःपान" नामक पुस्तक में देखिये।

था। पिचकारी लेना शुरू करने के बाद ही भूख खुली और थोड़े ही दिनों में तबीयत बिल्कुल अच्छी हो गयी। पांडु रोग की बीमारियाँ भी पिचकारी द्वारा तुरन्त नष्ट की जा सकती हैं। यदि बार-बार पिचकारी लेने की ज़रूरत पड़े तो ठंडे पानी की लेनी चाहिए। बार-बार गरम पानी की पिचकारी लेने से कमज़ोरी आ जाने की सम्भावना रहती है। पर यह दोष पिचकारी का नहीं है।

जर्मन डाक्टर कूने ने अनेक प्रयोगों से यह बात निश्चित की है कि पानी का इलाज सर्वोत्तम है। इस विषय पर उसकी लिखी हुई पुस्तक ऐसी सर्वप्रिय हुई कि प्रायः सभी भाषाओं में उसके अनुवाद हुए हैं। कूने के सिद्धान्त से सब रोगों की जड़ मेदा है। मेदे में गर्मी होने से शरीर के बाहरी भाग में फोड़े-फुन्सी या दूसरी बीमारियाँ फूट निकलती हैं, या ताप बाहर निकलकर सारे शरीर को तपाने लगता है। कूने के पूर्व-लेखकों ने भी पानी के उपचार पर अपनी सम्मति दी है। "पानी के उपचार" नाम की एक पुस्तक कूने की पुस्तक से बहुत पहले लिखी जा चुकी थी। पर कूने के पहले किसी ने भी बीमारियों की एकता पर इतना ज़ोर नहीं दिया। किसी ने यह नहीं बतलाया था कि सब रोगों की मूल उत्पत्ति मेदे से है। हमें यह मान लेने की ज़रूरत नहीं कि कूने का सिद्धान्त सर्वांश में सत्य है। इस विचार से कोई मतलब भी नहीं। पर देखने से बहुतेरी बीमारियों के विषय में कूने के विचार और उपचार ठीक उतरते हैं। यह अनुभवसिद्ध है। डरबन के मजिस्ट्रेट मि०

टीटन धनुर्वात से बिलकुल अपंग हो गये थे। बहुतेरे डाक्टरों का इलाज किया; पर सब निष्फल। किसी ने कूने के यहां जाने की सलाह दी। वहां जाकर वे अच्छे हो आए। बहुत दिनों तक डरबन में सुख से रहे। वे हमेशा लोगों को कूने के उपचारों द्वारा लाभ उठाने की सलाह दिया करते थे। जलचिकित्सा-प्रचार के ऐसे बहुतेरे उदाहरण विद्यमान हैं।

डा० कूने ने लिखा है कि मेदे की गर्मी ठंढक पहुँचाने से मिटती है। इसके लिए उसने इस प्रकार ठंढे जल से स्नान करना बताया है जिससे मेदे के आस-पास के भागों को ठंढक मिल सके। सरलतापूर्वक इस स्नान की सुविधा के लिए उसने एक विशेष प्रकार का टीन का टब बताया है। पर हम इसके बिना भी काम चला सकते हैं। पुरुष और स्त्रियों के भिन्न-भिन्न कद के अनुसार छोटे-बड़े टीन के टब बाज़ारों में बिकते हैं। ये कूने-बाथ के लिए अच्छे हैं। टब का तीन-चौथाई भाग ठंडे जल से भर कर उसमें रोगी को इस तरह बिठाना चाहिए, कि उसके पैर और धड़ पानी के बाहर रहें। नाभी से लेकर जांघों तक का भाग ही पानी के अन्दर रहे। अच्छा हो कि पैर किसी पीढ़े या पाटे के ऊपर रख दिए जांय। बीमार को पानी में बिलकुल नंगे होकर बैठना चाहिए। ठंढक मालूम हो तो पैर और धड़ कम्बल से ढक दिए जांय। ऐसी दशा में बीमार को कुरता, बंडी, इत्यादि भी पहिनाई जा सकती है। पर ये चीज़ें पानी के बाहर रहनी चाहिएँ। यह स्नान ऐसी कोठरी में करना चाहिए जहां उजेला, हवा और

धूप आती हो। पानी में बैठकर, रोगी को खद्दर के छोटे अंगोछे से पानी के भीतर अपना पेट धीरे-धीरे स्वयं मलना या दूसरे से मलवाना चाहिए। यह स्नान पांच से बीस मिनट या उससे भी अधिक देर तक किया जा सकता है। प्रायः देखा गया है कि इस स्नान का असर तुरन्त होता है। बादी के बीमार को तो तुरन्त वायु सरने लगता है या डकारें आने लगती हैं। बुख़ार की दशा में तो स्नान के पांच मिनट बाद ही थर्मामीटर का पारा एक, दो या अधिक डिगरी नीचे ज़रूर उतर आता है। दस्त साफ़ होने लगता है। थकावट मिट जाती है। जिन को नींद बिलकुल नहीं आती, उन के मस्तिष्क की गर्मी शान्त होकर नींद आने लगती है। ज़्यादा नींदवाले जगने लगते हैं और उनमें फुर्तीलापन आ जाता है। सरसरी तोर पर देखने से इस स्नान से परस्पर-विरोधी परिणाम—उदाहरणार्थ नींद आना और नींद दूर हो जाना—निकल सकते हैं; पर ऐसा नहीं है। यहां इतना बता देना आवश्यक है कि नींद न आना, या बहुत आना, ये दोनों बातें एक ही कारण के भिन्न-भिन्न परिणाम हैं। इनमें केवल देखने भर का विरोध है। अतीसार और बद्धकोष्ठ दोनों बद-हज़मी के नतीजे हैं। किसी को अतीसार हो जाता है, और किसी को बद्धकोष्ठ। इन दोनों पर ही कूने के स्नान का बहुत ही अच्छा असर होता है। बहुत पुराना बवासीर (अर्श) भी इस स्नान से और इसके साथ ही खुराक इत्यादि के उपचार से दूर हो सकता है। बहुत थूकने की आदत वालों को तुरन्त

स्नान शुरू कर देना चाहिए। शुरू करते ही फ़ायदा जान पड़ेगा। इस स्नान से निर्बल मनुष्य भी बलवान हो जाते हैं। बहुत लोगों का संधिवात (गठिया) तक अच्छा हो गया है। रक्त-स्राव के लिए यह स्नान बहुत ही उपयोगी है। इससे रक्तविकार भी दूर हो जाता है। माथा दुखने पर यदि कोई मनुष्य यह स्नान करे तो उसका दर्द तुरन्त हलका पड़ जायगा। कूने तो इसे नासूर सरीखे भंयकर रोगों में भी अमूल्य गिनवा है। गर्भिणी स्त्री यह स्नान करती रहे तो उसे प्रसव-काल में बहुत ही कम कष्ट हो। बालक, जवान, बूढ़े, स्त्री और पुरुष सभी यह स्नान कर सकते हैं।

इसके सिवा स्नान की एक रीति और भी है, जो कुछ बीमारियों के लिए अक्सीर है। इसे 'वेट-शीट-पेक' अर्थात् 'भीगी चादरों का वेष्टन' कहते हैं।

खुली हवा में एक लम्बी मेज़ या तख़्ते पर चार, या हवा के अनुसार कम ज़्यादा, कम्बल लटकते हुए बिछा दें। इन पर दो मोटी और साफ़ चादरें ठंढे पानी में पूरी तरह भिगोकर लटकती हुई बिछावें। माथे की ओर कम्बलों के नीचे एक तकिया रखें। अब बीमार को नंगा करें। वह चाहे तो एक छोटा रूमाल या लँगोटी कमर में पहन सकता है। ऊपर बताई रीति से तैयार की हुई चादरों पर बीमार को चित लिटाकर चादर और कम्बलों को एक-एक करके दोनों ओर से उसके शरीर पर लपेट दें। धूप हो तो बीमार के मुँह और माथे पर भीगा रूमाल लपेट दिया जाय। नाक सदा खुली रहे। बीमार

को ज़रा देर कँपकँपी लगेगी। फिर आराम मालूम होगा और शरीर को भली मालूम होनेवाली गरमी लगेगी। इस स्थिति में बीमार पाँच मिनट से एक घंटे, या इससे भी अधिक देर तक रह सकता है। अन्त में गरमी से पसीना बह निकलता है। प्रायः देखा गया है कि ऐसी स्थिति में बीमार सो जाता है। बीमार को चादर से बाहर निकालने पर पानी से नहलाना चाहिए। चमड़े की अनेक बीमारियों की यह उत्तम दवा है। खुजली, दाद, सेहुँवा, चेचक, साधारण फोड़े और बुख़ार आदि पर चादर का वेष्टन बहुत ही गुण करता है। चेचक की बीमारी कितनी ही भयंकर क्यों न हो, इस उपचार से बहुत करके नष्ट हो सकती है। शरीर पर यदि चट्टे पड़ गए हों तो एक या दो बार इस बाथ (स्नान) के लेने से मिट जाते हैं। इस बाथ का खुद लेना या किसी दूसरे को देना बहुत आसानी से सीखा जा सकता है। स्वयं अनुभव करके इसकी उपयोगिता जानी जा सकती है। इस बाथ से शरीर के चमड़े का बहुत सा मैल चादर में लिपट जाता है। इसलिए एक बार काम में लाई हुई चादर खौलते हुए पानी में खूब धोए बिना उसी बीमार या दूसरे किसी के काम में न लानी चाहिए।

अन्त में ऊपर लिखे हुए पानी के उपचारों के विषय में इतना याद दिलाना आवश्यक है कि जो मनुष्य पानी, हवा, खुराक, और कसरत आदि की उपेक्षा करके केवल स्नान ही का सहारा लेगा उसे उसका लाभ या तो बहुत कम या बिलकुल ही नहीं मालूम होगा। मान लीजिए कि एक संधिवात

का रोगी कुने-बाथ या चादर-वेष्टन का उपचार शुरू करे, पर अभक्ष्य भक्षण करे, अस्वच्छ हवा में रहे, गन्दगी में पड़ा सड़े और कसरत न करे तो उसे अकेले बाथ से आरोग्य कैसे प्राप्त हो सकता है? तन्दुरुस्ती के दूसरे सब नियम पालने से ही पानी का उपचार मददगार हो सकता है। इस में जरा भी सन्देह नहीं कि अगर तन्दुरुस्ती के दूसरे नियमों का पालन पूरी तरह किया जाय तो पानी के उपचार से बीमार बड़ी जल्दी आराम हो सकता है।

३—मिट्टी के उपचार

जलोपचार के लाभ बतलाए गए; पर कितने ही रोगों में मिट्टी का उपचार इससे भी अधिक चमत्कारिक देखा गया है। हमारे शरीर का अधिक भाग मिट्टी से बना है। इसलिए इस पर मिट्टी का असर होना कोई नयी बात नहीं है। बहुत लोग मिट्टी को पवित्र मानते हैं। दुर्गन्ध मिटाने को ज़मीन पर मिट्टी लीपते हैं, सड़ी चीज़ों पर मिट्टी डालते हैं, अपवित्र हाथों को मिट्टी से धोकर पवित्र करते हैं, गुदा-भाग भी मिट्टी लगाकर पवित्र किया जाता है। योगी लोग शरीर पर मिट्टी लगाते हैं। यहां के देशी-विदेशी लोग फोड़े-फुन्सियों में मिट्टी का उपयोग करते हैं। हम पानी साफ़ करने के लिए बालू या मिट्टी में से छानते हैं। मुर्दे ज़मीन के अन्दर गाड़ देने से हवा में गन्दगी नहीं पैदा होती। मिट्टी की इस प्रत्यक्ष महिमा से हम अनुमान कर सकते हैं कि इसमें कितने ही विशेष गुण अवश्य हैं।

जैसे कूने ने पानी पर खूब विचार कर कितनी ही उपयोगी बातें लिखी हैं, वैसे ही जुस्ट नामक एक अन्य जर्मन ने मिट्टी के सम्बन्ध में अनेक लाभदायक बातें बतायी हैं। यहाँ तक कहा है कि मिट्टी के उपचार से असाध्य रोग भी मिट सकते हैं। उसका कहना है कि एक बार मेरे पास किसी गाँव में किसी आदमी को सांप ने काट खाया, बहुतों ने मरा समझ लिया। पर वहां किसी आदमी ने मुझसे सलाह लेने की बात कही। मैंने उसे मिट्टी में गड़वा दिया। थोड़ी देर बाद उसे होश आगया। यह अनहोनी बात नहीं है। और कोई कारण नहीं कि जुस्ट झूठ लिखता। यह तो साफ़ दिखाई पड़ता है कि मिट्टी में गाड़ देने से बहुत गर्मी निकलती है। हमारे पास यह जानने के साधन नहीं हैं कि मिट्टी में मौजूद, किन्तु अदृश्य, जन्तुओं ने शरीर पर क्या काम किया है। पर यह निर्विवाद है कि मिट्टी में ज़हर इत्यादि चूस लेने की शक्ति है। इसपर भी जुस्ट ने लिखा है कि इससे मेरा यह मतलब नहीं कि सभी सांप के काटे मिट्टी के इलाज से जी उठते हैं। पर ऐसे समय में मिट्टी का उपचार करना चाहिए। बर्रे और बिच्छू के डंक पर मिट्टी के उपयोग को मैंने खुद भी आजमाइश की है और उससे तुरन्त आराम मालूम हुआ है। मिट्टी को ठंडे पानी में सान कर, उसकी गाढ़ी पुल्टिस-सी बनाकर, डँसे हुए स्थान पर रखकर, कपड़े से बांध दें। नीचे बतलाये हुए रोगों में मैंने इस उपचार को खुद आजमाया है। पेट में मरोड़ होनेवालों के पेड़ू पर मिट्टी की पुल्टिस बाँधने से दो-तीन दिन में मरोड़

बन्द होगई है। सिर में दर्द होने पर मिट्टी की पुल्टिस रखने से तुरन्त ही आराम मालूम हुआ है। आंख उठने पर भी यह पुल्टिस बांधने से लाभ देखा गया है। चोट में मिट्टी की पुल्टिस बांधने से सूजन और दर्द दोनों दूर हो जाते हैं। बहुत दिनों तक मेरी यह दशा थी कि मैं फ्रूट साल्ट इत्यादि लिये बिना नीरोग नहीं रहता था। १९०४ ई० में मुझे मिट्टी की उपयोगिता मालूम हुई। तब से फ्रूट-साल्ट इत्यादि चीज़ें छूट गईं। फिर किसी दिन इनको लेने की ज़रूरत न पड़ी। कोष्ठवद्धता में पेड़ू पर मिट्टी की पुल्टिस बांधने से पेट नरम पड़ जाता है। अतीसार भी मिट्टी बांधने से जाता रहता है। तेज़ बुख़ार में माथे और पेड़ू पर मिट्टी बांधने से एक-दो घन्टे बाद बुख़ार बहुत कम हो जाता है। फोड़े, फुन्सी, दाद और खुजली इत्यदि पर मिट्टी की पुल्टिस प्रायः बहुत अच्छा असर करती है। हां, ऐसे फोड़ों पर मिट्टी की उपयोगिता कम हो जाती है जो मवाद देते रहते हैं। बवासोर के लिए मिट्टी बहुत लाभदायक है। पाला लग जाने से प्रायः हाथ-पैर लाल होकर सूज आते हैं। इसपर मिट्टी की पुल्टिस अपना असर किए बिना नहीं रहती। पैरों की उँगलियों में खाज हो जाने पर मिट्टी गुणकारी देखी गयी है। दुखते हुए जोड़ों पर मिट्टी लगाने से तुरन्त फायदा होता है। मिट्टी के बहुत से प्रयोग करते हुए मुझे मालूम हुआ कि घरेलू इलाज के लिए मिट्टी एक अमूल्य वस्तु है'।

सब प्रकार की मिट्टी समान गुणवाली नहीं होती। सुर्ख

मिट्टी अधिक असर करने वाली पायी गयी है। मिट्टी सदा साफ़ जगह से खोदकर निकालें। जिस मिट्टी में गोबर इत्यादि का मेल हो उसे उपयोग में न लाना चाहिए। मिट्टी बहुत चिकनी न हो। बलुई चिकनी मिट्टी अच्छी समझी जाती है। उसमें किसी प्रकार का कूड़ा-कचरा न हो। मिट्टी को बारीक चलनी से चालकर काम में लाना अधिक उपयोगी है। मिट्टी सदा ठंढे पानी में भिगोवें। गूंधे हुए आटे के समान कड़ी मिट्टी रखनी चाहिए। साफ़, बिना कलप के, झंझरे कपड़े में बांधकर पुल्टिस की तरह पर रखें। शरीर पर सूखने के पहले ही मिट्टी को खोल लें। साधारणतः एक दफे की पुल्टिस दो से तीन घंटे तक चल सकती है। काम में लाई हुई मिट्टी दोबारा काम में न लावें। पुल्टिस में बँधा हुआ कपड़ा धोकर दोबारा बांधने के काम में आ सकता है। लेकिन उसमें पीब इत्यादि न लगी हो। पेडू पर पुल्टिस बांधनी हो तो पहले पुल्टिस पर एक गरम कपड़ा रखें तब उस पर पट्टी चढ़ावें। हर आदमी को एक डब्बे में मिट्टी भर रखनी चाहिए। जिसमें मौके पर ढूँढ़ने न जाना पड़े। बिच्छू इत्यादि के डंक पर जितनी ही जल्दी मिट्टी लगाई जाती है उतना ही अधिक फ़ायदा होता है।

बारहवां परिच्छेद

—○○—

१—ज्वर और उसकी चिकित्सा

हम लोग शरीर की हर तरह की हरारत को ज्वर कहते हैं। अंग्रेज़ी डाक्टरों ने ज्वर के बहुत से भेद बतला कर उन पर अलग-अलग पुस्तकें लिखीं हैं और उन भेदों का खूब विस्तार किया है। अधिकतर बुख़ारों में एक ही इलाज काम कर सकता है। साधारण बुख़ार से लेकर प्लेग तक के बुख़ार में मुझे तो कम से कम एक ही इलाज का अनुभव हुआ है और उसका परिणाम ठीक निकला है। १६०४ ई० में अफ्रीका में हम लोगों में महामारी फूट निकली। उसमें तेईस आदमी बीमार हुए। चौबीस घंटे के अन्दर इकीस आदमी मर गये। दो प्लेग के अस्पताल में पहुँचा दिए गये। दोनों में से एक ही अन्त तक जीता रहा। यह वह आदमी था जो अकेला मिट्टी की पुल्टिस का उपयोग कर सका था। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उस रोगी को मिट्टी ही से लाभ पहुँचा; परन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि इस मिट्टी के कारण उसे और किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँची। इन दोनों बीमारों के फेफड़ों

में सूजन हो जाने से बुख़ार आया था। दोनों बेहोशी में पड़े हुए थे। जिसकी छाती पर मिट्टी की पुल्टिस बांधी गई थी उसकी बीमारी ऐसी भयंकर थी कि उसके मुँह से कफ की भांति खून तक गिर रहा था। डाक्टर से मुझे मालूम हुआ कि इसे पहले बहुत कम खुराक दी जाती थी और सो भी दूध की।

बुख़ार की उत्पत्ति अधिकतर मेदे की ख़राबी से होती है। इसलिए पहला उपाय रोगी को बिलकुल उपवास कराना है। कुछ कमजोर या बुखार वाला मनुष्य बिना खाए बिलकुल कमज़ोर हो जायगा, यह निरा भ्रम है। जितनी खुराक का पचने के बाद खून बन सकता है उतनी ही काम की है, और बाक़ी पेट में सीसे के डले के समान पड़ी रहती है। बुख़ार वाले मनुष्य का मेदा बहुत कमज़ोर होजाता है, उसकी जीभ काली या सुफ़ेद रहती है, ओंठ सूखे रहते हैं। इस हालत में वह मनुष्य क्या पचा सकता है? उसे भोजन करने को दिया जाय तो बुख़ार अवश्य बढ़ेगा। खाना एकदम बन्द कर देने से मेदे को अपना काम करने का मौका मिलता है। इसलिए बीमार को एक-दो या अधिक दिन तक उपवास कराना चाहिए। उपवास के दिनों में भी कूने-बाथ देना चाहिए। कम-से-कम दो बाथ तो रोज़ ही लेने चाहिएं। रोगी बाथ ले सकने लायक न हो तो पेडू पर मिट्टी की पुल्टिस बांधे। माथा दुखता हो, अथवा अधिक गरम होगया हो, तो माथे पर भी मिट्टी बांधनी चाहिए। जहां तक हो, बीमार खुली हवा

में रखा जाय; किन्तु उसका बदन ढँका रहे। भोजन आरम्भ कराने के समय नारंगी का गरम या ठंडा पानी दिया जाय। नारंगी को दबाकर रस निकाल लें और उसमें आवश्यकतानुसार ठंढा या उबाला पानी मिला दें। यथासम्भव उसमें शक्कर न डालें। नारंगी के इस पानी का असर बहुत अच्छा होता है। यदि बीमार के दांत गुठला न जाते हों, और वह ले सके, तो ऊपर की रीति से बनाया हुआ नींबू का ही पानी वह ले। इसके बाद उसे आधा या एक केला, एक चम्मच जैतून के तेल तथा एक या आधा चम्मच नींबू के पानी में खूब मलकर दें। प्यास लगने पर उबाला हुआ ठंढा पानी या नींबू का पानी दें। बिना उबाला पानी कभी न दें। साफ़ पानी प्राप्त करने की तरकीब पहले बतायी जा चुकी है। वहां से देख लें। बीमार को कपड़े बहुत कम पहिनावें और हमेशा बदलते रहें। ओढ़ने वाला कपड़ा यदि काफ़ी हो तो और कपड़ों की ज़रूरत ही नहीं रहती। ऐसे उपचारों से 'टाईफाइड' जैसे भयंकर बुख़ार के रोगी भी बिलकुल अच्छे होकर अब खूब तन्दुरुस्त हैं। कुनैन आदि दवाइयों से भी मनुष्य अच्छे हो जाते हैं; किन्तु उन्हें एक रोग से छूटकर दूसरे के पंजे में फँसना पड़ता है। लोग कहते हैं कि कुनैन के प्रयोग से 'मलेरिया' वाले रोगी तो ज़रूर ही अच्छे हो जाते हैं; परन्तु मेरा ख़याल है कि उन्हें 'मलेरिया' शायद ही छोड़ता हो। लेकिन ऊपर बताई हुई प्राकृतिक दवा लेनेवालों को मैंने मलेरिया रोग से भी बिलकुल आराम होते देखा है।

बहुत लोग बुख़ार में दूध पीकर रहते हैं। पर मेरा अनुभव है कि बुख़ार के शुरू में दूध देना हानिकारक है। उसका पचना कठिन होजाता है। यदि दूध देना हो तो गेहूं की काफ़ी के साथ दूध में थोड़ा-सा चावल का आटा और पानी डाल पकाकर देना किसी क़दर अच्छा है। परन्तु सख़्त बुख़ार या विषम-ज्वर में इस प्रकार से भी दूध नहीं दिया जा सकता। ऐसी दशा में नींबू का पानी बहुत ही चमत्कारिक गुण दिखाता है। जब बीमार की जीभ साफ़ हो जाय तब केले की खुराक आरम्भ करनी चाहिए। बीमार को दस्त न हो तो रेचक दवा देने के बदले थोड़ा सुहागा डालकर गरम पानी की पिचकारी देने से पेट साफ़ हो जायगा और तब 'ओलिव आयल' वाली खुराक उसके पेट को साफ़ कर दिया करेगी।

२—क़ब्ज़, संग्रहणी, पेचिश, बवासीर

इस प्रकरण में एक ही साथ चार रोगों का विचार है। साधारणतः यह आश्चर्यजनक मालूम होगा। पर इन चारों का परस्पर बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है, और हमारा बिना ओषधि का उपचार चारों के लिए प्रायः एक ही है। मेरे पर बहुत बोझा पड़ने से कितने ही लोगों को उनके शरीर की गठन के अनुसार कब्ज़ होजाता है। अर्थात् दस्त या तो नियमानुसार नहीं होता या खुलकर नहीं होता। दस्त उतरने के लिए उन्हें कांखना पड़ता है। यह बात यदि बहुत दिनों

तक बनी रही तो खून गिरने लगता है। इससे कभी-कभी काँच निकलने लगती है अथवा अर्श (बवासीर) के मसे निकल आते हैं। किसी को मेदे पर अधिक बोझ पड़ने से दस्त आने लग जाते हैं। इसका सिलसिला बहुत दिनों तक जारी रहता है। बार बार पाखाने जाने पर भी हाजत बनी ही रहती है। दस्त बहुत थोड़ा होता है। इस दशा को संग्रहणी कहते हैं। कितनों को पेचिश होजाती है, तब आँव पड़ने लगती है और पेट में पीड़ा रहती है।

इनमें से हर रोग में भूख कम लगती है। रोगी का शरीर फीका पड़ जाता है। ताक़त नहीं रह जाती और साँस में बदबू रहती है। जीभ बिगड़ती रहती है। कितनों का माथा दुखता है और कितनों को दूसरी बीमारियाँ घेर लेती हैं। कब्ज़ ऐसी फैली हुई बीमारी है कि उसके लिए सैकड़ों दवाइयाँ और फंकियाँ बनी हैं। मैगसल्फ-सिगल-शिरप, फ्रूट साल्ट इत्यादि दवाइयों का मुख्य काम ही कब्ज़ियत मिटाना है और कब्ज़ मिटाने की धुन में हज़ारों मनुष्य ऐसी दवाइयों के पीछे हैरान होते हैं। साधारण वैद्य और डाक्टर तुरन्त ही कहेंगे कि कब्ज़ इत्यादि बीमारियों की जड़ बदहजमी है, और वे यह भी कहेंगे कि यदि बदहजमी का कारण दूर कर दिया जाय तो ये बीमारियां मिट जायँ। इनमें जो ईमानदार हैं वे साफ़ कहते हैं कि हमारे रोगी अपनी बुरी आदतें नहीं छोड़ना चाहते और रोग मिटाना चाहते हैं, इसी से हमें फंकी, चूर्ण और काढ़े देने पड़ते हैं। आजकल के विज्ञापनबाज़ तो यहां तक

कह देते हैं कि हमारी दवा में न परहेज़ करने की ज़रूरत है और न आदत बदलने की। केवल औषधि सेवन मात्र से रोग दूर होजायगा। इस प्रकरण के पढ़नेवाले समझ गए होंगे कि ये विज्ञापन सरासर दगाबाज़ी के हैं। जुलाब इत्यादि का असर हमेशा बुरा होता है। हलके से हलका जुलाब भी कब्ज़ को मिटाकर शरीर में दूसरा ज़हर पैदा करता है। जुलाब लेकर भी यदि मनुष्य अपनी पिछली बुरी आदत छोड़ दे और इस प्रकार चले कि फिर उसे जुलाब न लेना पड़े तो सम्भव है कि जुलाब से कुछ फायदा उठा सके। पर उसने अपनी आदत जारी रखी तो चाहे जुलाब से कब्ज़ और संग्रहणी आदि बीमारियां उसे न भी हों; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसे कोई दूसरी नई बीमारी ज़रूर होजायगी।

अब हमें ऊपर की बीमारियों के उपाय पर विचार करना चाहिए। पहला उपाय तो यह है कि इन बीमारियों से पीड़ित मनुष्य अपनी खुराक कम कर दे। बहुत भारी खुराक—बहुत घी-शक्कर और रबड़ी-मलाई आदि से सदा बचें। यदि बीड़ी, शराब, भाँग इत्यादि का व्यसन हो तो उसे छोड़ ही देना चाहिए। मैदे की रोटी खाने की आदत हो तो उसे भी छोड़ दें। चाय, काफी और कोको से परहेज़ करें। भोजन में ताज़े फलों का उपयोग मुख्य रूप से करें। और उसके साथ शुद्ध-जैतून के तेल का भी व्यवहार करें।

इलाज शुरू करने से पहले छत्तीस घंटे तक उपवास करें। इस बीच में तथा इसके बाद सोते समय पेड़ू पर मिट्टी की

पुलटिस बाँधें, और दिन में एक से लेकर दो दफे तक कुने-बाथ लें। रोज़ कम से कम दो घन्टे ज़रूर लें। जो लोग ऐसा करेंगे, उन्हें निस्सन्देह लाभ जान पड़ेगा। इस इलाज से अतीसार, कड़ा कब्ज़, परेशान करनेवाली पेचिश और बहुत पुरानी बवासीर को नष्ट होते हुए मैंने स्वयं देखा है। बवासीर के विषय में इतना ही कह देना चाहिए कि उसके मसे उपरोक इलाज से नहीं मिटते। परन्तु बवासीर बिलकुल कष्ट नहीं देती और मनुष्य को मसों के रहने तक की खबर नहीं रहती। पेचिश, मरोड़ में यह बात याद रखनी चाहिए कि जब तक खून या आँव पड़ती हो तब तक खुराक बिलकुल नहीं लेनी चाहिए, और जब कुछ लेने की ज़रूरत मालूम हो तो गरम पानी में नारंगी का छना हुआ रस पीना चाहिए। ऐसा करने से कठिन-से-कठिन पेचिश कम-से-कम समय में दूर हो जायगी और बीमार को कष्ट नहीं भोगना पड़ेगा। मरोड़ के समय यदि बहुत सख़्त तकलीफ होती हो तो एक बोतल में खूब गरम पानी डालकर उससे, या खूब गरम ईंट से, पेट सेंकने से वह दूर हो जायगी। बीमार को इन रोगों में भी सदा की भांति खुली हवा की ज़रूरत है। कब्ज़ में नीचे लिखे मेवे खास तौर पर गुणकारी हैं:—अंजीर, फ्रेञ्च प्रम्स (बेर) बड़ा मुनक्का, नारंगी, केला, किशमिश। इसका यह मतलब नहीं कि भूख न होने पर भी ये मेवे खाने ही चाहिएं। मरोड़ हो रही हो अथवा मुँह का स्वाद ख़राब हो तो ये मेवे भी खाने से हानि ही होगी। ऊपर के बाद का

यही मतलब है कि जिस समय खाने की आवश्यकता हो उस समय ऊपर के मेवे कब्ज़ दूर करने के लिए बहुत गुणकारी हैं।

तेरहवां परिच्छेद

छूत के रोग

१—शीतला (चेचक)

बुख़ार इत्यादि कितने ही रोगों के विषय में हम पहले थोड़ा विचार कर चुके हैं। सब बीमारियों के विषय में सूक्ष्म विचार करना हमारा उद्देश्य नहीं है। इसके सिवा सब रोगों के उत्पन्न होने का कारण अधिकांश में एक ही समझा जाता है और सब रोगों की दवा भी अधिकांश में एक ही ख़्याल की जाती है। तब हर रोग का अलग-अलग विचार करना आवश्यक भी नहीं मालूम होता। हम शीतला तथा अन्य छूत के रोगों की उत्पत्ति का एक ही कारण समझते हैं। इसलिए उनका विचार अलग करने की ज़रूरत नहीं जान पड़ती। अतएव एक ही परिच्छेद में शीतला तथा अन्य छूत के रोगों का विचार करना अनुचित न होगा।

शीतला के रोग से हम बहुत डरते हैं। लोगों में शीतला के विषय में बहुत भ्रमपूर्ण विचार फैल रहे हैं।

हिन्दुस्तान में तो शीतला एक खास देवी ही मान ली गयी है और इसके लिए असंख्य मनुष्य मिन्नतें मानते हैं, और चढ़ावा होता है। शीतला भी और बीमारियों की भांति खून बिगड़ने से होती है। खून मेदे की हरारत से बिगड़ना शुरू होता है। शरीर अपने अन्दर के ज़हर को शीतला के रूप में बाहर निकालता है। यह विचार ठीक हो तो शीतला से डरने का कोई कारण नहीं। यदि शीतला की बीमारी छूत से ही लगती होती हो तो शीतला के बीमार को छूनेवाले सभी लोगों को यह बीमारी हो जानी चाहिए। पर हम रोज़ देखते हैं कि ऐसा नहीं होता। अतः शीतला के बीमार को छूने से डरने की ज़रूरत नहीं। फिर भी सावधानी की ज़रूरत है। एकदम से यह भी नहीं कहा जा सकता कि शीतला की छूत लगती ही नहीं। जिनके शरीर उसकी छूत ग्रहण करने योग्य हैं वे शीतला के रोगी को छूएँगे तो छूत का असर ज़रूर पड़ेगा। और यही कारण है कि जिस जगह शीतला की बीमारी फैलती है वहाँ बहुत लोग एक ही समय इसके चंगुल में फँस जाते हैं। इस प्रकार इसे छूत की बीमारी मानकर टीका लगाया जाता है और मनुष्यों को समझाने अथवा बहकाने की कोशिश की जाती है कि टीका लेने से निर्दोष शीतला निकलती है और उससे शीतला की बीमारी बन्द होती है। गाय के थन में शीतला का लस लगा कर उसमें से निकली हुई पीब को हमारे शरीर में प्रवेश करने का नाम टीका है। कहा जाता है कि ऐसा करने से मनुष्य के शरीर पर शीतला निकल

आती है और वे महाशीतला के भय से बच जाते हैं। पहले यह बात मानी जाती थी कि इस प्रकार एक बार शीतला निकल आने से उस मनुष्य को फिर यह नहीं निकलती; किन्तु अनुभव द्वारा जब यह बात मालूम हुई कि टीका लेने पर भी मनुष्य बहुत दिनों तक इस रोग से मुक्त नहीं रह सकता, तब यह कहने लगे कि अमुक समय के बाद फिर टीका लेना चाहिए। अब आजकल तो यह रवाज होगया है कि जहाँ-जहाँ जब-जब शीतला को बीमारी शुरू हो तब-तब वहाँ के सब लोगों को, चाहे वे टीका लगवा चुके हों या न लगवा चुके हों, टीका अवश्य लगवाना चाहिए। इस प्रकार अब बहुत से ऐसे मनुष्य दिखाई पड़ने लगे हैं जिन्होंने पाँच-छः या इससे भी अधिक बार टीका लिया है।

टीका लेना बहुत ही जंगली रवाज है। इस ज़माने में फैले हुए भ्रमों में से यह एक विषैला भ्रम है। जंगली समझे जाने वाले लोगों में ऐसे भ्रम नहीं दिखलाई पड़ते। इस भ्रम के हिमायतियों को इतने ही से सन्तोष नहीं होता कि जिसकी खुशी हो वह टीका लगवाए—बल्कि वे लोग इसके लिए लोगों को मजबूर करते हैं। टीका लगवाने से इनकार करने वालों पर कानूनन मुकद्दमा चलाया जाता है और सख़्त सज़ा दी जाती है। टीके की खोज सन् १७९८ई० में हुई है। इससे मालूम होता है कि यह कोई पुराना वहम नहीं है। इतने थोड़े समय में लाखों आदमी इस वहम के शिकार बन गये हैं। उन्हें टीका लगा दिया जाता है उन्हें शीतला से सुरक्षित

समझ लिया जाता है। पर यह मानने के लिए एक भी सबल कारण नहीं है। कोई नहीं कह सकता कि टीका न लगवाने से बड़ी शीतला निकलती ही है। इसके विरुद्ध टीका न लगवाने वालों में शीतला न निकलने के अनेक उदाहरण दिखाए जा सकते हैं। जिन लोगों ने टीका नहीं लिया उनमें शीतला निकलने के उदाहरण द्वारा यह बात नहीं कही जा सकती कि यदि ये लोग टीका लेते तो शीतला से मुक्त रहते।

टीका बहुत गन्दा इलाज है। इसमें यही दोष नहीं कि गाय की शीतला की लस हमारे शरीर पर लगायी जाती है, बल्कि मनुष्य की लस भी लगाई जाती है। लोग साधारणतः पीब को देखकर क़ै कर देंगे। जिनके हाथ में पीब लग जाती है वे साबुन से हाथ धोते हैं। यदि हमें कोई दिल्लगी से भी पीब चीखने को कहे तो सुनकर हमारा जी मचलाने लगेगा और हम लड़ने को तैयार हो जायँगे। फिर भी शायद ही किसी ने सोचा होगा कि टीका लेकर हम पीब अर्थात् सड़ा हुआ खून पीते हैं। यह प्रायः सब लोग जानते होंगे कि न जाने कितने लोगों को बीमारी में दवा या प्रवाही खुराक चमड़े के मार्ग से भीतर पहुँचाई जाती है। इसका असर मुँह से खाई हुई खुराक से जल्दी होता है। मुँह से खाई हुई चीज़ खून के साथ फ़ौरन नहीं मिलती; किन्तु चमड़े के मार्ग से गई चीज़ तुरन्त खून के साथ मिल जाती है; और ज़रा-सी चीज़ का असर भी तत्काल हो जाता है। इससे मालूम हो गया कि शरीर पर असर पहुँचाने में चमड़े द्वारा गयी हुई

दवा या खुराक मुँह के द्वारा खाने के समान ही है। तब हम शीतला से बचने के लिए पीब पीते हैं। एक कहावत प्रसिद्ध है कि कायर मौत के पहले ही मर जाता है। शीतला निकलने पर मरने या कुरूप होने के भय से टीका लेकर हम पहले ही मर जाते हैं।

इस प्रकार शरीर में पीब डलवाना मेरी समझ में तो बिल्कुल धर्म-भ्रष्टता है। मांसाहारी मनुष्यों को भी खून पीने की मनाही है। जीवित प्राणियों का खून और मांस तो खाया ही नहीं जाता। टीके के द्वारा जो चीज़ हमारे शरीर में प्रविष्ट की जाती है, वह तो निरपराध जीवित प्राणी का सड़ाया हुआ खून है। यही हमें चमड़े के द्वारा खिलाया जाता है। खून पीने के बदले हज़ार बार शीतला का निकलना, और यहाँ तक कि मर जाना, एक आस्तिक मनुष्य पसन्द करेगा

इङ्गलैण्ड के कितने ही विद्वानों ने टीके की हानियों को अनुभव किया है। आजकल टीके के विरोध में वहां पर एक बड़ी भारी संस्था काम कर रही है। जो उस संस्था के मेम्बर होते हैं, वे टीका नहीं लगवाते, और दूसरों के लिए भी वे खुल्लमखुल्ला विरोध करते हैं। इसी विरोध के कारण कितने ही लोगों को जेल जाना पड़ा है। कोई भी टीका न ले, इसके लिए वे प्रयत्न करते हैं। टीके के विरोध में बहुत-सी पुस्तकें लिखी गई हैं और बड़ी-बड़ी सभाएँ करके टीके का विरोध होता है। टीके के विरोध में जो बड़ी-बड़ी दलीलें पेश की जाती हैं, वे निम्न लिखित हैं :—

१—गाय या बछिया के थन में से लस निकालने के लिए जो तरीके व्यवहार में लाए जाते हैं, वे जीवित पशुओं के साथ अत्यन्त निर्दयता का परिचय देते हैं। यह निर्दयता मनुष्य जाति के लिए शोभा नहीं देती। मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि यदि इस लस से कुछ लाभ भी होता हो तो भी उससे परहेज़ रखें और उसके प्रयोग का विरोध करें।

२—इस लस से लाभ कुछ नहीं होता। उलटी हानि ही होती है—मनुष्यों को दूसरे रोगों की छूत आ लगती है। वे समझते हैं कि शीतला के फैलने के बाद दूसरे रोग फैले हैं।

३—मूल पस मनुष्यों के रक्त से तैयार की हुई होती है। इस लिए वे सब पसें जिन जिन मनुष्यों के रक्त से बनाई जाती हैं उनमें, उन-उन मनुष्यों के अन्य-अन्य रोगों की छूत का भी आ जाना सम्भव है।

४—ऐसा विश्वास नहीं दिलाया जा सकता कि टीका लगाने से मनुष्य को शीतला नहीं निकलती। इस टीके का निकालने वाला डाक्टर जेनर कहा करता था कि एक हाथ में टीका लगाने से मनुष्य सदा के लिए रोग से छुटकारा पा जाता है। इससे जब पूरा लाभ होता नहीं देख पड़ा तब यह कहा जाने लगा कि दोनों हाथों में टीका लगाने से शीतला नहीं निकलती। इसके बाद दोनों हाथों में एक से अधिक टीका लगाने की बात कही जाने लगी। फिर भी जब शीतला निकलने लगी, तब यह कहा जाने लगा कि टीका लगाने के बाद यह विश्वास नहीं दिलाया जासकता कि सात

वर्ष के बाद भी शीतला न निकलेगी। अब सात की जगह तीन ही वर्ष कहे जाते हैं। इस तरह डाक्टर लोग स्वयं भी इस विषय में अब तक कुछ निर्णय नहीं कर सके हैं। असल बात तो यह है कि टीका लगाने से शीतला न निकलेगी, यह मानना बिलकुल वहम है—मिथ्या है। यह कोई साबित नहीं कर सकता कि टीका लगाने से जिन्हें शीतला न निकली उन्हें टीका न लगाने से अवश्य ही निकलती।

५—आखिरी दलील में वे कहते हैं कि लस लगाना बिलकुल गन्दा रिवाज है; और गन्दगी से ही गन्दगी का दूर किया जाना निरा जंगलीपन है। ऐसी ही अन्यान्य दलीलों से इस सभा ने अंग्रेज़ी प्रजा पर बड़ा अच्छा प्रभाव डाला है। इङ्गलैण्ड में एक ऐसा शहर है कि वहाँ की बस्ती का बहुत बड़ा हिस्सा टीका नहीं लगवाता। इस शहर के लोगों की गिनती के हिसाब से रोग बहुत कम देखने में आता है। इस सभा के परिश्रमी सभासदों ने खोज करके सिद्ध कर दिया है कि डाक्टर लोग स्वार्थ-वश टीके के वहम को दूर नहीं होने देते। उन्हें इसमें प्रति वर्ष लोगों से हज़ारों पौंड की आय होती है। वे समझ-बूझकर टीके से होती हुई हानि को नहीं देखते। परन्तु इन डाक्टरों में से भी बहुतों ने यही मत प्रकट किया है कि टीके का लगवाना बुरा है और कितने ही टीके के घोर विरोधी हैं।

कुछ लोग कहेंगे कि टीका लगवाने से जब इस प्रकार हानि होती है तब हमें यह नहीं लगवाना चाहिए। इसका

उत्तर में तो निर्भय होकर यही दूँगा कि 'नहीं'। इतना होने पर भी एक अपवाद है। मेरा कहना है कि जान-बूझकर अपनी इच्छा से तो किसी को भी टीका न लगवाना चाहिए। परन्तु जहाँ हम रहते हैं और वहां टीका लगाने का कानून हो तो हमारा कर्तव्य है कि हम टीका लगवा लें। वहां टीका न लगवाना भयंकर जोखम उठाने के बराबर है। और यदि हम कानून का सामना करें तो हम पर बड़े बड़े अपराध लगाए जायँगे। ऐसी दशा में हमें चाहिए कि जहां हम रहते हों, और वहाँ टीका लगवाने का रिवाज है, तो हमें लगवा लेना चाहिए। जो मनुष्य मेरे बताए हुए कारण से टीका लगवाने में धर्म-हानि समझता हो, और वह टीके के खिलाफ़ हो, तब तो उसे कानून के विरुद्ध होकर कष्ट उठाने चाहिएं। परन्तु जो मनुष्य केवल शरीरसुख के विचार से ही न लगवाना चाहे उसे कानून के विरुद्ध न होना चाहिए। ऐसे मनुष्यों में बहुत बुद्धि और दूसरों को समझाने की शक्ति होनी चाहिए। उसे लोक-मत पलटने के लिए तैयार होना चाहिए। बहुत काम हम अपनी इच्छा के विरुद्ध करते हैं—केवल उस समाज के लिए जिस में हम रहते हैं। अपनी सुविधाओं को छोड़कर समाज की सुविधाओं को देखना पड़ता है। बहुमत के सामने कोई मनुष्य भी खड़ा हो सकता है; परन्तु ऐसे उदाहरण धर्म या नीति के सम्बन्ध में ही मिलते हैं। जिन मनुष्यों का कोई मत न हो—वे ऐसे लेखों को ही पढ़कर आवेश में आजावें और टीका न लगवाना चाहें—उनक

कनून के अधीन हो जाना चाहिए।

जो लोग टीका नहीं लगवाते, उनको स्वच्छता के नियमों को जानकर उनका अच्छी तरह पालन करना चाहिए। जो मनुष्य शीतला का टीका नहीं लगवाना चाहते, परन्तु विषय-सेवन द्वारा उसको लग लेते हैं, या आरोग्य के दूसरे नियमों को छोड़कर दुःख भोगते हैं, उन्हें कोई अधिकार नहीं है कि जिस देश या समाज में टीका लगवाना लाभकारी माना जाता है, वे उसके विरुद्ध खड़े हों।

शीतला के सम्बन्ध में इस प्रकार विचार कर के टीके से हानियां दिखलाई गई हैं। अब शीतला को रोकने के उपायों के सम्बन्ध में विचार करने की ज़रूरत है। जो मनुष्य हवा पानी और खुराक के नियमों का पालन होशियारी के साथ करेगा, उसे तो शीतला निकलने की सम्भावना ही नहीं, क्योंकि उसके खून में तो शीतला के बीजों के नाश करने की शक्ति मौजूद है। शीतला निकलने पर भीगी-चादर-वेष्टन (वेट-शीट-पेक) का इलाज बहुत चमत्कारिक होता है। बीमार को कम-से-कम तीन बार भीगी चादर में लपेटना चाहिए। जलन बहुत कम हो जायगी। शीतला के दाने मुरझा जायँगे। दानों में घाव हो जाने पर मरहम इत्यादि लगाने की कोई ज़रूरत नहीं। यदि ऐसी एक आध जगह में, जहां मिट्टी की पुलटिस बांधी जासके, घाव हो तो पुलटिस बांध दें। रोगी को खाने के लिए भूख के अनुसार भात, नीबू, हलके ताज़े मेवे लेने चाहिएं। 'हलके' से यह मतलब नहीं है कि

शीतला की जलन में खजूर और बादाम जैसे पौष्टिक मेवे न खाने चाहिएं। वेट-शीट-पेक चादर के-वेष्टन से एक सप्ताह में दाने ज़रूर मुरझा जाने चाहिएं। न मुरझाय तो समझना चाहिए कि अभी शरीर के अन्दर का बाकी जहर निकल रहा है। शीतला को भयंकर बीमारी समझने का कोई कारण नहीं है। बल्कि इससे तो यह सूचित होता है कि शरीर के अन्दर का उतना रोग निकल जाने से शरीर नीरोग हो रहा है। यह बहुतेरे रोगों के लिए कहा जा सकता है; पर शीतला के लिए विशेष रूप से ठीक है।

शीतला का रोगी रोग दूर हो जाने पर कुछ दिन कमज़ोर रहता है। कितने रोगी बाद को किसी न किसी दूसरी बीमारी में फँसे देखे जाते हैं। इसका कारण उनके वे सब उपचार हैं जो बीमारी दूर करने के लिए किए जाते हैं। बुख़ार में कुनैन खाने से बहुत बार कान बहरे पड़ जाते हैं। व्यभिचार से होने वाले रोग मिटाने के लिए पारा इत्यादि दवाइयां खिलाई जाती हैं। और यह प्रसिद्ध बात है कि पारे से उत्पन्न होनेवाले रोगों से मनुष्य सदा पीड़ित रहता है। दस्त न होने पर जुलाब लेनेवालों को प्रायः बवासीर वगैरह की बीमारियां होती देखी जाती हैं। इन सब उदाहरणों से यह फल निकलता है कि दवा के प्रयोग से बीमारी तो मिटती ही नहीं; बल्कि उससे और रोग उत्पन्न हो जाते हैं। रोग होने पर उसके कारणों की खोज की जानी चाहिए। फिर उन्हें दूर करके रोग को विदा दें और आगे से प्रकृति के नियमों की रक्षा करें।

इससे बढ़कर दूसरी कोई पुष्टिकारक भस्म नहीं। धातु इत्यादि को फूंककर जो भस्में बनाई जाती हैं उन्हें अकसीर दवाएं कहा जाता है; परन्तु यह झूठी बात है। इनमें कुछ असर देख पड़ता है; परन्तु यह असर कितने ही अंश में शरीर के मनोविकारों को बढ़ाता है। सारांश यह है कि इनका असर रोगी के लिए हानिकारक ही होता है। शीतला की बीमारी में चादर के वेष्टन का प्रयोग सर्वमान्य समझा जाता है। शीतला अधिकतर फिर नहीं निकलती। इससे शरीर प्रायः नीरोग हो जाता है। सारा जहर निकल जाता है।

शीतला के दूर हो जाने पर जब दाने सूख जांय तब रोगी के शरीर पर सदा जैतून के तेल की मालिश करनी चाहिए। उसे रोज नहलाना चाहिए। इससे शीतला के दाग बिल्कुल जाते रहेंगे और शरीर मुलायम हो जायगा।

२—छूत के अन्य रोग

हम शीतला के विषय में अच्छी तरह विचार कर चुके हैं। अब यहीं शीतला की मौसेरी बहनें—पहाड़मती तथा मोतिया देवी वग़ैरह। इनके सिवा, प्लेग, कालरा, उड़ती पेचिश भी छूत के रोग हैं। हम पहाड़मती तथा छोटी शीतला से नहीं डरते। कारण, इनसे न बहुत मौतें होती और न शरीर ही बेडौल होता है। बाकी सब असर तो शीतला (बड़ी चेचक) ही के समान है। शीतला के समान इनकी भी छूत लग जाती है। इनमें ठंडे पानी का उपचार और 'वेट-पैक'

बहुत अक्सीर है। इन बीमारियों में खुराक बहुत ही हलकी और सादी होनी चाहिए। यदि ताजे मेवों और फलों पर निर्वाह किया जाय तो ये रोग बड़ी शीघ्रता से घटने लगते हैं।

प्लेग बड़ी भयंकर बीमारी है सन् १८९६ ई० में इसके मनहूस कदम हिन्दुस्तान में पड़े। तब से लाखों मनुष्य इसकी भेट हो चुके। डाक्टरों ने बहुत सिर मारा; किन्तु अभी तक इसका कोई समुचित इलाज नहीं निकाल सके। आजकल शीतला के टीके के समान इस बीमारी के लिए भी टीका लगाया जाता है। इसके द्वारा मनुष्य में प्लेग के बुखार का हलका असर उत्पन्न करके डाक्टर लोग समझते हैं कि इससे प्लेग का बुखार नहीं हो सकता। यह भी शीतला के टीके का सा ढोंग और उतना ही पापपूर्ण प्रयोग है। जैसे कोई यह नहीं कह सकता कि शीतला का टीका न लेने से शीतला निकलेगी ही, वैसे ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्लेग का टीका न लेने से प्लेग होगा ही। अब तक प्लेग की कोई दवा नहीं निकली, इसलिए यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि पानी और मिट्टी के उपचार से इसमें लाभ जरूर ही होगा। फिर भी जिसे मरने का भय न हो, जो मनुष्य ईश्वर पर विश्वास रखता हो, उसके लिए नीचे लिखे उपाय बताए जा सकते हैं:—

१—बुखार अथवा उसके कुछ भी चिन्ह दिखाई पड़ने पर तुरन्त ही भीगी चादरों का वेष्टन लेना चाहिए।

२—गिल्टी पर मिट्टी की मोटी पुलटिस बाँधनी चाहिए।

३—बीमार को खाना बिलकुल नहीं देना चाहिए।

४—प्यास लगे तो नींबू का ठंडा पानी देना चाहिए।

५—बीमार को साफ़ और खुली हवा में सुलाना चाहिए।

६—उसके पास एक आदमी के सिवा दूसरे को नहीं जाने देना चाहिए। प्लेग का बीमार यदि किसी भी इलाज से अच्छा हो सकता है तो वह इस इलाज से भी अवश्य अच्छा हो जायगा।

प्लेग की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अब तक कोई निश्चित बात नहीं मालूम हुई। बहुतों की सम्मति में यह रोग चूहों द्वारा फैलता है। बात निराधार नहीं है। जहाँ प्लेग फैला हो वहाँ घरों को साफ़ रखने की बहुत ज़रूरत है। अन्न इत्यादि को इस प्रकार रखना चाहिए जिससे चूहों को खाने ही को न मिले और वे न आवें। चूहों के बिल इत्यादि बन्द कर देने चाहिएं और जिस घर से चूहों को दूर न रख सकें उसे ज़रूर खाली कर देना चाहिए।

प्लेग न होने देने के लिए सब से उत्तम तो यह है कि हम पहले ही से साफ़ और उत्तम भोजन करें, मिताहारी रहें, व्यसनों को छोड़ दें, कसरत करें, खुली हवा में रहें, घर इत्यादि साफ़ रखें और अपनी स्थिति ऐसी बना लें कि प्लेग की हवा हमें बिलकुल न लग सके। हमें सदा ही ऐसी स्थिति में रहना उचित है। पर सदा न हो सके तो कम-से-कम प्लेग के दिनों में तो हमें इसी प्रकार चलना चाहिए।

प्लेग से भी विशेष भयंकर और शीघ्र उत्पन्न होने वाला रोग सन्निपात-ज्वर है। इसे अंग्रेज़ी में न्यूमोनिक-प्लेग कहते

है। इसमें बीमार को सांस लेने में बहुत कष्ट होता है। बुखार बड़े ज़ोर का रहता है और रोगी प्रायः बेहोश रहता है। इस फोलज्वर से शायद ही कोई बचता हो। सन १९०४ई० में जोहांसबर्ग में इसी प्रकार का प्लेग फैला था। तेईस बीमारों में केवल एक ही बचा था। इसका कुछ हाल पहले दिया जा चुका है। इस बीमारी पर वे सब उपचार चल सकते हैं जो प्लेग के लिए बताए गए हैं। फ़र्क केवल यह है कि इसमें मिट्टी की पुलटिस छाती के दोनों भागों पर बांधनी चाहिए। यदि रोगी को 'वेट-शीट-पेक' में रखने का समय न रह गया हो तो उसके सिर पर मिट्टी की पतली पुलटिस रखनी चाहिए। इस बीमारी में भी रोग के उपचारों की अपेक्षा पहले ही से उसके रोकने की तदबीरें करनी चाहिएं। बहुत ही सहज और अच्छी तदबीरें यही हैं जो प्लेग रोकने के लिए बताई जा चुकी हैं। बुद्धिमानी इसी में है कि रोग होने के पहले ही उसे रोकने का प्रयत्न किया जाय।

हैजे की बीमारी को हम बहुत भयंकर समझते हैं। परन्तु असल में यह प्लेग से बहुत हलका है। इसमें वेट-शीट-पेक बहुत काम नहीं दे सकता। कारण, इसमें बीमार के बदन और जांघों में सनसनी पैदा हो जाती है। ऐसे समय में पेट पर मिट्टी की पुलटिस बांधें और जहां पर सनसनी होती हो वहां गरम पानी की बोतलों से सेंकें। बीमार के पैर इत्यादि पर राई के तेल की मालिश करें। खाना कदापि न दें। पास रहनेवालों को चाहिए कि बीमार को हिम्मत देते रहें

उपर्युक्त छूत की बीमारियों में रोगी तथा उसके पास रहनेवालों को हिम्मत नहीं छोड़नी चाहिए। भय से घबराकर बीमार तो मर ही जाता है, किन्तु उसके आस-पास रहनेवाले मनुष्यों के भी बीमार होजाने की सम्भावना रहती है।

मुद्रक—चौकेलाल शर्म्मा इलाहाबाद प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद

तरुण-भारत-ग्रन्थावली

[सम्पादक पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी]

स्थायी ग्राहक बनने के नियम

१--इतिहास, जीवनचरित्र, सदाचार और नीति, विज्ञान, कविता, आख्यायिका, सुरुचिपूर्ण नाटक, उपन्यास इत्यादि विषयों के उत्तमोत्तम ग्रन्थ सुलभ मूल्य पर प्रकाशित करना इस ग्रन्थावली का मुख्य उद्देश्य है।

२—आठ आना प्रवेशफीस भेजकर सब लोग इसके स्थायी ग्राहक बन सकते हैं।

३—स्थायी ग्राहकों को ग्रन्थावली के सब अगले और पिछले ग्रन्थ पौनी कीमत पर, यानी एक-चौथाई कमीशन काटकर, दिये जाते हैं। वे ग्रन्थावली के प्रत्येक ग्रन्थ की चाहे जितनी प्रतियां, चाहे जितनी वार, पौने मूल्य पर ही प्राप्त कर सकते हैं

४—कोई भी नवीन ग्रन्थ निकलने पर दस-बारह दिन पहले उसका वी० पी० भेजने की सूचना स्थायी ग्राहकों के दे दी जाती है। ग्राहकों को वी० पी० वापस नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे कार्यालय को व्यर्थ की हानि उठानी पड़ती है।

५—जिन ग्राहकों का वी० पी० तीन वार लगातार वापस आता है, उनका नाम स्थायी ग्राहकों से अलग कर दिया जाता है।

६—प्रत्येक मातृभाषा-हितैषी का परम पवित्र कर्त्तव्य है कि इस ग्रन्थावली के स्थायी ग्राहक बनकर हमारे इस शुभ कार्य में सहायता करे। क्योंकि हमारा उद्देश्य केवल पुस्तकों का व्यापार ही नहीं है; बल्कि हिन्दी-साहित्य में सुरुचिपूर्ण ग्रन्थों का विस्तार करना हमारा मुख्य लक्ष्य है। हिन्दी-साहित्य की आवश्यकता को ही देखकर हम ग्रन्थों का चुनाव करते हैं।

तरुण-भारत-ग्रन्थावली-कार्यालय, दारागंज, प्रयाग

स्वास्थ्य-सम्बन्धी पुस्तकें

ब्रह्मचर्य

(लेखक—महात्मा गांधीजी)

इस पुस्तक को पढ़कर हर एक मनुष्य अपने जीवन को सुधार सकता है। व्यभिचारी पुरुष ब्रह्मचारी बन सकता है। दुर्बल मनुष्य सिंह की तरह बलवान् तथा दुरात्मा भी सदाचारी व साधु हो सकता है। जो पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन न करके अपना जीवन नष्ट कर देते हैं और औषधियों के दास बने रहते हैं, वह अपने जीवन का लाभ नहीं उठा सकते। इस पुस्तक को पढ़कर इसके बताए हुए नियमों का पालन कर अनन्त जीवन प्राप्त करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को महात्मा जी की इस पुस्तक की एक एक प्रति अपने पास रखनी चाहिये। पुस्तक का मूल्य सिर्फ ॥) है।

उपःपान

(लेखक—पण्डित लक्ष्मीप्रसाद जी पाण्डेय)

प्रातःकाल नासिका-द्वारा जल चढ़ाने के लाभ और उसकी सरल तरकीबें इस पुस्तक में बतलाई गई हैं।

उपःपान प्रातःकाल रात के चौथे पहर, उपःकाल में सूर्योदय के पहले किया जाता है। यह प्राचीन ऋषियों और योगियों की निकाली हुई स्वास्थ्य-सम्पादन की प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली है। इसी प्रणाली का खुलासा वर्णन इस पुस्तक में पांडेयजी ने किया है। पुस्तक में निम्नलिखित सात अध्याय हैं:—

१ आरोग्य और प्राकृतिक चिकित्सा २ पानी की उपयोगिता ३ उपःपान किस तरह किया जाय ४ शरीर[illegible] का कार्य ५ उपः-

हमारा स्वर मधुर कैसे हो ?

स्वर-विज्ञान पर हिन्दीभाषा में यह एक ही पुस्तक है। यदि आप अपने स्वर को अत्यन्त कोमल और मधुर, कोयल की तरह, बनाना चाहते हैं, तो इस पुस्तक में बतलाई हुई तरकीबों पर अवश्य अमल करें। मूल्य सिर्फ ।-) आने।

प्राणायाम-साधन

अर्थात श्वास-प्रश्वास के द्वारा शरीर में प्राण संचार करने के साधन। यदि आप बिना औषधि के ही पूर्ण आरोग्य के साथ सौ वर्ष तक जीवित रहने की अभिलाषा रखते हैं, तो इस पुस्तक को मँगाकर इसमें बतलाई हुई कसरतों का अभ्यास कीजिए। पुस्तक सचित्र है। मूल्य लागत मात्र सिर्फ १॥) रु० रखा गया है।

हमारे बच्चे स्वस्थ और दीर्घजीवी कैसे हों ?

हमारे बच्चे कमज़ोर क्यों पैदा होते हैं, माता-पिता किन नियमों का पालन करें कि जिससे मज़बूत सन्तान पैदा हो; और पैदा होने के बाद बच्चों का पालन-पोषण कैसे किया जाय, कि वे अकाल में ही काल के गाल में न चले जायँ; और सुन्दर स्वस्थ जीवन के साथ दीर्घायु प्राप्त करें, इत्यादि बातें इसमें बड़ी योग्यता से बतलाई गई हैं। लेखक आयुर्वेद-विशारद पं० महेन्द्रनाथ पांडेय हैं। पुस्तक में कई चित्र भी दिये गये हैं—मूल्य ॥।) आने।

☞ पुस्तकें मिलने का पता—

व्यवस्थापक तरुण-भारत-ग्रन्थावली

दारागंज, इलाहाबाद

निल्य प्रातःकाल आश्रमवासियों के साथ
प्रार्थना में गाया जानेवाला
महात्मा गांधीजी का

❀ प्यारा भजन ❀

वैष्णवजन तो तेने कहिये, जे पीड पराई जाणे रे
परदुःखे उपकार करे तो—उर अभिमान न आणे रे
सकल लोकमाँ सौने वंदे—निंदा न करे केनी रे
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे
समदृष्टी ने तृष्णा त्यागी, पर स्त्री जेने मात रे
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे
मोह माया व्यापे नहिं जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमाँ रे
रामनाम शूँ ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमाँ रे
वणलोभी ने कपट-रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे
कहे 'नरसैंयो' तेनुं दरशन करतां, कुल एकोतेर तार्या रे

—नरसिंह मेहता

कुत्सित जीवन और दाम्पत्य-विमर्ष

भारत के हृदय-सम्राट्—महात्मा गान्धी ।
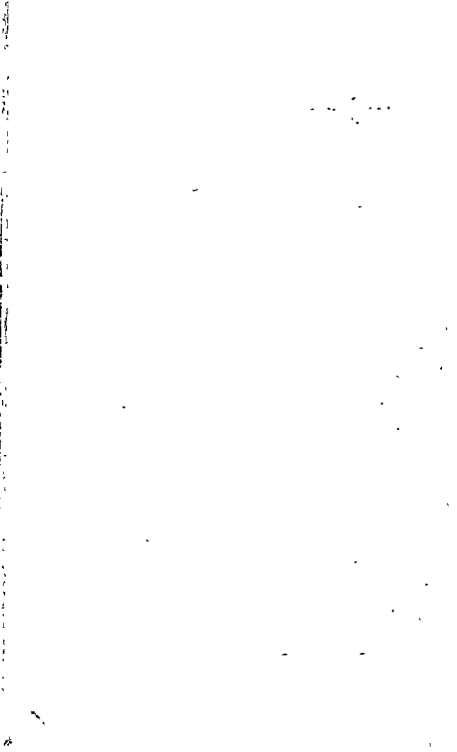
कुत्सित जीवन
और
दाम्पत्य-विमर्श

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

बनावटी उपायों से सन्तान की बढ़ती रोकने के पक्ष में देशी समाचार-पत्रों में जो लेख निकलते हैं, कृपालु मित्र उनकी कतरनें मेरे पास भेजते रहते हैं। नवयुवकों से उनके चारित्र्य के सम्बन्ध में मेरा पत्र-व्यवहार भी बहुत होता रहता है; किन्तु उन सब समस्याओं को, जो इस पत्र-व्यवहार से उठती हैं, मैं यहाँ पर हल नहीं कर सकता। यहाँ तो कुछ की ही विवेचना हो सकती है। अमेरिकन मित्र भी मेरे पास इस सम्बन्ध का साहित्य भेजते हैं और कुछ तो मुझसे इस कारण अप्रसन्न भी रहते हैं कि मैं इन बनावटी उपायों का विरोध करता हूँ। उन्हें रंज है कि ऐसा बढ़ा-चढ़ा सुधारक होते हुए भी संतति-निरोध के सम्बन्ध में मैं पुराने ही विचार रखता हूँ। और, फिर मैं यह भी देखता हूँ कि ऐसे उपायों के तरफ़दारों में सब देशों के कुछ बड़े-बड़े विचारवान् स्त्री-पुरुष भी हैं।

यह सब देखकर मैंने सोचा कि संतति-निरोध के इन बनावटी उपायों की तरफदारी में कुछ-न-कुछ विशेष बात अवश्य होगी

और इसलिये मुझे इसपर अधिक विचार करना चाहिए। मैं इस समस्या पर विचार कर रहा था और इस विषय का साहित्य पढ़ने के विचार में ही था कि मुझे एक अंग्रेजी पुस्तक पढ़ने को मिली। इस पुस्तक में इसी बात पर वैज्ञानिक रीति से विचार किया गया है। पुस्तक का नाम है—Towards Moral Bankruptcy ※। मूल पुस्तक फ्रान्सीसी भाषा में है और उसके लेखक हैं श्री० पाल व्यूरो। किताब का जो नाम फ्रेञ्च भाषा में है उसका शब्दार्थ है 'भ्रष्टाचार'।

पुस्तक पढ़कर मैंने सोचा कि लेखक के विचारों पर अपनी सम्मति देने से पहिले इन उपायों के समर्थक मुख्य-मुख्य ग्रन्थों को पढ़ डालूँ; इसलिये मैंने 'सर्वेण्ट आव् इण्डिया सोसाइटी' से इस विषय पर लिखे हुए जो कुछ ग्रन्थ मिल सके, मँगाकर पढ़े। काका कालेलकर ने, जो इस विषय का अध्ययन कर रहे हैं, मुझे एक पुस्तक दी और एक मित्र ने 'दी प्रैक्टिश्नर' का एक विशेषांक मेरे पास भेज दिया, जिसमें विख्यात डाक्टरों ने इस विषय पर अपनी सम्मतियाँ प्रकट की हैं।

इस विषय का साहित्य इकट्ठा करने से मेरा केवल यही प्रयोजन था कि मैं अपने वैद्यक-ज्ञान से रहित शक्ति के अनुसार 'व्यूरो' के सिद्धान्तों की जाँच कर लूँ। प्रायः देखा जाता है कि किसी मुख्य विषय के दो आचार्य ही किसी प्रश्न पर क्यों न विचार कर रहे हों, किन्तु सभी प्रश्नों के दो पहलू होते ही हैं

※ प्रकाशक Constable and company; इसकी भूमिका डॉ. मरी स्कारलिय C. B. E. M. D., M. S. (Lond.) ने लिखी है। पृष्ठ-संख्या ५२८ और कुल अध्याय ५ हैं।

और दोनों पर बहुत-कुछ कहा जा सकता है। इसीलिये मैं पाठकों के सामने 'ब्यूरो' की यह पुस्तक रखने से पहले इन बनावटी उपायों के पक्षवालों की सभी युक्तियाँ सुन लेना चाहता था। बहुत सोच-विचारकर मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि कम-से-कम भारतवर्ष के लिये तो ऐसे उपायों की कोई आवश्यकता है ही नहीं। जो लोग भारतवर्ष में इन उपायों का प्रचार करना चाहते हैं, उन्हें या तो इस देश की दशा का यथार्थ ज्ञान नहीं है, या वे जानबूझकर उसकी पर्वा नहीं करते। और फिर यदि यह सिद्ध हो जाय कि ये उपाय पाश्चात्य देशों के लिये भी हानिकारक हैं, तब तो भारतवर्ष की दशा पर विचार करने की भी आवश्यकता नहीं रहती।

आइए, देखें 'ब्यूरो' का कथन क्या है। उन्होंने फ्रान्स की दशा पर ही विचार किया है; परन्तु यह भी हमारे मतलब के लिये बहुत काफी है। फ्रान्स की गणना संसार के सबसे अगुआ देशों में है, और, जब वहाँ पर ही ये उपाय सफल न हुए, तो फिर और कहाँ हो सकते हैं?

असफलता क्या है? इस सम्बन्ध में अनेक मत हो सकते हैं; इसलिए अच्छा है कि 'असफल' शब्द से मेरा जो अभिप्राय है, मैं उसकी व्याख्या कर दूँ। यदि यह बात सिद्ध कर दी जाय कि इन उपायों के कारण लोग नैतिक दृष्टि से आचार-भ्रष्ट हो गये, उनमें व्यभिचार बढ़ गया और कृत्रिम गर्भ-निरोध केवल अपनी स्वास्थ्य-रक्षा अथवा गृहस्थियों की आर्थिक दशा को ठीक रखने की इच्छा से ही नहीं किया गया, वरन अपनी कुचेष्टाओं की पूर्ति के लिये किया गया, तो इन उपायों की अ-

सफलता मान ली जायगी। यह तो हुई मध्यस्थ पक्ष की; बात पर सबसे ऊँचे सिद्धान्त की दृष्टि से देखा जाय, तो कृत्रिम गर्भ-निरोध को कहीं स्थान ही नहीं है। उसके अनुसार तो विषय-भोग केवल सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से ही करना चाहिए, जैसे कि भोजन केवल शरीर-रक्षा के लिये ही करना चाहिए। एक तीसरी श्रेणी के मनुष्य भी हैं, जिनका कहना है—'नैतिक आचार-विचार सब व्यर्थ हैं, और यदि नैतिक आचार कोई वस्तु है भी, तो उसका अर्थ विषयभोग का संयम नहीं, बल्कि उसकी तृप्ति ही है। खूब विषयभोग करो, विषयभोग ही जीवन का उद्देश्य है। बस, इतना ध्यान रहे कि विषयभोग से शारीरिक स्वास्थ्य इतना न बिगड़ जाय, जिसके उद्देश्य अर्थात् विषयभोग की पूर्ति में अड़चन पड़े।' ऐसे लोगों के लिये, मेरी समझ में 'ब्यूरो' ने यह पुस्तक नहीं लिखी है; क्योंकि अपनी पुस्तक के अन्त में उन्होंने 'टी मैन' के ये शब्द लिखे हैं—'केवल सच्च-रित्र जातियों का ही भविष्य उज्वल है।'

इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में 'मोंशिये ब्यूरो' ने कुछ ऐसी सच्ची-सच्ची बातें हमारे सामने रक्खी हैं, जिन्हें पढ़कर कलेजा काँप उठता है। फ्रान्स में ऐसी बड़ी-बड़ी संस्थाएँ बन गई हैं, जिनका एक-मात्र काम लोगों की पशु-वृत्ति को तृप्त करना ही है। सबसे बड़ा दावा जो कृत्रिम उपायों के हिमायतियों का है, वह यह है कि इससे लुक-छिपकर गर्भपात का होना रुक जायगा और भ्रूणहत्या बच जायगी; किन्तु उनका यह दावा भी सही साबित नहीं होता। 'ब्यूरो' लिखते हैं कि फ्रान्स में यद्यपि पिछले २५ वर्षों से गर्भस्थिति न होने के उपाय लगातार किये

जाते रहे, किन्तु फिर भी गर्भपात उलटे अधिक होने लगे। उनका अनुमान है कि प्रतिवर्ष लगभग २,७५,००० से लेकर ३,२५,००० तक गर्भपात होते हैं। खेद तो इस बात का है कि लोगों को अब ऐसी बातें सुनकर उतनी चोट नहीं पहुँचती, जितनी पहले पहुँचा करती थी।

दूसरा अध्याय

अविवाहितों में भ्रष्टाचार

'ब्यूरो' कहते हैं कि गर्भपात के कारण बाल-हत्या, परिवार में ही व्यभिचार और ऐसे-ऐसे अनेकों पाप बढ़ गये हैं, जिनको देखकर छाती फटती है! यद्यपि अविवाहिता माताओं के गर्भपात रोकने और गर्भ गिराने के लिये अनेक प्रकार की सुविधाएँ हो गई हैं, तथापि उनसे भ्रूणहत्या घटी नहीं; बल्कि बहुत बढ़ गई है। यहाँ तक कि अब ऐसी बातें सुनकर सभ्य कहलानेवाले पुरुषों के कान पर जूँ भी नहीं रेंगती और अदालतों से धड़ाधड़ 'निरपराधों' के फैसले हो जाते हैं। भ्रूणहत्या करनेवाली माताओं को कुछ भी दण्ड नहीं दिया जाता।

'ब्यूरो' ने केवल अश्लील साहित्य पर ही एक अध्याय लिखा है। उनका कहना है कि साहित्य, नाटक और चित्र इत्यादि का, जो मनुष्य के मन को आनन्द और आराम देने के लिये हैं, बुरी नीयतवाले बड़ा ही दुरुपयोग कर रहे हैं। हर जगह ऐसा साहित्य बिक रहा है, हर कोने में उसीकी चर्चा हो रही है। बड़े-बड़े बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे ही साहित्य का व्यापार करते हैं; करोड़ों रुपये इस व्यापार में लगे हुए हैं। मनुष्यों के हृदयों पर इस

साहित्य का इतना विषमय प्रभाव पड़ा है कि उनके मन में विषय-भोग का एक और नया काल्पनिक संसार बन खड़ा हुआ है।

इसके बाद 'ब्यूरो मोंशियो' 'रुइसन' के ये रोमांचकारी वाक्य उद्धृत करते हैं—

'इस अश्लील साहित्य से अगणित लोगों को अपरिमित हानि पहुँच रही है। इसकी बिक्री से पता लगता है कि लाखों-करोड़ों मनुष्य इसका अध्ययन करते हैं। पागलखानों के बाहर भी करोड़ों पागल रहते हैं! जिस प्रकार पागल अपनी एक निराली ही दुनिया में रहता है, उसी प्रकार, अखबारों और किताबों के दुरुपयोग के इस जमाने में, उन्हें पढ़ते समय, मनुष्य भी एक नई दुनिया में रहता है और इस संसार के सारे उत्तर-दायित्व को भूल जाता है। अश्लील साहित्य के पढ़नेवाले अपने विचारों के अश्लील संसार में भटकते फिरते हैं।"

इन सब दुष्परिणामों का कारण क्या है? इन सबकी जड़ में लोगों की यही भूल है कि 'विषयभोग किये बिना चल ही नहीं सकता और बिना इसके मनुष्य का पूर्ण विकास भी नहीं हो सकता।' ऐसा विचार हृदय में आते ही मनुष्य की दुनिया पलट जाती है। जिसको अब तक वह बुराई समझता था, उसे अब भलाई समझने लग जाता है और अपनी पाशविक इच्छाओं की तृप्ति के लिये नये-नये उपाय ढूँढ़ने लगता है।

आगे चलकर अध्याय, पृष्ठ और कविताओं के उद्धरण देकर 'ब्यूरो' ने यह सिद्ध किया है कि आजकल दैनिक पत्रों, मासिक पत्रिकाओं, पुस्तिकाओं, उपन्यासों और तसवीरों-द्वारा लोगों की इस अधम प्रवृत्ति को दिन-प्रति-दिन उत्तेजन ही मिलता जाता है।

पर अभी तक तो 'व्यूरो' ने केवल अविवाहित लोगों की ही दुर्दशा दिखाई है। अब आगे चलकर वे विवाहित लोगों के भ्रष्टाचार का भी दिग्दर्शन कराते हैं। वे कहते हैं कि अमीरों, किसानों और मध्यम श्रेणी के लोगों में विवाह अधिकतर या तो झूठी प्रतिष्ठा या धन के लालच के कारण होते हैं। कोई अच्छी-सी नौकरी, जायदाद, पुराने व्यभिचार को नीति के आवरण से ढकना, व्यभिचार से उत्पन्न होनेवाली सन्तति को क़ानूनन् उत्तराधिकारी बनाना और बुढ़ापे तथा बीमारी के समय किसी की सेवा प्राप्त करना, इत्यादि भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से विवाह किये जाते हैं। कभी-कभी मनुष्य व्यभिचार से थककर भी थोड़े संयतरूप में, विषय-भोग का जीवन बिताने के लिये विवाह कर लेते हैं।

आगे चलकर 'व्यूरो' सच्चे-सच्चे प्रमाण देकर यह दिखलाते हैं कि ऐसे विवाहों से व्यभिचार कम होने के बदले उलटा और बढ़ता है। इस पतन में वे कृत्रिम उपाय तथा साधन और भी सहायक होते हैं, जो व्यभिचार रोकते तो नहीं, किन्तु उससे होनेवाले परिणाम को रोक लेते हैं। मैं उस दुःखद भाग को छोड़ देता हूँ, जिसमें बतलाया गया है कि गत २० वर्षों के अन्दर परस्त्री-गमन की कितनी वृद्धि हुई है और अदालतों द्वारा दिये गये तलाकों की संख्या दोगुनी हो गई है! 'मनुष्य के समान ही स्त्रियों के भी अधिकार होने चाहिएँ'—इस सिद्धान्त के अनुसार स्त्रियों को विषयभोग करने की जो स्वतन्त्रता दे दी गई है, उसके सम्बन्ध में भी मैं केवल एक ही दो शब्द कहूँगा। गर्भपात करा देने की क्रियाओं में जो प्रसिद्धि प्राप्त कर ली गयी है, उससे पुरुष या स्त्री किसी के लिये भी संयम के बन्धन की आवश्यकता ही नहीं

रह गई। फिर, लोग यदि विवाह के नाम पर हँसें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? एक लोकप्रिय लेखक के ये वाक्य 'ब्यूरो' उद्धृत करते हैं—'मेरे विचार से विवाह एक बड़ी जङ्गली और क्रूर प्रथा है। जब मनुष्य-जाति समझ और न्याय की ओर पग बढ़ावेगी तो इस कुप्रथा को अवश्य ठुकराकर चकनाचूर कर डालेगी······परन्तु पुरुष इतने बुद्धू और स्त्रियाँ इतनी कायर हैं कि वे उच्च सिद्धान्त के लिये कुछ कर ही नहीं सकतीं।'

'ब्यूरो' अब इन दुराचरणों के फलों पर और उन सिद्धान्तों पर जिनसे इन दुराचरणों की पुष्टी की जाती है, सूक्ष्म विचार करके कहते हैं—'यह भ्रष्टाचार हमें एक नई दिशा में लिये जा रहा है। वह कौन-सी दिशा है? वहाँ क्या है? हमारा भविष्य प्रकाशमय होगा या अन्धकारमय? उन्नति होगी या अवनति? हमारी आत्मा को सुन्दरता के दर्शन होंगे या कुरूपता और पशुता की भयङ्कर मूर्ति दिखाई देगी? यहाँ तो क्रान्ति फैली हुई है! क्या यह वही क्रान्ति है, जो समय-समय पर देश और जातियों के उत्थान से पहले मचा करती है और जिसमें उन्नति का बीज रहता है? अथवा यह वही क्रान्ति है, जो आदम के हृदय में उठी थी और जो हमें अपने जीवन के बहुमूल्य और आवश्यक सिद्धान्तों को तोड़ने के लिये उभाड़ती है? क्या इससे हम अपनी शान्ति और जीवन को ही खतरे में नहीं डाल रहे हैं?' फिर 'ब्यूरो' यह दिखलाते हैं और इसके पक्ष में प्रमाण भी उपस्थित करते हैं कि अब तक इन सब बातों से समाज को बेहिसाब हानि पहुँची है। ये दुराचार तो हमारे जीवन की जड़ को ही काट रहे हैं।

तीसरा अध्याय

विवाहितों में भ्रष्टाचार

विवाहित स्त्री-पुरुषों का ब्रह्मचर्य-द्वारा गर्भ-निरोध करना एक बात है और विषयभोग के साथ-साथ तथा उसके परिणाम से बचानेवाले साधनों की सहायता से सन्तान-निग्रह करना बिलकुल दूसरी। पहली दशा में मनुष्यों का केवल लाभ ही लाभ है, और दूसरी दशा में हानि के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। 'ब्यूरो' ने आँकड़ों और मानचित्रों की सहायता से यह दिखलाया है कि पाशविक वृत्तियों की लगाम ढीली करने और फिर संभोग के स्वाभाविक परिणामों से बचने के उद्देश से गर्भ-निरोध के नकली साधनों के बढ़ते हुए प्रयोग का फल यह हुआ है, कि केवल पेरिस में ही नहीं, वरन् समस्त फ्रांस में, मृत्यु-संख्या की अपेक्षा जन्म-संख्या में बहुत कमी हो गई है। ८८ जिलों में से, जिनमें फ्रांस विभाजित है, ६८ में पैदाइश की औसत, मौत की औसत से कम है और वहाँ यदि १०० बच्चे जन्म लेते हैं, तो १६८ आदमी मरते हैं। उसके बाद टानगरा नामक एक जिले में प्रत्येक १०० जन्मों के पीछे १५६ मृत्यु होती हैं। उन १९ जिलों में, जिनमें कहीं-कहीं, अनुपात से, जितने मरते हैं, उससे अधिक जन्म लेते हैं; वहाँ भी इन दो संख्याओं का यह अन्तर बहुत ही थोड़ा है। ऐसे केवल दस ही जिले हैं, जहाँ जन्म और मृत्यु की संख्या में भारी अन्तर है। कम-से-कम मौतें, अर्थात् जहाँ जन्म-संख्या के साथ मृत्यु-संख्या का अनुपात ७२–१० का है, 'मोरबिहान' और 'पासडिकैले' में पाई जाती हैं। 'ब्यूरो' यह

उसी हिसाब से बढ़ती जाती है, जिस हिसाब से वहाँ जन्मवृद्धि पर अंकुश रक्खा जाता है। लेकिन 'ब्यूरो' इस विचार का समर्थन नहीं करते। इसके विरुद्ध वह अपने विचार का समर्थन जर्मनी और फ्रांस की हालतों को लेकर इस प्रकार करते हैं कि जर्मनी में जहाँ औसत से, जन्मों की अपेक्षा मृत्यु कम होती हैं, राष्ट्र की संपत्ति बढ़ती जाती है और फ्रांस में, जहाँ जन्म की संख्या मृत्यु की संख्या की अपेक्षा कम है, धन का ही अभाव बढ़ता जा रहा है। उनका कहना है कि जर्मनी के व्यापार के आश्चर्यजनक फैलाव का कारण अन्य देशवालों की अपेक्षा जर्मन मजदूरों का कोई अधिक वलिदान नहीं है। वह 'रोसीनोल' का एक वाक्य उद्धृत करते हैं– 'जर्मनी की जन-संख्या जिस समय केवल ४,१०,००००० थी, लोग भूखों मर गये। मगर जब से उसकी आबादी ६,८०,००००० हुई है, तब से वह दिन-प्रति-दिन धनवान् होता जा रहा है।' उनका यह भी कथन है कि जर्मन लोग, जो किसी प्रकार के विरागी नहीं हैं, सेविंग बैंकों में प्रतिवर्ष रुपया जमा करने में समर्थ हुए हैं! सन् १९११ ई० में उनके बाइस अरब फ्रैंक (फ्रांस का सिक्का) बैंकों में जमा थे, जब कि सन् १८९५ ई० में उन्हींके केवल ८ अरब जमा थे; अर्थात् हर साल उनके हिसाब में साढ़े आठ करोड़ और जमा होते गये।

'ब्यूरो' ने इस बात को अवश्य स्वीकार किया है कि जर्मनी की यह सब आश्चर्यजनक उन्नति केवल इसी कारण नहीं हुई है कि वहाँ जन्म की संख्या मृत्यु-संख्या से अधिक है। उनका यह आग्रह है—और वह ठीक है—कि अन्य प्रकार की सुविधाओं के होते हुए, यह तो बिलकुल स्वाभाविक ही है कि जन्म-संख्या के बढ़ने के

फलस्वरूप राष्ट्रीय उन्नति भी हो। वास्तव में यह जो बात सिद्ध करना चाहते हैं, वह यह है कि जन्म-संख्या के बढ़ते जाने से आर्थिक तथा नैतिक उन्नति का रुकना कुछ आवश्यक नहीं है। जहाँ तक जन्म-प्रतिशत से सम्बन्ध है, वहाँ तक हम हिन्दुस्तानी लोग फ्रांस की स्थिति में कदापि नहीं हैं। परन्तु यह कहा जा सकता है कि जर्मन की तरह हिन्दुस्थान में भी जन्म-संख्या का बढ़ते जाना राष्ट्रीय जीवन के लिये सहायक न होगा। परन्तु मैं 'ब्यूरो' के अंकों, सतर्क विचारों तथा निष्कर्षों को दृष्टि में रखते हुए हिन्दुस्तान की परिस्थित पर फिर कभी विचार करूँगा।

जर्मन परिस्थितियों पर, जहाँ जन्म-प्रतिशत का आधिक्य है, विचार करने के अनन्तर 'ब्यूरो' कहते हैं—'क्या हमें यह नहीं विदित है कि यूरोप में फ्रांस का स्थान चौथा है; किन्तु राष्ट्रीय संपत्ति के विचार से तीसरे स्थानवाले देश से बहुत नीचे है? फ्रांस-राष्ट्र की निजी सालाना आमदनी ढाई हजार करोड़ फ्रैंक है और जर्मन लोगों की पाँच हजार करोड़ फ्रैंक। हमारे राष्ट्र ने पैंतीस वर्षों में—यानी १८७९ से १९१४ तक—चार हजार करोड़ फ्रैंक का घाटा सहन किया है। देश के समस्त विभागों में खेतों में काम करनेवाले आदमियों की कमी है, और किसी-किसी जिले में तो पुराने आदमियों को छोड़कर कोई भी नया आदमी दिखाई नहीं देता। और आगे चलकर वह लिखते हैं कि भ्रष्टाचार और कृत्रिम वंध्यात्व के अर्थ ये हैं कि समाज की स्वाभाविक शक्तियाँ क्षीण हो जाँय और सामाजिक जीवन में वृद्ध पुरुषों के निःशंक का प्राधान्य रहे। फ्रांस प्रति १०० आदमियों में बच्चे और युवक मिलाकर केवल १८ हैं, जब कि

जर्मनी में २२ और इङ्गलैण्ड में २१ हैं। युवकों की अपेक्षा बूढ़ों का अनुपात उचित से अधिक बढ़ा हुआ है, और दूसरे लोगों में भी, जिन्होंने अपने भ्रष्टाचार से जवानी में ही बुढ़ापा बुला लिया है, नैतिक रूप से हत-तेज जाति की सभी प्रकार की कापुरुषता विद्यमान है।

लेखक यह भी कहते हैं कि हमें मालूम है कि फ्रांस देश के लोगों में अधिकांश शासक-वर्ग इस शिथिल नीति के प्रति उदासीन है, क्योंकि उसकी समझ में यह जानने की कोई आवश्यकता नहीं है कि किसकी खानगी जिन्दगी कैसी है। 'लियोपोल्ड मोनो' का निम्नलिखित कथन वह बड़े खेद के साथ उद्धृत करते हैं—

'अत्याचारियों पर गन्दी गालियों की बौछार करने तथा अत्याचार से पीड़ित लोगों के बन्धन काटने के लिये युद्ध करना सराहनीय अवश्य है; किन्तु उन लोगों के बारे में क्या किया जाय जो या तो भय के कारण या लालच से अपनी आत्मा की रक्षा नहीं कर सके हैं—या उनके विषय में जिनका साहस पीठ ठोंक जाने या त्योरी बदलने पर बढ़-घट सकता है, अथवा उन आदमियों के विषय में जो शर्म और लिहाज को ताखाए-ताक कर अपनी उस शपथ को तोड़ते हैं, जो उन्होंने अपनी यौवनावस्था में खुशी और संजीदगी के साथ अपनी पत्नी के साथ की थी और उलटे अपने कृत्यों पर प्रसन्न होते हैं, तथा उन आदमियों के विषय में, जो अपने निज के निरंकुश स्वार्थ के शिकार बनकर अपनी गृहस्थी को दुःखमय बनाते हैं? ऐसे मनुष्य भला हमारे मुक्ति-दाता क्योंकर बन सकते हैं?'

लेखक और आगे चलकर कहते हैं—

'इस तरह । चाहे जिधर दृष्टि डालकर देखें, हमें यह मालूम होगा कि हमारे नैतिक असंयम के कारण व्यक्ति, गृह तथा समाज को भारी चोट पहुँच रही है और हमने स्वयं ही अपने सिर बड़ी भारी आफत मोल ले रक्खी है । हमारे युवकों के व्यभिचार ने, गन्दी पुस्तकों तथा तसवीरों ने, धन के उद्देश्य से विवाह करने की प्रथा ने, मिथ्याभिमान, विलासिता तथा तलाक ने, कृत्रिम वंध्यात्व और गर्भपात ने, राष्ट्र को अपंगु कर दिया तथा उसकी बढ़ती को मार दिया है । व्यक्ति अपनी शक्ति को संचित नहीं रख सका है और बच्चों की जन्म-संख्या की कमी के साथ-साथ क्षीण और दुर्बल सन्तति उत्पन्न होने लगी है । 'यदि पैदाइशें कम हों, तो बच्चे अच्छे होंगे',—यह उक्ति उनलोगों को प्रिय लगा करती थी, जिन्होंने अपने को वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के स्थूल भाव में परिमित मानकर यह समझ रक्खा था कि मनुष्यों की उत्पत्ति भी भेड़-बकरी के उत्पादन की भाँति मानी जा सकती है । ऐसे ही लोगों को 'आगस्ट कौम्टेने तीव्र व्यङ्ग से कहा था कि सामाजिक दोषों के ये नकली चिकित्सक व्यक्तियों तथा समाज के मानस की गूढ़ जटिलता को भी समझने में सर्वथा असमर्थ हैं, हाँ, यदि ये पशु-वैद्य होते, तो अच्छा होता ।

'सच तो यह है कि उन तमाम मनोवृत्तियों में, जिन्हें आदमी ग्रहण करता है, उन सब निर्णयों में जिनपर वह पहुँचता है, उन सब आदतों में जिन्हें वह डालता है, कोई ऐसी नहीं होती जो मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन पर उतना असर डालती हो जितना कि विषयभोग के साथ सम्बन्ध रखनेवाली वृत्ति और

उसके निर्णय इत्यादि डालते हैं। चाहे मनुष्य उनकी रोक-थाम करे वा वह स्वयं उनके प्रवाह में बहने लग जाय, उसके कृत्यों की प्रतिध्वनि सामाजिक जीवन के कोने-कोने में सुनाई पड़ेगी; क्योंकि यह प्राकृतिक नियम है कि गुप्त से गुप्त कार्य भी अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता। इसी रहस्य के कारण किसी भी प्रकार की अनीति करते समय हम अपने को इस भुलावे में डाल लेते हैं कि हमारे कुकृत्य का परिणाम कोई बुरा न होगा।

'अब रही अपने सम्बन्ध की बात। अपने विषय में पहले तो हम निर्द्वन्द्व हो बैठते हैं, (क्योंकि हमारे कृत्यों का हेतु हमारी ही इच्छा रही है) परन्तु जब हम समाज के विषय में विचार करते हैं, तब उसे अपने से इतने ऊँचे पर समझते हैं कि वह हमारे कुकृत्यों की ओर देखेगा भी नहीं, और फिर साथ ही हम गुप्त रीति से, इस बात की भी आशा रखते हैं कि दूसरों में पवित्रता और सदाचार के भाव बने ही रहेंगे। सबसे भद्दी बात तो यह है कि इस प्रकार का पोचा विचार कभी-कभी केवल असाधारण और अपवाद-स्वरूप समयों में प्रायः सच निकल जाता है और फिर सफलता के मद में भूलकर हम अपना व्यवहार वैसा ही स्थिर रखते हैं, और, जब कभी अवसर आता है, हम उसे न्याय-संगत ही ठहराते हैं; किन्तु ध्यान रहे कि यही हमारे लिये सबसे बड़ा दण्ड है।

'परन्तु एक दिन ऐसा भी आता है जब कि हमारे इस व्यवहार से मिलनेवाला उदाहरण दूसरे प्रकार से हमको धर्मच्युत करने का कारण बनता है—हमारे प्रत्येक कुकृत्य का यह परिणाम होता है कि सदाचार से वह प्रेम करना, जिसे हम 'दूसरों'

में विद्यमान समझते आये हैं, हमारे लिए अधिक कठिन और साहसयुक्त बन जाता है। फल यह होता है कि हमारा पड़ोसी धोखा खाते-खाते ऊबकर हमारी नकल करने के लिए उतावला हो उठता है। बस, उसी दिन से अधःपतन आरम्भ हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य तुरन्त अपने कृत्यों के परिणामों का अनुमान कर लेता है और वह यह भी जान सकता है कि उसका उत्तर-दायित्व कहाँ तक है।

"जिस गुप्त कार्य को हम एक कन्दरा में बन्द समझते थे, उसमें से वह निकल पड़ा है। उसमें एक प्रकार की निराली स्फूर्ति के आ जाने से वह समस्त भागों में फैल चुका है। सबको प्रत्येक की भूल के कारण कष्ट सहन करना पड़ता है और 'इक मछली सब जल गन्दा' वाली कहावत चरितार्थ होती है। जैसे, किसी जलाशय में पत्थर फेंकने से सारा जलाशय क्षुब्ध हो उठता है, उसी प्रकार हमारे प्रत्येक कृत्य का सामाजिक जीवन के सुदूर के स्थान पर भी प्रभाव पड़ता है।

"अनीति जाति के रस-स्रोतों को तुरन्त ही सुखा देती है। वह पुरुष को शीघ्र ही क्षीण कर डालती और उसका नैतिक तथा शारीरिक सत्त्व चूस लेती है।

चौथा अध्याय

संयम और ब्रह्मचर्य

इतना लिख चुकने के बाद कि भ्रष्टाचार के अनेक रूपों से, व्यक्ति, परिवार तथा समाज की अपार हानि होती है, ग्रन्थ-लेखक मनुष्य-स्वभाव के विषय में एक बात लिखते हैं कि मनुष्य मूल

से समझ बैठता है कि मेरा अमुक कार्य स्वतंत्र है, इससे समाज की कोई हानि नहीं। परन्तु प्राकृतिक नियम ही ऐसा है कि गुप्त से गुप्त और व्यक्तिगत काम का भी प्रभाव दूर से दूर तक पड़ता है। अपने कृत्य को पाप माननेवाले भी, बार-बार यही हठ करके कि उनके उस काम का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं, पाप में इतने लिप्त हो जाते हैं कि वे अपने पाप को पाप मानने में सन्देह करने लगते हैं तथा उसी पाप का प्रचार भी वे करते हैं। यह ठीक है कि पाप छिपा नहीं रह सकता, किन्तु उस पाप का विष सारे समाज में फैल जाता है। इसका अर्थ यह निकलता है कि गुप्त पाप से भी समाज को भारी हानि होती है।

तो फिर इसका यत्न क्या है ? लेखक स्पष्ट बतलाते हैं कि नियम अथवा विधान बनाकर इसे कभी नहीं रोका जा सकता। इसके लिये केवल आत्म-संयम ही एक उपाय है। इसलिए इस पक्ष में लोकमत तैयार करना अत्यंत आवश्यक है कि अविवाहित स्त्री और पुरुष सभी ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहें। जो लोग अपने विषयों की इच्छा पर इतना संयम नहीं रख सकते, उनके लिये विवाह करना आवश्यक है और जो विवाह कर चुके हों, उन्हें एक दूसरे के साथ वफादार रहकर भलीभाँति संयम सहित जीवन व्यतीत करना चाहिए–इत्यादि विषय पर लेखक ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

किन्तु बहुत-से लोग कहते हैं कि "ब्रह्मचर्य से स्त्री-पुरुष के स्वास्थ्य को हानि होती है, और यह कहना कि ब्रह्मचर्य-पालन करो, उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर और इस अधिकार पर कि वे स्वेच्छानुसार सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करें, असह्य आक्रमण

करना है।" लेखक इस युक्ति का मुँहतोड़ उत्तर देते हैं "विषय की इच्छा नींद या भूख–जैसी कोई वस्तु नहीं है कि जिसके विना मनुष्य जीवित ही न रह सके। यदि हम भोजन न करें, तो निर्बल हो जायँगे, यदि नींद न लें, तो बीमार पड़ जायँगे, और यदि शौच को रोकें, तो बहुत से रोग होंगे। किन्तु विषय की इच्छा को तो हम प्रसन्नता से रोक सकते हैं और इस इच्छा को रोकने की शक्ति भी ईश्वर ने ही हमें दी है। आजकल विषयेच्छा स्वाभाविक इच्छा कही जाती है, इसका कारण यह है कि आजकल की हमारी सभ्यता में कितनी ही ऐसी उत्तेजक बातें भरी हुई हैं जिनसे हमारे युवक तथा युवतियों में यह इच्छा समय से पहले ही जागृत हो जाती है।" इसके पश्चात् लेखक ने कई बड़े-बड़े डाक्टरों के मतों का प्रबल प्रमाण दिया है कि ब्रह्मचर्य से स्वास्थ्य में अंतर नहीं पड़ सकता। यही नहीं किंतु उससे स्वास्थ्य को अपरिमित लाभ होता है।

टूबिगन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर 'अस्टर्लेन' का मत है– "कामवासना इतनी प्रबल नहीं होती जिसका दमन विवेक या नैतिक बल से पूर्णतया न किया जा सके। हाँ, प्रत्येक युवक-युवती को उचितावस्था पाने के पूर्व तक संयम से रहना सीखना चाहिए। उन्हें जान लेना चाहिए कि उनके आत्मसंयम का पुरस्कार उन्हें हृष्ट-पुष्ट शरीर तथा दिन प्रतिदिन बढ़ते हुए उत्साह-बल के रूप में मिलेगा।

"यह बात जितनी ही बार कही जाय, थोड़ी ही है कि नैतिक तथा शरीर-सम्बन्धी संयम और पूर्ण ब्रह्मचर्य का एक साथ रहना भलीभाँति सम्भव है। विषयभोग का समर्थन न तो

ऊपर लिखे किसी प्रकार से और न धर्म ही की दृष्टि से किया जा सकता है।"

लन्दन के रायल कॉलेज के प्रोफेसर 'लायनेल बिली' कहते हैं—श्रेष्ठ और सभ्य मनुष्यों के उदाहरणों ने अनेक बार सिद्ध कर दिया है कि बड़े-से-बड़े विकार भी सच्चे और पुष्ट हृदय से तथा रहन-सहन के विषय में उचित सावधानी रखने से रोके जा सकते हैं। जब कभी संयम का पालन कृत्रिम साधनों से ही नहीं, वरन् उसे अपनी इच्छा से स्वभाव में प्रविष्ट करके किया गया है, तब-तब उससे कभी हानि नहीं पहुँची। संक्षेप में, अविवाहित रहना अति दुष्कर नहीं है, किन्तु तभी जब कि वह किसी मनोवृत्ति का स्थूल रूप हो। पवित्रता का अर्थ कोरा विषय-निग्रह करना ही नहीं है, वरन् विचारों में भी शुचिता लाना है।"

स्विट्जरलैंड का मनोवैज्ञानिक 'फोरल', जिसने कि इस विषय का भलीभाँति अध्ययन किया है और जो उसी अधिकारयुक्त वाणी में इसकी चर्चा करता है, कहता है—"व्यायाम से प्रत्येक प्रकार का शारीरिक बल बढ़ता और पुष्ट होता है। इसके विपरीत, किसी भी प्रकार की अकर्मण्यता उसके उत्तेजित करने-वाले कारणों के प्रभाव को दमन कर देती है।

"विषय-सम्बन्धी सभी उत्तेजक बातें विषय-वासना को अधिक प्रबल कर देती हैं। उन बातों से बचे रहने से उनका प्रभाव मन्द हो जाता है और विषयवासना धीरे-धीरे कम हो जाती है। प्रायः युवक यह समझते हैं कि विषय-निग्रह करना एक असाधारण एवं असंभव कार्य है। किन्तु वे लोग जो स्वयं संयम से रहते हैं, सिद्ध करते हैं कि बिना स्वास्थ्य बिगाड़े भी पवित्र

जीवन व्यतीत किया जा सकता है।"

एक दूसरे विद्वान् 'रिविंग' का कथन है—"मैं २५ या ३० वर्ष की अवस्थावाले तथा उससे भी अधिक आयुवाले लोगों को जानता हूँ, जिन्होंने पूर्ण संयम रक्खा है; ऐसे लोगों को भी जानता हूँ जिन्होंने अपने विवाह के पूर्व भी संयम बनाए रक्खा है। ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं है; हाँ, यह अवश्य है कि वे अपना ढिंढोरा नहीं पीटते।

"मेरे पास ऐसे कितने विद्यार्थियों के अनेक खानगी पत्र आये हैं, जिन्होंने इस बात पर आपत्ति की है कि मैंने विषय-संयम की सुसाध्यता पर काफी जोर नहीं दिया।"

'डा० एक्टन' का कहना है—"विवाह के पूर्व युवकों को पूर्ण संयम से रहना चाहिए और यह संभव भी है।"

'सर जेम्स पैगट' का विचार है—"जिस प्रकार पवित्रता से आत्मा को हानि नहीं पहुँचती, उसी प्रकार शरीर की भी कोई क्षति नहीं होती। इन्द्रिय-संयम सबसे उत्तम आचरण है।"

डा० 'पेरियर' कहते हैं—"पूर्ण संयम के विषय में यह कल्पना करना कि वह भयानक है, नितांत मिथ्या विचार है। उसे दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। क्योंकि यह युवक-युवतियों के ही मन में घर नहीं करता, वरन् उनके माता-पिताओं के मन में भी घर बनाता है। नवयुवकों के लिए ब्रह्मचर्य—शारीरिक मानसिक तथा नैतिक, तीनों दृष्टियों से उनकी रक्षा करने-वाली वस्तु है।"

'सर एंडरूक्लार्क' कहते हैं—"संयम से कोई हानि नहीं पहुँचती और न वह मनुष्य के स्वाभाविक विकास को ही

सम्मति से घोषणा की थी कि यह कहना बिलकुल निराधार है कि ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य के लिए कभी हानिकारक हो सकता है। यह बात हम अपने अनुभव और ज्ञान के बल पर कहते हैं। हमारे विचार में इस प्रकार के जीवन से कभी कोई हानि होती नहीं पाई गई

लेखक ने सारे विषय का उपसंहार यों किया है—"इसपर से आप यह तो भलीभाँति समझ चुके होंगे कि समाजशास्त्री और नीतिशास्त्री पुकार-पुकार कर कहते हैं कि विषय की इच्छा भी नींद और भूख के समान कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसकी तृप्ति अनिवार्य हो। यह दूसरी बात है कि कुछ असाधारण अपवाद छोड़ देने पड़ें, किन्तु सभी नर-नारियों के लिये, बिना किसी बड़ी कठिनाई या दुःख के, ब्रह्मचर्य-पालन सरल है। सामान्यतः ब्रह्मचर्य से कभी कोई रोग नहीं होता, इसके विपरीत बहुत-से भयङ्कर रोगों की उत्पत्ति असंयम से होती है। पर यदि क्षण-भर के लिये यह भी मान लें कि वीर्य-रक्षा से रोग होता हो, तो भी प्रकृति ने ही मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए, आवश्यकता से अधिक शक्ति के लिए, स्वाभाविक स्खलन या मासिकधर्म द्वारा रज-वीर्य के निकल जाने का मार्ग निश्चित कर दिया है।"

अतएव डा० 'वीरी' का यह कहना नितांत सत्य है—"यह प्रश्न, वास्तविक आवश्यकता या प्रकृति का नहीं है। यह बात सभी कोई जानते हैं कि यदि भूख की तृप्ति न हो, या श्वास बन्द हो जाय, तो कौन-कौन से दुष्परिणाम हो सकते हैं। किन्तु कोई लेखक यह नहीं लिखता कि अस्थायी या स्थायी, किसी भी प्रकार के संयम के फल-स्वरूप अमुक छोटा या बड़ा किसी भी प्रकार का रोग हो सकता है! यदि संसार में हम ब्रह्मचारियों की

ओर देखें, तो वे किसी से न तो चरित्रबल में कम हैं, और न सङ्कल्पबल में; शरीरबल में तो इञ्च-भर भी कम नहीं हैं। वे यदि विवाह कर लें तो गृहस्थधर्म के पालन की योग्यता में भी, दूसरों से कुछ कम नहीं पाये जायँगे। जो वृत्ति इस प्रकार सरलता से रोकी जा सकती है, वह न तो आवश्यक है और न स्वाभाविक ही। विषयतृप्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं जो मनुष्य के शारीरिक विकास के लिए आवश्यक हो। बल्कि बात तो ठीक उसके उल्टी है। शरीर के साधारण विकास के लिए पूर्ण संयम का पालन अत्यंत आवश्यक है। इसलिए वयःप्राप्त युवक अपने बल का जितना ही अधिक संग्रह कर सकें, उतना ही अच्छा है। क्योंकि उस आयु में, बचपन की अपेक्षा रोग को रोकने की शक्ति कम होती है। इस विकास-काल में जब कि देह और मन पूर्णता की ओर बढ़ते हैं, प्रकृति को बहुत परिश्रम करना पड़ता है। इस कठिन समय में किसी भी बात की अधिकता बुरी है, किन्तु विशेषकर विषयेच्छा की उत्तेजना तो केवल हानिकारक ही है।"

पाँचवाँ अध्याय

व्यक्ति-स्वातंत्र्य की दलील

ब्रह्मचर्य से होनेवाले शारीरिक लाभों का विचार हो चुका। अब लेखक इसके नैतिक और मानसिक लाभों पर प्रो० मेंटिगजा का अभिप्राय व्यक्त करते हैं:—

"ब्रह्मचर्य से कई लाभ तत्काल होते हैं। इनका अनुभव सभी कर सकते हैं और नवयुवक तो विशेष करके। ब्रह्मचर्य से तुरन्त ही स्मरण-शक्ति स्थिर और संग्राहक, होकर, बुद्धि उर्वरा, और

इच्छाशक्ति बलवान् हो जाती है। मनुष्य के समस्त जीवन में वह रूपान्तर हो जाता है जिसकी कल्पना भी स्वेच्छाचारियों को कभी नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य जीवन में कैसा विलक्षण सौन्दर्य और सौरभ भर देता है! मानों सारा विश्व नये और अद्भुत रंग में रँगा हुआ सा जान पड़ता है, और वह आनन्द नित्य नवीन मालूम होता है। इधर, ब्रह्मचारी नवयुवकों की प्रफुल्लता, चित्त की शान्ति और चमक एवं उधर इन्द्रिय-दासों की अस्थिरता, बेचैनी और घबराहट में कितना आकाश-पाताल का अन्तर होता है। भला इन्द्रिय-संयम से भी कोई रोग होता हुआ कभी सुना गया है? किन्तु इन्द्रियों के असंयम से होनेवाले रोगों को कौन नहीं जानता? शरीर तो सड़ ही जाता है। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि उससे भी बुरा परिणाम मनुष्य के मन, मस्तिष्क, हृदय और संज्ञाशक्ति पर होता है। स्वार्थ का प्रचार इन्द्रियों की उद्दाम प्रवृत्ति तथा चारित्र्य की अवनति ही तो प्रत्येक स्थान पर सुनाई देती है।"

इतना होने पर भी जो लोग वीर्यनाश को आवश्यक मानते, और कहते हैं कि हमें अपने शरीर का मनमाना उपयोग करने का पूरा अधिकार है, संयम की सीमा बाँधकर आप हमारे स्वातंत्र्य पर आक्रमण करते हैं; उन्हें उत्तर देते हुए लेखक ने लिखा है कि समाज की उन्नति के लिए यह रोकना आवश्यक है।

उनका कहना है—"समाज-शास्त्री के सामने कर्मों के परस्पर आघात-प्रतिघात का ही नाम जीवन है। इन कर्मों का परस्पर कुछ ऐसा अनिश्चित और अज्ञात सम्बन्ध है कि कोई एक भी ऐसा कर्म नहीं हो सकता, जिसको हम अकेला कह

सकें। उसका प्रभाव सर्वत्र पड़ेगा ही। हमारे छिपे से छिपे कर्मों का विचारों का और मनोभावों का ऐसा गहरा और दूर तक प्रभाव पड़ सकता है कि हमारे लिए उसका अनुमान लगाना भी असम्भव है। यह कोई हमारा अपना बनाया हुआ नियम नहीं है यह तो मनुष्य के सभी कामों के इस अखण्ड सम्बन्ध का विचार न करके कभी-कभी कोई समाज कुछ विषयों में व्यक्ति को स्वाधीन बना देना चाहता है। किन्तु उस स्वाधीनता को स्वीकार करने से ही व्यक्ति अपने को छोटा बना लेता है—अपना महत्त्व खो बैठता है।"

इसके बाद लेखक ने यह दिखलाया है—"जब हमें सब जगह सड़क पर थूकने तक का अधिकार नहीं है, तो भला वीर्य रूपी इस महाशक्ति का मनमाना व्यय करने का अधिकार हमें कहाँ से मिल सकता है? क्या यह काम ऐसा है, जो ऊपर के बतलाये हुए समस्त कामों के पारस्परिक अखण्ड सम्बन्ध से अलग है? यदि सच पूछा जाय, तो इसकी गुरुता के कारण इसका प्रभाव और भी गहरा हो जाता है। देखो, अभी इस नवयुवक और लड़की ने यह सम्बन्ध किया है। वे समझते हैं कि उसमें वे स्वतन्त्र हैं—उस काम से और किसी को कुछ आवश्यकता नहीं—वह केवल उन दोनों का ही है। वे अपनी स्वतन्त्रता के भुलावे में पड़कर यह समझते हैं कि इस काम से समाज का न तो कोई सम्बन्ध है और न समाज का उस पर कुछ नियंत्रण ही हो सकता है। किन्तु यह उनका लड़कपन है। वे नहीं समझते कि हमारे गुह्य और व्यक्तिगत कर्मों का अत्यन्त दूर के कर्मों पर भी भयंकर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार समाज

को तुम नष्ट करना चाहते हो। तुम चाहो या न चाहो, परन्तु जब तुम केवल आनन्द के लिये, अल्पस्थायी वा अनुत्पादक ही सही, परन्तु यौवन-सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार दिखलाते हो, तो तुम समाज के भीतर भेद और भिन्नता का बीज बोते हो। हमारे स्वार्थ वा स्वच्छन्दता से हमारी सामाजिक स्थिति बिगड़ी हुई तो है ही, किन्तु अभी सब समाजों में ऐसा ही समझा जाता है कि सन्तानोत्पादक शक्ति के व्यवहार-सुख में जो जिम्मेदारी आ पड़ती है, उसे सब कोई प्रसन्नतापूर्वक उठावेंगे। इस उत्तरदायित्व को भूल जाने से ही आज पूँजी और श्रम, मजदूरी और विरासत, कर और सैनिक-सेना, प्रतिनिधित्व के अधिकार इत्यादि जटिल प्रश्नों का जन्म हुआ है। इस भार को अस्वीकार करने से एकबारगी ही वह व्यक्ति समाज के सारे संगठन को हिला देता है। और इस प्रकार दूसरे का बोझा भारी कर आप हलका होना चाहता है इसलिये वह किसी चोर, डाकू या लुटेरे से कम नहीं कहा जा सकता। अपनी इस शारीरिक शक्ति के सुव्यवहार के लिये भी समाज के सामने हम वैसे ही उत्तरदायी हैं, जैसे अपनी और शक्तियों के लिये। हमारा समाज इस विषय में निरस्त्र है और इसलिए उसे हमारी अपनी बुद्धिमानी पर ही उसके उचित उपयोग का भार रखना पड़ा। इस कारण इसकी जिम्मेदारी तो और भी कुछ बड़ी ही होनी चाहिये।

"स्वाधीनता बाहर से तो सुख-सी प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में वह एक भार-सी है। इसका अनुभव तुम्हें पहली बार में ही हो जाता है। तुम समझते हो कि मन और विवेक दोनों एक हैं, यद्यपि दोनों में है तो तुम्हारी ही शक्ति, किन्तु

कई बार दोनों में बहुत भेद देखा जाता है। उस समय तुम किसको मानोगे ? अपनी विवेक-बुद्धि की आज्ञा को, या अपनी नीच-से-नीच इन्द्रिय-लालसा को। यदि इन्द्रिय-लालसा पर विवेक की विजय होने में ही समाज की उन्नति है ? तब तो तुम्हें इन दोनों में से एक बात को चुन लेने में कोई कठिनाई नहीं होगी। किन्तु तुम यह भी कह सकते हो कि मैं शरीर और आत्मा दोनों का साथ-साथ पारस्परिक विकास चाहता हूँ। ठीक। लेकिन यह याद रक्खो कि आत्मा के तुच्छ विकास के लिये भी कुछ-न-कुछ संयम तो तुम्हें अवश्य करना होगा। पहले इन विलास के भावों को नष्ट कर दो, तो पीछे तुम जो चाहोगे, हो सकोगे।

महाशय 'गैवरियल सीलेस' का कथन है—"हम बार-बार कहते फिरते हैं कि हमें स्वतन्त्रता चाहिए—हम स्वतन्त्र होंगे। किन्तु हम नहीं जानते कि यह स्वतन्त्रता कर्त्तव्य की कैसी कठोर बेड़ी बन जाती है। हमें यह नहीं मालूम कि हमारी इस बनावटी स्वतन्त्रता का अर्थ है—इन्द्रियों की दासता, जिससे हमें न तो कभी कष्ट का अनुभव होता है और न हम कभी उसका विरोध ही करते हैं।

संयम में शान्ति है, और असंयम तो अशान्ति रूप महाराग्नु का घर है। कामेच्छाएँ तो सभी समयों में कष्टदायक हो सकती हैं, किन्तु युवावस्था में तो यह महाव्याधि हमारी बुद्धि को एकदम ही बिगाड़ दे सकती है। जिस नवयुवक का किसी स्त्री से पहले पहल सम्बन्ध होता है, वह नहीं जानता कि वह अपने नैतिक मानसिक और शारीरिक जीवन के अस्तित्व के साथ खेल कर रहा है। उसे यह भी नहीं मालूम कि उसके इस काम की

प्रसिद्ध चित्रकार 'माइकेल ऐञ्जेलो' से जब किसी ने कहा कि तुम विवाह कर लो, तो उसने उत्तर दिया कि चित्रकार ही मेरी ऐसी पत्नी है, जो सौत का रहना सहन न कर सकेगी।

अपने यूरोपियन मित्रों के अनुभव से मैं महाशय 'ब्यूरो' के बतलाये हुए प्रायः सभी प्रकार के मनुष्यों का उदाहरण देकर उनकी इस बात का समर्थन कर सकता हूँ कि बहुत से मित्रों ने आजीवन-ब्रह्मचर्य्य का पालन किया है। हिन्दुस्थान को छोड़कर और किसी भी देश में बालपन से ही विवाह की बातें बालकों को सुनाई नहीं जातीं। यहाँ तो माता-पिता की यही अभिलाषा रहती है कि लड़के का विवाह कर देना और उसकी आजीविका का उचित प्रबन्ध कर देना। पहली बात से तो असमय में ही बुद्धि और शरीर का ह्रास होता है और दूसरी बात से आलस्य आ घेरता और कभी-कभी दूसरे की कमाई पर जीने का अभ्यास पड़ जाता है। ब्रह्मचर्य की ओर स्वेच्छा से लिये हुए दारिद्रय के व्रत की हम यही अत्यधिक प्रशंसा-मात्र करते हैं बस, यह काम तो केवल योगियों और महात्माओं से ही संभव है। हम लोग यह भी कहा करते हैं कि योगी और महात्मा ही तो असाधारण पुरुष होते हैं। हम यह भुला देते हैं कि जिस समाज की दशा ऐसी गिरी हुई हो, उसमें सच्चे योगी और महात्मा का होना ही असम्भव है। सदाचार का चाल यदि कछुए की चाल के समान धीमी और अबोध है, तो दुराचार खरहे की भाँति दौड़ता है। हमारे पास पश्चिमीय देशों से व्यभिचार का सौदा बिजली की चाल से दौड़ा आता है और अपनी मनमोहिनी चमक-दमक से हमारी आँखों को चकाचौंध कर देता है और

हम सत्य को भूल जाते हैं। क्षण-क्षण में पश्चिम से तार के द्वारा जो वस्तु पहुँचती है और प्रतिदिन परदेशी माल से लगे हुए जो जहाज उतरते हैं, उनमें होकर जो जगमगाहट आती है, उसे देखकर ब्रह्मचर्य-व्रत लेने में हमें लज्जा तक आने लगती है! और, निर्धनता के व्रत को हम पाप तक कहने को तैयार हो जाते हैं! किन्तु आज हिन्दुस्थान में हमें पश्चिम का जो दर्शन हो रहा है, पश्चिम भी ठीक वैसा नहीं है। जिस प्रकार दक्षिण अफ्रिका के गोरे वहाँ के रहनेवाले थोड़े से हिन्दुस्तानियों को देखकर ही सभी हिन्दुस्तानियों के चरित्र का अनुमान करने में भूल करते हैं, उसी प्रकार हम भी इस थोड़े से उदाहरण में सारे पश्चिम का अनुमान लगाने में अन्याय करते हैं। जो लोग इस भ्रम का पर्दा हटाकर भीतर देख सकते हैं, वे देखेंगे कि पश्चिम में भी वीर्य और पवित्रता का एक छोटा-सा परन्तु अटूट झरना विद्यमान है। यूरोप की इस महा मरुभूमि में भी ऐसे झरने हैं, जहाँ जो कोई चाहे जीवन का पवित्र से पवित्र जल पीकर सन्तुष्ट हो सकता। वहाँ के बहुत-से मनुष्य ब्रह्मचर्य और स्वेच्छापूर्वक निर्धनता के व्रत लेते हैं और फिर कभी भूलकर भी उनके लिए गर्व नहीं करते—न कुछ पुकार ही मचाते हैं! वे लोग नम्रता के साथ यह सब किसी आत्मीय की अथवा स्वदेश की सेवा के लिये करते हैं। हम लोग धर्म की बातें इस प्रकार करते हैं मानों धर्म में और व्यवहार में कोई सम्पर्क ही न हो और यह धर्म केवल हिमालय के एकान्तवासी योगियों के लिये ही हो! जिस धर्म का हमारे नित्य के आचार-व्यवहार पर कुछ प्रभाव न पड़े, वह धर्म एक शून्य विचार के सिवा और कुछ नहीं है। सभी नवयुवक

पुरुष और स्त्रियाँ, जिनके लिये यह पत्र (नवजीवन) प्रति सप्ताह लिखा जाता है, समझ लें कि अपने आसपास के वातावरण को शुद्ध बनाना और अपनी निर्बलता को दूर करना तथा ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना उनका परम कर्त्तव्य है। वे यह भी जान लें कि यह काम उतना कठिन नहीं है, जितना कि वे सुनते आये हैं।

अब देखना चाहिये कि लेखक और क्या कहते हैं। उनका कथन है—"यदि हम यह मान भी लें कि विवाह करना आवश्यक ही है, तो भी न तो सब कोई विवाह कर ही सकते हैं और न सबके लिये इसे आवश्यक और उचित ही कहा जायगा। इसके अतिरिक्त कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिन्हें ब्रह्मचर्य के पालन के सिवा दूसरा मार्ग ही नहीं रह जाता जैसे—(अ) कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें अपने व्यापार या निर्धनता के कारण विवश होकर विवाह करने से रुकना पड़ता है, (ब) कितनों ही को अपने योग्य वर या कन्या ही नहीं मिलती, (स) ऐसे भी बहुत से मनुष्य हैं, जिन्हें कोई ऐसा रोग होता है, जिसके सन्तान में भी आ जाने का भय होता है। और भी कई कारणों से कुछ लोगों को विवाह का विचार बिलकुल ही छोड़ देना पड़ता है। किसी उत्तम कार्य या उद्देश्य के लिये, अशक्त और सम्पन्न स्त्री-पुरुषों के ब्रह्मचर्य-व्रत से उन लोगों को भी अपने व्रत के पालन में सहारा मिलता है, जो विवश होकर ब्रह्मचारी बने रहते हैं। स्वेच्छापूर्वक जिसने ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण किया है, उसे तो अपना ब्रह्मचारी-जीवन अपूर्ण नहीं मालूम होता। इसके विपरीत वह तो ऐसे ही जीवन को उच्च और परमानन्द से भरा हुआ जीवन मानता है। विवाहित और

अविवाहित दोनों प्रकार के ब्रह्मचर्यधारियों को उनके व्रत के पालन में उससे उत्साह मिलता है। वह उनका पथ-प्रदर्शक बनता है।"

ग्रन्थकर्त्ता महाशय 'फोर्स्टर' का मत है—"ब्रह्मचर्य-व्रत विवाह-संस्था का बड़ा भारी सहायक है। यह विषयेच्छा और विकारों से मनुष्य की मुक्ति का चिह्न-स्वरूप है। विवाहित स्त्री-पुरुष इसे देखकर विचार करते हैं कि वे आपस में एक दूसरे की केवल विषयेच्छा की ही पूर्ति के साधन नहीं हैं, वरन् विषय-वासना के रहते हुए भी वे स्वतंत्र और मुक्त आत्मा हैं। ब्रह्मचर्य की हँसी उड़ानेवाले यह नहीं जानते कि उसकी हँसी उड़ाकर वे व्यभिचार और बहु-विवाह का समर्थन कर रहे हैं। यदि यह मान लिया जाय कि विषयेच्छा को तृप्त करना अत्यंत आवश्यक है, तो फिर विवाहित स्त्री-पुरुषों से किस प्रकार पवित्र जीवन की आशा रक्खी जा सकती है? वे यह भूल जाते हैं कि रोगवश या किसी और कारण से कभी-कभी दम्पति में से एक की अशक्ति के कारण दूसरे के लिये आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य हो जाता है। और कुछ नहीं, तो केवल इस कारण से ही कि ब्रह्मचर्य की जितनी महिमा हम स्वीकार करते हैं, उतने ही ऊँचे पर हम एक पत्नी-व्रत के आदर्श को चढ़ाते हैं।"

सातवाँ अध्याय

विवाह का पवित्र संस्कार

आजीवन ब्रह्मचर्य का विषय लिखने के बाद, कई अध्यायों में लेखक ने विवाहित-जीवन के कर्तव्य और विवाह की अखण्डता पर विचार किया है। यद्यपि वह अखण्ड ब्रह्मचर्य को

ही सबसे उत्तम मानते हैं, तो भी यद्यपि सर्व-साधारण के लिये वह शक्य नहीं है, इस कारण वैसे लोगों के लिए विवाह-बन्धन केवल आवश्यक नहीं, वरन् कर्तव्य के बराबर है। उन्होंने दिखलाया है कि विवाह के कर्तव्यों और उद्देश्यों को ठीक-ठीक समझ लेने पर सन्तति-निरोध के समर्थन की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस नैतिक असंयम का कारण हमारी विपरीत शिक्षा है। विवाह की हँसी उड़ानेवाले लेखकों के तर्कों का उत्तर देकर लेखक कहते हैं।

"पुरुष और स्त्री के जीवन-पर्यन्त साहचर्य का नाम ही विवाह है। विवाह केवल आपस का एक ठेका-भर ही नहीं है, वरन् वह एक धार्मिक संस्कार है—धर्म-सम्बन्ध है। यह कहना भूल होगा कि विवाह के नाम पर किये जाने वाले सभी प्रकार के विषय-विलासमय असंयम क्षमा-योग्य हैं। असंयम से विवाह के वास्तविक उद्देश्य को क्षति होती है। सन्तानोत्पत्ति के अतिरिक्त और सभी प्रकार की कामवासना की तृप्ति, सच्चे प्रेम के लिये बाधक और समाज तथा व्यक्ति के लिये हानिकारक है। सन्त फ्रांसिस का कहना है कि कड़ी औषधियों का सेवन करना सदैव भयङ्कर ही होता है। कामवासना की औषधि के रूप में विवाह बड़ी अच्छी वस्तु है, किन्तु वह कड़ी है और इसलिये बहुत सँभाल कर यदि उसका व्यवहार न किया जाय तो भयानक भी है।"

इसके बाद लेखक विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने या तोड़ने में, अथवा सीधे-सीधे विवाह से प्राप्त होनेवाले कर्तव्यों की चिंता न करके असंयत जीवन बिताने में व्यक्तिगत स्वाधीनता का विरोध करते हैं। और एक पत्नीव्रत का ही समर्थन करते हैं:—

"यह ठीक नहीं है कि विवाह करने या स्वार्थमय ब्रह्मचर्य का जीवन बिताने का हमें पूर्ण अधिकार है। और इससे भी कम अधिकार विवाहित स्त्री-पुरुष को परस्पर के सन्धि से विवाह-संयोग तोड़ने का है। उनकी स्वतंत्रता एक दूसरे को चुन लेने-भर में ही होती है। और वे चुनते हैं, यह ठीक-ठीक समझकर कि एक दूसरे के साथ विवाह के कर्तव्यों का वे ठीक-ठीक पालन कर सकेंगे। फिर एक बार जब यह संस्कार हो गया, तब उसका प्रभाव इन दो मनुष्यों के अतिरिक्त समाज पर बहुत दूर तक पड़ने लगता है। चाहे आज उसे हम न समझ सकें, परन्तु जो समझते हैं, वे हमारे आज के सामाजिक दुःखों की जड़ को पहचानते हैं। उन्हें इससे सन्तोष होगा कि जब सभी संस्थाओं का विकास होता है, तो इस विवाह-संस्था का भी विकास और परिवर्तन होना आवश्यक है। वे तो देखते हैं कि आज जब परस्पर की केवल सन्धि होने से ही विच्छेद के अधिकार माँगे जाते हैं, तो अवसर पाकर हमें होनेवाले कष्टों से ही पतिव्रत एवं एक पत्नीव्रत की महिमा का ज्ञान होगा।

"विवाह की अखण्डता का नियम अकारण शोभा के लिये ही नहीं है। व्यष्टि और समष्टि के सामाजिक जीवन की बड़ी कोमल बातों से इसका सम्बन्ध है। जो लोग विकासवादी हैं, उन्हें सोचना चाहिये कि जाति की यह अनिश्चित उन्नति अंत में किस मार्ग पर जायगी? उत्तरदायित्व के भाव की वृद्धि, व्यक्ति का स्वेच्छा से धारण किया हुआ संयम, सन्तोष और उदारता की वृद्धि, स्वार्थ का नियमन, क्षणिक क्षोभों के विरुद्ध भावुकता का जीवन आदि मनुष्यों के आंतरिक जीवन की इन बातों को हम

कभी भूल नहीं सकते। सभी प्रकार की आर्थिक वा सामाजिक उन्नति में इनका विचार अवश्य रखना होगा, नहीं तो उन उन्नतियों का कोई मूल्य ही नहीं गिना जा सकता। इसलिये सामाजिक और नैतिक दोनों विचारों से यदि हम भिन्न-भिन्न प्रकार के काम-सम्बन्ध पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें इस बात का विचार करना ही पड़ेगा कि हमारे सारे सामाजिक जीवन की शक्ति को बढ़ाने के लिए कौन-सी संस्था सबसे अच्छी है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की आंतरिक जीवन की शुद्धि, स्वार्थ का त्याग और बलिदान की बढ़ती तथा चंचलता इत्यादि के नाश के लिये कौन-सा जीवन सबसे उत्तम होगा? इन प्रश्नों पर विचार करने से कहना ही पड़ेगा कि एक पत्नीव्रत के सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी महत्व के कारण सबसे अच्छा दूसरा जीवन नहीं है। परिवारिक जीवन में ही इन सब मनुष्योचित गुणों का विकास होता है और अपनी अखण्डता के कारण दिन-प्रति-दिन इस सम्बन्ध की गंभीरता भी बढ़ती ही जाती है। ऐसे भी कहा जा सकता है कि मनुष्य के सामाजिक जीवन का केन्द्र एकपत्नीव्रत ही है।"

इसके बाद लेखक 'ऑगस्ट कॉमटे' का विचार सामने रखते हैं—"हमारे ऊपर समाज का नियंत्रण अत्यंत आवश्यक है, नहीं तो धीरे-धीरे हमारा जीवन किसी भी योग्य न रह जायगा। विवाह का उद्देश्य काम-वासना की तृप्ति ही नहीं है।"

डाक्टर 'टूलो' ने लिखा है—"विवाहिता जीवन के सुखों में इस भूल से बहुत बाधा पड़ती है कि काम-प्रवृत्ति की पूर्ति अत्यन्त आवश्यक है। ठीक इसके विपरीत मनुष्य की प्रकृति है—इन प्रवृत्तियों का दमन करना। छोटा-सा बच्चा अपनी शारीरिक

प्रवृत्तियों का दमन करना सीखता है। बड़े लोगों को मन की प्रवृत्तियों के दमन का अभ्यास करना पड़ता है। हम लोग जिसे अधिकतर स्वभाव या प्रवृत्ति के नाम से पुकारते हैं, वह हमारी निर्बलता है। जिसमें वह शक्ति है, वह पुरुष उचित अवसर पर उस शक्ति का प्रयोग भी कर सकता है।"

आठवाँ अध्याय

उपसंहार

अच्छा, इस लेख-माला को अब समाप्त करना चाहिए। 'ब्यूरो' ने 'माल्थूस' के सिद्धान्तों की जैसी समीक्षा की है, उसे जानना हमारे लिये अत्यंत आवश्यक नहीं है।

"यद्यपि इस समय मनुष्यों की संख्या बहुत बढ़ रही है, इसलिये यदि यह अभीष्ट हो कि समस्तम नुष्य-जाति समूल नष्ट न हो जाय तो सन्तति-निरोध को आवश्यक मानना ही पड़ेगा।" —इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करके 'माल्थूस' ने अपने समय के लोगों को चकित कर दिया था। अस्तु, 'माल्थूस' ने तो इन्द्रिय-संयम ही सिखलाया था, किंतु आजकल का नया माल्थूसी सिद्धान्त तो संयम की शिक्षा न देकर पशुवृत्ति की तृप्ति के दुष्परिणामों से बचने के लिये यंत्रों और औषधियों का व्यवहार सिखलाता है! नैतिक रीति से—अर्थात् इन्द्रिय-संयम के द्वारा सन्तति-निरोध का समर्थन तो 'ब्यूरो' बड़ी प्रसन्नता से करते हैं; किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं वह औषधियों या यंत्रों की सहायता से संतति-निरोध का निषेध एवं घोर विरोध करते हैं। इसके पश्चात् लेखक ने श्रमजीवियों की दशा तथा उनकी जन्म-संख्या की जाँच

की है और अन्त में, व्यक्तिगत स्वाधीनता और मनुष्यता के भी नाम पर फैली हुई अनीतियों को रोकने के यत्नों पर विचार करते हुए पुस्तक समाप्त की है। लोकमत का नेतृत्व और नियमन करने के लिये वह संगठित रूप से कार्य करने की सम्मति देते हैं, और इस विषय में विधि-विधान की सहायता का भी वह समर्थन करते हैं। किन्तु उनका अन्तिम विश्वास तो धार्मिक वृत्ति की जागृति पर ही है। अनीति को एक तो यों ही साधारण उपायों से नहीं रोका जा सकता है, और तब तो बिल्कुल ही न रोका जा सकेगा जब कि अनीति को ही धर्मनीति का पद दिया जाने लगेगा और नीति को दुर्बलता, अन्ध-विश्वास या अनीति ही कहा जायगा। उदाहरण के लिये सन्तति-निरोध के बहुत से समर्थक ब्रह्मचर्य को अनावश्यक ही नहीं, वरन् हानिकारक भी बतलाते हैं। ऐसी दशा में निरंकुश पापाचार को रोकने में केवल एक धर्म की ही सहायता उपयुक्त होगी। यहाँ धर्म का संकीर्ण अर्थ न लेना चाहिए। व्यक्ति हो अथवा समाज, उसपर सच्चे धर्म का जितना गहरा प्रभाव पड़ता है, उतना किसी दूसरी वस्तु का नहीं। धार्मिक जागृति का अर्थ क्रान्ति, परिवर्त्तन एवं पुनर्जन्म है। 'ब्यूरो' की सम्मति में फ्रांस जिस विनाश के मार्ग पर चल रहा है, उससे उसे कोई धार्मिक क्रान्ति के समान महाशक्ति ही बचा सकती है।

अच्छा, अब हम लेखक तथा उनकी पुस्तक को यहीं छोड़ दें। फ्रांस और भारत की दशा एक-सी नहीं है। हमारी समस्या कुछ और ही है। गर्भ-निरोधक साधनों का यहाँ घर-घर प्रचार नहीं है। शिक्षित लोगों में भी इन वस्तुओं का व्यवहार कदाचित् ही होता हो। मेरे विचार में हिन्दुस्थान में उनके प्रचार

के लिये कोई उपयुक्त कारण भी नहीं है। मध्यम श्रेणीवालों में जन्म-संख्या अधिक है। जहाँ तक मेरे देखने में आया है, विधवाओं और बाल-पत्नियों के लिये ही यहाँ इन वस्तुओं के उपभोग का समर्थन किया जाता है। इसलिये एक ओर तो हम अमान्य सन्तति के जन्म से बचना चाहते हैं परन्तु गुप्त व्यभिचार से नहीं। और दूसरी ओर हमें बालिका के गर्भवती हो जाने का डर है, न कि उसके साथ बलात्कार किये जाने का दुःख!

अब रहे वे रोगी, निर्बल और निर्वीर्य नवयुवक जो अपनी या पराई स्त्री के प्रति कामासक्त रहते हैं, और इसे पाप मानते हुए भी इसके परिणामों से दूर भागना चाहते हैं। मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि अनेकों भारतीयों के इस महासमुद्र में ऐसे विरले ही हृष्ट-पुष्ट और वीर्यवान् स्त्री-पुरुष मिलेंगे, जो विषय-तृप्ति भी चाहें और बालकों का भार सँभालने से घबराएँ भी। इनके उदाहरण उद्धृत करके कोई इन घृणित प्रवृत्तियों का प्रचार न करे, क्योंकि यदि इनका सर्व-साधारण में प्रचार हो जायगा, तो इस देश के युवकों का सर्वनाश निश्चित है। अत्यन्त कृत्रिम शिक्षापद्धति ने जाति के युवकों की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का कैसा अपहरण कर लिया है। हम लोगों का जन्म प्रायः बालकपन के ब्याहे माता-पिता से ही हुआ है। स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियमों की उपेक्षा करने से हमारा शरीर घुन गया है। उत्तेजक मसालोंवाले एवं तामसिक और अपर्याप्त भोजन ने हमारी पाचन-शक्ति को एकदम नष्ट कर डाला है। हमें आवश्यकता इस बात की नहीं है कि गर्भ-निरोधक साधनों की शिक्षा दी जाय और यह बताया जाय कि पाशविक प्रवृत्ति की

तृप्ति के लिये क्या-क्या करना चाहिए पर, सबसे भारी आवश्यकता तो हमें इस शिक्षा की है कि कामेच्छा पर हम कैसे अधिकार करें, किस प्रकार जीवन-पर्यंत ब्रह्मचर्य से रह सकें। इस बात की शिक्षा हमें उपदेश और उदाहरण दोनों के द्वारा दी जाने की आवश्यकता है कि यदि हमें शरीर और मस्तिष्क को शक्तिहीन नहीं रखना है, तो हमारे लिये ब्रह्मचर्य का पालन अत्यंत आवश्यक है और वह सर्वथा शक्य भी है। लोगों को पुकार-पुकारकर यह बात कही जाने की आवश्यकता है कि यदि हमारी जाति बौनों की जाति बनना नहीं चाहती तो हमें अपनी शक्ति का संचय करना होगा और अपनी बची-बचाई थोड़ी-सी शक्ति को बढ़ाना पड़ेगा जो पानी में बही जाती है। बाल-विधवाओं को यह बतलाना होगा कि गुप्तरूप से पाप मत किया करो, किन्तु साहस करके बाहर आओ और खुलकर अपना वही अधिकार तुम भी माँगो जो नवयुवक विधुरों को पुनर्विवाह के रूप में प्राप्त है। हमें ऐसा लोकमत बनाने की आवश्यकता है कि जिसमें बाल-विवाह असम्भव हो जाय। हमारी अस्थिरता, कठिन और अविरल श्रम से अनिच्छा, शारीरिक अयोग्यता, शान से आरम्भ किये गये कामों का बैठ जाना और मौलिकता का अभाव—इत्यादि इन सबके मूल में मुख्यतः हमारा अत्यधिक वीर्यनाश ही है। मुझे आशा है कि नवयुवक इस भ्रम में न पड़ेंगे कि जबतक वे सन्तानोत्पत्ति से बचे रहें, तबतक के भोग-विलास से उन्हें कोई क्षति नहीं पहुँचती, उससे निर्बलता नहीं आती। सच पूछो तो प्रजनन को रोकने के लिये कृत्रिम उपायों से युक्त विषय-भोग, उसके उत्तरदायित्व को समझकर किये हुए सम्भोग की अपेक्षा, कहीं

अधिक शक्ति का नाश कर सकता है। यदि हमारा मन यह मान ले कि विषय-संभोग आवश्यक, निर्दोष और पापरहित है, तो फिर हम उसको निरंतर तृप्त करते रहना चाहेंगे और हमारे लिये उसका दमन करना असम्भव हो जायगा। किन्तु यदि हम अपने मन को ऐसा समझ सकें कि उसमें पड़ना हानिकारक, पापमय एवं अनावश्यक है और वह वश में रक्खा जा सकता है, तो हमको ज्ञात होगा कि आत्मसंयम सर्वथा शक्य है।

नवीन सत्य के और मनुष्यों की स्वाधीनता के बहाने उन्मत्त पाश्चात्य, स्वच्छन्दता की जो मदिरा यहाँ भेज रहा है, उससे हमें बचना ही होगा; किन्तु इसके विपरीत यदि हम अपने पूर्वजों के ज्ञान खो बैठें हों, तो हम पश्चिम की उस शान्त और गम्भीर ध्वनि को सुनें, जो कभी-कभी वहाँ के बुद्धिमान् पुरुषों के गंभीर अनुभव से हमारे पास छन-छन कर आया करती है।

'चार्ली एन्ड्रूज' ने मेरे पास जनन और प्रजनन पर मि० विलियम लौफ्टस हेयर' का एक अच्छा-सा लेख भेजा है, जो मार्च सन् १९२६ के "ओपनकोर्ट" नामक पत्र में प्रकाशित भी हुआ था। लेख बड़ा युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है। उसमें उन्होंने दिखलाया है कि सभी प्राणियों के शरीर में दो क्रियायें लगातार चालू रहती हैं। 'शरीर को बनाने के लिये आन्तरिक जनन और प्रजावृद्धि के लिये बाह्य प्रजनन। इनका नाम वे क्रमशः जनन और प्रजनन रखते हैं। जनन (आन्तरिक जनन) मनुष्य के जीवन का आधार है और इसलिये आवश्यक तथा मुख्य काम है। प्रजनन का काम शरीर-कोषों की अधिकता से होता है अतएव वह गौण है। जीवन का यह नियम है कि पहले जनन के लिये शरीर-कोषों

की पूरी भर्ती हो जावे, तब प्रजनन हो। यदि शरीर-कोषों की कमी रही, तो पहिले जनन का काम होगा, प्रजनन का रुका रहेगा। इस प्रकार हम मृत्यु का भी कारण जान जाते हैं। शरीर के प्रजनन का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—"सभ्य मनुष्यों में प्रजनन की आवश्यकता से कहीं अधिक वीर्य नष्ट किया जाता है और इससे आन्तरिक जनन का काम रुकता है—जिसके फल-स्वरूप रोग, मृत्यु और अन्य प्रकार के दुःख और क्लेश होते हैं।"

जिसे हिन्दू-दर्शन-शास्त्र का थोड़ा भी ज्ञान होगा, उसे 'मि० हेयर' के लेख का निम्न-लिखित अवतरण समझने में कुछ भी कठिनाई न होगी। प्रजनन की क्रिया कुछ यन्त्र की क्रिया-सी नहीं है। प्रारंभिक काल में कोषों के विभंजन से प्रजनन का जैसा सजीव कार्य होता था वैसा ही अब भी होता है—अर्थात् वह बुद्धि और इच्छा पर निर्भर रहता है। यह विचारना असम्भव है कि जीवन का काम एकदम जीव-रहित कल की भाँति होता है। हाँ यह सच है कि ये मूलभूत बातें हमारी वर्तमान जागृति से इतनी दूर जा पड़ी हैं कि वे मनुष्य की या पशु की इच्छा के अधीन नहीं मालूम होतीं; किन्तु क्षण-भर के बाद ही हमें विदित हो जाता है कि जिस प्रकार एक पुष्ट शरीरवाले पुरुष की सभी बाह्य क्रियाओं का नियन्त्रण उसकी इच्छा-शक्ति करती है और उसका काम ही यही है उसी प्रकार शरीर के क्रमशः होते हुए संगठन के ऊपर भी इच्छा-शक्ति का कुछ अधिकार अवश्य होना चाहिए। मनोवैज्ञानिकों ने उसका नाम असंकल्प रक्खा है। यह हमारे नित्य-नैमित्तिक विचारों से दूर होते हुए भी, हमारा ही एक विशेष अंग है। यह अपने काम में इतना जागरुक और सचेत

रहता है कि हमारा चैतन्य कभी-कभी सुप्तावस्था में पड़ जाता है, किन्तु यह सोता एक क्षण के लिये भी नहीं ! शरीर-सुख के लिये किये गये विषय-भोग से हमारे असंकल्प और अविनश्वर अंश की जो प्रायः अपूर्व क्षति होती है, उसका अनुमान कौन लगा सकता है ? प्रजनन का फल मृत्यु है। विषय-संभोग पुरुष के लिये प्राण लेनेवाला है, और प्रसूति के कारण स्त्री के लिये भी ठीक वैसा ही है।

इसलिये लेखक का कहना है कि "बहुत संयमी या सम्पूर्ण ब्रह्मचारियों के लिये तो पुरुषत्व, संजीदगी और नीरोगता साधारण बातें हैं। "प्रजनन अथवा साधारण आमोद के लिये ही शरीर-कोषों को जनन-पथ से हटाने से, शरीर की कमी की पूर्त्ति होने में बाधा पहुँचती है और धीरे-धीरे परन्तु अन्त में अवश्यमेव शरीर को हानि पहुँचती है। इन्हीं कुछ शारीरिक बातों के आधार पर मनुष्य की व्यक्तिगत सम्भोग-नीति निर्भर है, जिससे यदि हमें उसके दमन की नहीं, तो संयम की शिक्षा तो अवश्य मिलती है—या किसी प्रकार कुछ न कुछ संयम के मूल कारण का पता तो अवश्य ही चलता है।"

यह सरलता से समझा जा सकता है कि लेखक, दवा या यंत्रों की सहायता से गर्भ-निरोध करने का विरोधी है। उसका कहना है—"इससे आत्म-संयम का कारण नहीं रह जाता और विवाहित स्त्री-पुरुषों के लिये जबतक बुढ़ापे की निर्बलता या इच्छा की कमी न आ जाय, तबतक वीर्यनाश करते जाना संभव हो जाता है। इसके अतिरिक्त विवाहित जीवन के बाहर भी इसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। इससे उच्छृङ्खल और अनुत्पादक व्यभिचार खुल जाता है। यह बात आधुनिक समाजशास्त्र और राज-

नीति की दृष्टि से भयानकता से भरी हुई है, किन्तु यहाँ इस मार्ग पर पूरा विचार करने की आवश्यकता नहीं है। इतना कहना ही यथेष्ट होगा कि गर्भनिरोधक साधनों से विवाह-बंधन के भीतर अथवा उसके बाहर अनुचित एवं अत्यधिक सम्भोग के लिये सुविधा हो जाती और शरीर-शास्त्र-सम्बन्धी मेरी उपर्युक्त युक्ति यदि सही है, तो इससे व्यष्टि और समष्टि दोनों की हानि निश्चित है।"

'ब्यूरो' जिस वाक्य से अपनी पुस्तक समाप्त करते हैं, उसे प्रत्येक हिन्दुस्थानी नवयुवक को अपने हृदय-पटल पर अङ्कित कर लेना चाहिए भविष्य संयमशील व्यक्तियों के ही हाथ है।

नवाँ अध्याय

सन्तति-निग्रह

बहुत झिझक और अनिच्छा से मैं इस विषय की चर्चा करने बैठा हूँ। हिन्दुस्थान में मेरे आने के समय से ही पत्र-लेखक मेरे सामने इन नकली उपायों से सन्तति-निग्रह का प्रश्न उठाते रहे हैं। मैंने उन्हें व्यक्तिगत उत्तर दिये हैं, किन्तु अभी तक इस प्रश्न की प्रकट चर्चा नहीं की है। अब से ३५ वर्ष पहले इस ओर मेरा ध्यान गया था। उस समय मैं इङ्गलैण्ड में पढ़ता था। उस समय वहाँ एक पवित्रतावादी के, जो सन्तान-निग्रह के लिये संयम को छोड़ और कोई यत्न मानता ही नहीं था, और कृत्रिम उपायों के समर्थक एक डाक्टर के बीच बड़ा वादा-विवाद चल रहा था। उसी कच्ची आयु में कृत्रिम उपायों की ओर कुछ दिन झुकने के बाद मैं उनका कट्टर विरोधी हो गया। अब मैं देखता हूँ कि कुछ

हिन्दी समाचार-पत्रों में ये उपाय ऐसे घृणित ढंग से एवं खुले रीति पर छापे जा रहे हैं कि उनसे मनुष्य की सभ्यता की भावना को भारी धक्का लगता है। मैंने यह भी देखा कि एक लेखक, कृत्रिम उपायों के समर्थकों में मेरा नाम बेरोक-टोक लेता है। मुझे ऐसा एक भी अवसर याद नहीं है, जब मैंने इन उपायों के पक्ष में कुछ भी लिखा या कहा हो। मैंने दो अन्य बड़े आदमियों के नामों का भी इसके पक्ष में व्यवहार किया जाता देखा है। किन्तु उन लोगों से पूछे बिना उनका नाम छापने में संकोच होता है।

सन्तति-निग्रह की आवश्यकता के विषय में दो मत हो ही नहीं सकते। युगों से उसका केवल एक ही ढंग रहा है, और वह है आत्म-संयम या ब्रह्मचर्य। यह अचूक रामबाण औषधि है, जिसकी साधना करनेवालों को लाभ ही लाभ होता है। यदि डाक्टर लोग सन्तति-निग्रह के अप्राकृतिक उपाय निकालने के बदले आत्म-संयम के उपाय ढूँढ़े, तो संसार उनका ऋणी रहेगा। संभोग का उद्देश्य सुख नहीं, वरन् सन्तानोत्पादन है। जब सन्तानोत्पत्ति की इच्छा न हो, तब संभोग करना अपराध है, पाप है।

कृत्रिम साधनों का समर्थन करना मानों पाप का उत्साह बढ़ाना है। वे स्त्री-पुरुष को निश्चिन्त बना देते हैं। इन उपायों को जो प्रतिष्ठा दी जाती है, उसके कारण हमारे ऊपर से लोकमत का नियन्त्रण बहुत शीघ्र ही जाता रहेगा। कृत्रिम उपायों के व्यवहार से बुद्धिहीनता और मानसिक निर्बलता ही बढ़ेगी। रोग से बुरा उपचार ही होगा। अपने कर्मों के फल से बचने का प्रयत्न करना पाप और अनुचित है। जो मनुष्य अधिक भोजन करता है उसके लिये पेट का दर्द होना और उपवास करना अच्छा है। मनमाना

भोजन करके और तब पुष्टई या और औषधियाँ खाकर उसके फल से बचना अच्छा नहीं है। अपने पाशविक विकारों को तृप्त करने के पश्चात् उसके परिणामों से बचना तो और भी अधिक बुरा है। प्रकृति को दया-माया नहीं, वह अपने नियमों को तनिक भी तोड़ने से पूरा प्रतिकार अवश्य लेगी। नैतिक फल तो नैतिक संयम से ही मिल सकते हैं। दूसरे सभी संयमों से उनका उद्देश्य ही चौपट हो जाता है। कृत्रिम उपायों के समर्थक मूल ही से यह मानते हैं कि जीवन के लिये भोग आवश्यक है। इससे अधिक भ्रामक विचार और कुछ हो ही नहीं सकता। जो लोग बालबच्चों की संख्या का नियन्त्रण करना चाहते हैं, वे पुराने ऋषियों के निकाले उचित उपायों को ही ढूँढ़ें और उनके प्रचार की व्यवस्था सोचें। उनके आगे काम का बहुत विशाल क्षेत्र पड़ा है। बाल-विवाहों से जन-संख्या में सहज ही बढ़ती हो रही है। वर्तमान जीवन-क्रम भी बेरोक सन्तानोत्पादन का मुख्य कारण है। यदि ये कारण ढूँढ़ निकाले जायँ और इनको दूर किया जाय तो समाज की नैतिक उन्नति होगी। यदि अधीर पक्षपाती उनकी ओर से आँखें मूँद ले और कृत्रिम उपायों का ही बाजार गर्म रहे, तो सिवाय नैतिक अधःपतन के परिणाम और कुछ हो ही नहीं सकता।

जो समाज अनेक कारणों से स्वयं ही इतना उत्तेजित हो रहा है, कृत्रिम उपायों से वह और भी अधिक उत्तेजित हो जायगा। इसलिये उन लोगों के लिये जो बिना विचारे कृत्रिम उपायों का समर्थन कर रहे हैं, इस विषय का फिर से अध्ययन करने, अपने हानिकारक प्रचार को रोक रखने और विवाहित, अविवाहित सबके

लिये ब्रह्मचर्य की शिक्षा देने से उत्तम काम और कुछ हो ही नहीं सकता। सन्तति-निग्रह का एकमात्र वही उच्च और सरल मार्ग है।

दसवाँ अध्याय

संयम या स्वच्छन्दता

'सन्तति-निरोध' सम्बन्धी मेरे लेख के कारण, जैसी कि आशा की जाती थी, कुछ लोगों ने कृत्रिम साधनों के पक्ष में मुझे बड़ी जोरदार चिट्ठियाँ लिखी हैं। उनमें से केवल तीन पत्र उदाहरण स्वरूप मैंने चुन लिये हैं। एक और पत्र भी है, किन्तु वह अधिकतर धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखता है, इस कारण उसे छोड़ देता हूँ। पहला पत्र यह है—

"मैं मानता हूँ कि ब्रह्मचर्य ही सन्तति-निरोध की रामबाण औषधि है, और इसके साधक को इससे लाभ भी होता है। किन्तु यह संयम का विषय है, संतति-निरोध का नहीं। इस पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—एक व्यक्ति की और दूसरी समाज की। काम-विकार को मारना व्यक्ति का कर्तव्य है किन्तु इसमें वह संतति-निरोध का विचार नहीं करता। संन्यासी मोक्ष प्राप्त करने की चेष्टा करता है, न कि सन्तति-निरोध की; किन्तु सन्तति-निरोध तो गृहस्थों की बात है! प्रश्न यह है कि एक मनुष्य कितने बच्चों का पालन कर सकता है! आप मनुष्य-स्वभाव को तो जानते ही हैं। प्रजोत्पत्ति की आवश्यकता पूरी हो जाने के पश्चात् सम्भोग-सुख को छोड़ने के लिये कितने व्यक्ति तैयार होंगे! स्मृतिकारों की तरह आप भी मर्यादा में रहकर संभोगेच्छा पूरी करने की आज्ञा तो देंगे ही। किन्तु इससे सन्तति-

निरोध या जन्म-मर्यादा की समस्या हल न होगी, क्योंकि योग्य प्रजा, अयोग्य प्रजा की अपेक्षा अधिक वेग से बढ़ती है।

"सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से कितने मनुष्य सम्भोग करते हैं ? आप कहते हैं कि सन्तानोत्पत्ति की इच्छा के बिना सम्भोग करना पाप है। यह तो आप जैसे संन्यासियों के लिये ही उपयुक्त है। आप यह कहते हैं कि कृत्रिम साधनों का प्रयोग बुराई को बढ़ाता है। उससे स्त्री-पुरुष उच्छृङ्खल हो जाते हैं। यदि यह सच हो, तो आप बड़ा भारी कलंक लगाते हैं। क्या कभी लोकमत के द्वारा भी लोगों के विषय-भोग मर्यादित किये जा सके हैं ? लोग कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा से सन्तान होती है। जिसने दाँत दिये हैं, वह दूध भी देगा ही। दूसरे अधिक सन्तति का होना पुरुषत्व का चिन्ह समझा जाता है। क्या निश्चय ही कृत्रिम साधनों के प्रयोग से शरीर और मन दुर्बल हो जाते हैं ! किन्तु आप तो किसी प्रकार भी उसका उपयोग करने देना नहीं चाहते। क्योंकि अपने किये हुए कर्म के फल से मुँह छिपाना और अनीति है। इसमें आप यह मान लेते हैं कि ऐसी भूख को थोड़ा भी बुझाना अनीति है। यदि संयम का कारण डर हो तो उससे नैतिक परिणाम अच्छा न होगा। माता-पिता के पाप का भागी भला सन्तान किस नियम से होगी ! बनावटी दाँत, आँख इत्यादि के व्यवहार को कोई प्रकृति के विरुद्ध नहीं समझता। वही प्रकृति के विरुद्ध है, जिससे हमारी भलाई नहीं होती। मैं यह नहीं मानता कि स्वभाव से ही मनुष्य बुरा होता है। और इसके प्रचार से वह और भी बुरा बन जायगा। आज भी पाप कुछ कम नहीं हो रहा है। हिन्दुस्थान भी उससे अछूता नहीं है। बुद्धिमानों को इससे है

कि हम इस नई शक्ति को वश में लावें, न कि इससे भाग चलें। कुछ अच्छे-से-अच्छे कार्यकर्त्ता इनका प्रचार करना चाहते हैं, किन्तु उच्छृङ्खलता के प्रचार के लिये नहीं, वरन् लोगों को आत्मसंयम के अभ्यास में सहायता पहुँचाने के लिये। हमें स्त्रियों को भूल नहीं जाना चाहिए। उनकी आवश्यकताओं पर हमने बहुत दिनों तक ध्यान नहीं दिया है। वे प्रजोत्पत्ति के लिये खेत या क्षेत्र के समान अपने शरीर का व्यवसाय करने की आज्ञा पुरुष को नहीं देतीं। कुछ रोग भी ऐसे हैं, जिन्हें मज्जातंतुओं की निर्बलता की जोखिम उठा कर भी दूर करना चाहिए।"

मैं यह बात पहले ही स्पष्ट किये देता हूँ कि वह लेख मैंने न तो संन्यासियों के लिये और न संन्यासी की हैसियत से ही लिखा था। प्रचलित अर्थ के अनुसार मैं संन्यासी होने का दावा भी नहीं करता। मैंने जो कुछ लिखा है, आज तक के अपने निजी अखण्डित अभ्यास के बल पर लिखा है, जिसमें चौबीस वर्ष के बीच कहीं-कहीं नियम-भंग हुआ है। यही नहीं, मेरे उन मित्रों का अनुभव भी इसमें सम्मिलित है, जिन्होंने इस प्रयोग में इतने वर्षों तक मेरा साथ दिया है और जिनके अनुभवों द्वारा कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रयोग में क्या युवक और क्या वृद्ध, सभी प्रकार के स्त्री-पुरुष सम्मिलित हैं। मेरा दावा है कि यह प्रयोग कुछ अंश तक तो वैज्ञानिक दृष्टि से भी ठीक था। यद्यपि उसका आधार बिलकुल नैतिक था, तो भी उसका आरंभ संतति-निरोध की अभिलाषा से ही हुआ था। इस प्रयोग के लिये स्वयं मेरा ही एक विलक्षण उदाहरण था। इसके पश्चात् विचार करने पर उससे भारी-भारी नैतिक परिणाम निकाले,

पर निकले वे नितान्त स्वाभाविक क्रम से। मैं यह कह सकता हूँ कि यदि विचार और विवेक से काम लिया जाय तो बिना अधिक कठिनता से संयम का पालन सर्वथा संभव है। और यह केवल मेरा ही दावा नहीं वरन् जर्मन और दूसरे प्राकृतिक चिकित्सा-शास्त्रियों का भी है। उनका तो कहना है कि जल तथा मिट्टी के प्रयोग से स्नायु संकुचित होते हैं, और अनुत्तेजक तथा मुख्यतः फलाहार से स्नायुओं का वेग शमन होता है, एवं विषय-विकार को मनुष्य सरलता से वश कर सकता है, पर साथ ही उससे स्नायु पुष्ट और बलवान् भी होते हैं। राजयोगियों का कहना है कि केवल भली-भाँति प्राणायाम करने से भी यही लाभ होता है। पूर्वीय और पश्चिमीय प्राचीन विधियाँ केवल संन्यासियों के लिये ही नहीं हैं। वरन् इसके विपरीत वे मुख्यकर गृहस्थों के लिये हैं। यदि यह कहा जाय कि बहुत अधिक जन-संख्या के कारण ही बनावटी यत्नों के द्वारा संतति-निरोध की आवश्यकता है, तो मुझे इससे पूरी शङ्का है। यह बात अब तक सिद्ध ही नहीं की गई है। मेरी सम्मति में तो यदि खेती के बँटवारे का समुचित प्रबंध कर दिया जाय, खेती सुधारी जाय, और एक सहायक धन्धे की व्यवस्था कर दी जाय तो हमारा यह देश अपनी वर्तमान जन-संख्या से दुगने लोगों को आज भी पाल सकता है। मैंने तो इससे बिलकुल अलग, यहाँ की राजनीतिक अवस्था की दृष्टि से ही सन्तति-निरोध चाहनेवालों का साथ दिया है।

मैं यह बात अवश्य कहता हूँ कि सन्तानोत्पत्ति की अभिलाषा पूरी हो जाने के पश्चात् मनुष्यों को विषय-भोग से दूर होना होगा। आत्म-संयम के उपाय लोकप्रिय और प्रभावशाली बनाये

जा सकते हैं। शिक्षित लोगों ने कभी उनकी परीक्षा ही नहीं की। संयुक्त कुटुम्ब-प्रथा की कृपा से लोगों को अभी उसका भार विदित ही नहीं हुआ है। जिन्होंने मालूम किया है, उन्होंने उसमें के नैतिक प्रश्नों पर विचार ही नहीं किया है। ब्रह्मचर्य पर कुछ इधर-उधर के व्याख्यानों के अतिरिक्त, सन्तानोत्पत्ति को मर्यादित करने के उद्देश्य से आत्म-संयम के प्रचार का कोई व्यवस्थित प्रयत्न नहीं किया गया है। वरन् उलटे यही भ्रम अब भी फैला हुआ है कि बड़ा परिवार होना कुछ शुभ लक्षण है और इसलिये वाञ्छनीय है। धर्मोपदेशक सर्वसाधारण को यह उपदेश नहीं देते कि अवसर प्राप्त होने पर सन्तानोत्पत्ति को रोकना भी वैसा ही धर्म है जैसा कि सन्तान की वृद्धि करना।

मुझे भय है कि कृत्रिम साधनों के पक्षपाती यह बात पक्की मान लेते हैं कि विषय-विकार की तृप्ति जीवन के लिये आवश्यक है, इसी से अपने आप ही इष्ट वस्तु है। अबला जाति के लिये जो चिन्ता दिखलाई गई है, वह तो अत्यन्त करुणा-जनक है। मेरी सम्मति में तो कृत्रिम साधनों के द्वारा सन्तति-निरोध के समर्थन में नारी-जाति को सामने ला रखना, उनका अपमान करना है। एक तो यों ही पुरुषजाति ने अपनी विषय-तृप्ति के लिये उन्हें अत्यन्त नीचे गिरा डाला है और अब कृत्रिम साधनों के पक्षपातियों के उद्देश्य चाहे कितने ही भले क्यों न हों, किन्तु वे उन्हें और नीचे गिराये बिना नहीं रहेंगे। हाँ, मैं जानता हूँ कि आज कुछ ऐसी स्त्रियाँ भी हैं जो स्वयं ही इन साधनों का पक्ष लेती हैं। पर मुझे इस बात में कोई संदेह नहीं है कि स्त्रियों की एक बहुत बड़ी संख्या इन साधनों को अपने गौरव के विरुद्ध समझकर

पर निकले वे नितान्त स्वाभाविक क्रम से। मैं यह कह सकता हूँ कि यदि विचार और विवेक से काम लिया जाय तो बिना अधिक कठिनता से संयम का पालन सर्वथा संभव है। और यह केवल मेरा ही दावा नहीं वरन् जर्मन और दूसरे प्राकृतिक चिकित्सा-शास्त्रियों का भी है। उनका तो कहना है कि जल तथा मिट्टी के प्रयोग से स्नायु संकुचित होते हैं, और अनुत्तेजक तथा मुख्यतः फलाहार से स्नायुओं का वेग शमन होता है, एवं विषय-विकार को मनुष्य सरलता से वश कर सकता है, पर साथ ही उससे स्नायु पुष्ट और बलवान् भी होते हैं। राजयोगियों का कहना है कि केवल भली-भाँति प्राणायाम करने से भी यही लाभ होता है। पूर्वीय और पश्चिमीय प्राचीन विधियाँ केवल संन्यासियों के लिये ही नहीं हैं। वरन् इसके विपरीत वे मुख्यकर गृहस्थों के लिये हैं। यदि यह कहा जाय कि बहुत अधिक जन-संख्या के कारण ही बनावटी यत्नों के द्वारा संतति-निरोध की आवश्यकता है, तो मुझे इससे पूरी शङ्का है। यह बात अब तक सिद्ध ही नहीं की गई है। मेरी सम्मति में तो यदि खेती के बँटवारे का समुचित प्रबंध कर दिया जाय, खेती सुधारी जाय, और एक सहायक धन्धे की व्यवस्था कर दी जाय तो हमारा यह देश अपनी वर्तमान जन-संख्या से दुगने लोगों को आज भी पाल सकता है। मैंने तो इससे बिलकुल अलग, यहाँ की राजनीतिक अवस्था की दृष्टि से ही सन्तति-निरोध चाहनेवालों का साथ दिया है।

मैं यह बात अवश्य कहता हूँ कि सन्तानोत्पत्ति की अभिलाषा पूरी हो जाने के पश्चात् मनुष्यों को विषय-भोग से दूर होना होगा। आत्म-संयम के उपाय लोकप्रिय और प्रभावशाली बनाये

जा सकते हैं। शिक्षित लोगों ने कभी उनकी परीक्षा ही नहीं की। संयुक्त कुटुम्ब-प्रथा की कृपा से लोगों को अभी उसका भार विदित ही नहीं हुआ है। जिन्होंने मालूम किया है, उन्होंने उसमें के नैतिक प्रश्नों पर विचार ही नहीं किया है। ब्रह्मचर्य पर कुछ इधर-उधर के व्याख्यानों के अतिरिक्त, सन्तानोत्पत्ति को मर्यादित करने के उद्देश्य से आत्म-संयम के प्रचार का कोई व्यवस्थित प्रयत्न नहीं किया गया है। वरन् उलटे यही भ्रम अब भी फैला हुआ है कि बड़ा परिवार होना कुछ शुभ लक्षण है और इसलिये वाञ्छनीय है। धर्मोपदेशक सर्वसाधारण को यह उपदेश नहीं देते कि अवसर प्राप्त होने पर सन्तानोत्पत्ति को रोकना भी वैसा ही धर्म है जैसा कि सन्तान की वृद्धि करना।

मुझे भय है कि कृत्रिम साधनों के पक्षपाती यह बात पक्की मान लेते हैं कि विषय-विकार की तृप्ति जीवन के लिये आवश्यक है, इसी से अपने आप ही इष्ट वस्तु है। अबला जाति के लिये जो चिन्ता दिखलाई गई है, वह तो अत्यन्त करुणा-जनक है। मेरी सम्मति में तो कृत्रिम साधनों के द्वारा सन्तति-निरोध के समर्थन में नारी-जाति को सामने ला रखना, उनका अपमान करना है। एक तो यों ही पुरुषजाति ने अपनी विषय-तृप्ति के लिये उन्हें अत्यन्त नीचे गिरा डाला है और अब कृत्रिम साधनों के पक्षपातियों के उद्देश्य चाहे कितने ही भले क्यों न हों, किन्तु वे उन्हें और नीचे गिराये बिना नहीं रहेंगे। हाँ, मैं जानता हूँ कि आज कुछ ऐसी स्त्रियाँ भी हैं जो स्वयं ही इन साधनों का पक्ष लेती हैं। पर मुझे इस बात में कोई संदेह नहीं है कि स्त्रियों की एक बहुत बड़ी संख्या इन साधनों को अपने गौरव के विरुद्ध समझकर

उनका निरादर करेगी। यदि पुरुष सचमुच स्त्री-जाति का हित चाहते हैं, तो उन्हें चाहिए कि वे स्वयं ही अपने मन को वश में रक्खें। स्त्रियाँ पुरुषों को नहीं लुभातीं। सच पूछिए तो पुरुष स्वयं ही ज्यादती करता है अतः वही सच्चा अपराधी और ललचानेवाला है।

मैं कृत्रिम साधनों के समर्थकों से आग्रह करता हूँ कि वे इसके परिणामों पर ध्यान दें। इन साधनों के अतिशय उपयोग का फल, विवाह-बंधन का नाश और मनमाने प्रेम सम्बन्ध की बढ़ती होगी। कोई कहता है, मनुष्य के लिये विषय-विकार की तृप्ति आवश्यक ही हो जाय, तब क्या किया जाय? इसका उत्तर सरल है। मान लीजिए कि वह बहुत दिनों तक अपने घर से दूर है या बहुत समय तक लड़ाई में लगा है, या वह विधुर है, या उसकी पत्नी ऐसी रोगिणी है कि कृत्रिम साधनों का उपयोग करते हुए भी उसकी विषय-तृप्ति के अयोग्य है। ऐसी अवस्था में वह क्या करेगा? वही उस समय भी करना चाहिए।

किन्तु दूसरे लेखक का कहना है:—"सन्तति-निरोध सम्बन्धी अपने लेख में आप यह कहते हैं कि कृत्रिम साधन बिलकुल ही हानिकारक हैं। परन्तु आप उसी बात को स्वयं ही सिद्ध मान लेते हैं, जिसे कि सिद्ध करना है! संतति-निरोध-सम्मेलन (लंदन, १९२२) में ३ मतों के विरुद्ध १६४ मतों से यह स्वीकार कर लिया गया था कि गर्भ को न ठहरने देने के उपाय स्वास्थ्यकर हैं; नीति, न्याय और शरीर-विज्ञान की दृष्टि से गर्भपात इससे बिलकुल ही भिन्न है और यह बात किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो पाई है कि ऐसे सर्वोत्तम उपाय स्वास्थ्य के लिये हानिकारक या वंध्यात्व के उत्पादक हैं। मेरी समझ में ऐसी संस्था की

सम्मति कलम के एक ही झटके से रद्द नहीं की जा सकती। आप लिखते हैं कि वाह्य साधनों का उपयोग करने से तो शरीर और मन निर्बल हो जाने चाहिएँ। क्यों हो जाने चाहिएँ? मैं कहता हूँ कि उचित उपायों के प्रयोग से निर्बलता नहीं आती। हाँ, हानिकारक उपायों से अवश्य आती है और इसीलिये पक्की आयु के लोगों को इसके योग्य उचित उपाय सिखाना आवश्यक है। संयम के लिये आपके उपाय भी तो कृत्रिम साधन ही होंगे। आप कहते हैं, संभोग करना आनन्द के लिये नहीं बनाया गया है! किसने नहीं बनाया है? ईश्वर ने? तो फिर उसने संभोग की इच्छा ही किसलिये पैदा की? प्राकृतिक नियमों में कार्यों का फल अनिवार्य है। किन्तु आपकी यह युक्ति जब तक आप यह सिद्ध न करें कि कृत्रिम साधन हानिकारक हैं, कौड़ी काम की नहीं है। कार्यों के अच्छे बुरे होने की पहचान उनके परिणाम से होती है। ब्रह्मचर्य के लाभ बहुत बढ़ाकर कहे गये हैं। बहुत-से डाक्टर बाईस वर्ष की या ऐसी ही कुछ आयु के पश्चात् संभोग के द्वारा वीर्य-पात न करने को हानिकारक मानते हैं। यह आपके धार्मिक आग्रह का परिणाम है कि आप प्रजोत्पत्ति के हेतु के बिना संभोग को पाप मानते हैं। इससे सब पर आप पाप का आरोपण करते हैं। शरीर-विज्ञान यह नहीं कहता। ऐसे आग्रहों के सामने विज्ञान को कम महत्त्व देने के दिन अब बहुत दूर चले गये हैं।"

लेखक शायद अपना समाधान नहीं चाहते। मैंने तो यह दिखलाने के लिये पर्याप्त उदाहरण दे दिये हैं कि यदि हम विवाह-बंधन की पवित्रता को स्थिर रखना चाहते हैं, तो भोग नहीं, वरन् आत्म-

प्रश्न संसार के सभी राज्यों को चिन्तित कर रहा है। निःसन्देह, आप यह तो जानते ही होंगे कि अमेरिका इसके प्रचार के विरुद्ध है। आपने यह भी सुना होगा कि जापान ने इसके प्रचार के विषय में आम आज्ञा दे दी है। इसका कारण सबको विदित है। उन्हें प्रजोत्पत्ति रोकनी थी। इसके लिये मनुष्य-स्वभाव का भी उन्हें विचार करना था। आपका नुस्खा आदर्श हो सकता है, किन्तु क्या वह व्यावहारिक भी है? थोड़े मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं, परन्तु क्या जनता में इसके सम्बन्ध में की गई किसी हलचल से कुछ मतलब हल हो सकता है? भारतवर्ष में तो इसके लिये सामुदायिक हलचल की आवश्यकता है।"

मुझे अमेरिका और जापान की इन बातों का पता नहीं था। मालूम नहीं, जापान क्यों कृत्रिम साधनों का पक्ष ले रहा है। यदि लेखक की बात सही है और सचमुच जापान में कृत्रिम साधन आम चीज हो रहे हैं, तो मैं साहस के साथ कहता हूँ कि यह सुन्दर राष्ट्र नैतिक सत्यानाश की ओर दौड़ा जा रहा है।

हो सकता है कि मेरा ख्याल एकदम सही न हो। सम्भव है कि मेरे निर्णय गलत सामग्री के आधार पर निकले हों। परन्तु कृत्रिम साधनों के पक्षपातियों को धीरज रखने की आवश्यकता है। आधुनिक उदाहरणों के अतिरिक्त उनके पक्ष में कोई सामग्री नहीं है। निश्चय ही एक ऐसे साधन के विषय में, जो कि यों देखने में ही मनुष्य-जाति के नैतिक भावों को घृणास्पद मालूम पड़ता है, किसी अंश तक निश्चय के साथ कुछ भविष्य कथन करना बड़ी उतावली का काम होगा। युवापन के साथ

खिलवाड़ करना तो बहुत सरल है; परन्तु ऐसे दुष्परिणामों को मिटाना टेढ़ी खीर होगा।

ग्यारहवाँ अध्याय

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य तथा उसके पालन के साधनों के विषय में मेरे पास पत्रों की बाढ़-सी आ रही है। दूसरे अवसरों पर मैं जो कुछ कह या लिख चुका हूँ उसे ही यहाँ दूसरे शब्दों में कहने की चेष्टा करूँगा। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल शारीरिक संयम ही नहीं है, वरन् उसका अर्थ है, सभी इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार, तथा मन, वचन और शरीर से भी कामभाव से मुक्ति। इस स्वरूप में आत्म-ज्ञान या ब्रह्म-प्राप्ति का यही सुगम और सच्चा रास्ता है।

आदर्श ब्रह्मचारी को कामेच्छा या सन्तान की इच्छा से कभी जूझना नहीं पड़ता; यह कभी उसे होती ही नहीं। उसके लिये समस्त संसार विशाल परिवार होगा, मनुष्य जाति के कष्ट दूर करने में ही वह अपने को कृतार्थ मानेगा, और सन्तानोत्पत्ति की इच्छा उसके लिये अत्यन्त साधारण बात मालूम होगी। जो मनुष्य-जाति के दुःख से पूरा-पूरा परिचित है, उसे कभी कामेच्छा होगी ही नहीं। उसे अपने भीतर के शक्ति-कोष का पता अपने आपही लग जायगा और वह उसे शुद्ध रखने की बराबर चेष्टा करता रहेगा। उसकी नम्र शक्ति पर संसार श्रद्धा रक्खेगा, और पद-प्राप्त राजाओं से भी उसका प्रभाव बढ़ा-चढ़ा होगा।

परन्तु लोग मुझसे कहते हैं कि 'यह असम्भव आदर्श है, आप तो नर और नारी के बीच के स्वाभाविक आकर्षण का

नहीं। ब्रह्मचारी नित्य ही एकाग्र चित्त से 'राम' नाम का जप किया करे और ईश्वर की सहायता माँगे। साधारण पुरुष या स्त्री के लिये इनमें कोई बात कठिन नहीं है। किन्तु इनकी सादगी से ही लोग घबड़ाते हैं। जहाँ चाह है, वहाँ राह भी सरलता से मिल जायगी। लोगों को इसकी चाह नहीं होती और इसलिये वे व्यर्थ ठोकरें खाते हैं। इस बात से कि संसार का आधार कुछ-न-कुछ इसीपर है कि लोग ब्रह्मचर्य या संयम का पालन करते हैं, यही सिद्ध होता है कि यह आवश्यक और सम्भव है।

बारहवाँ अध्याय

सत्य बनाम ब्रह्मचर्य

एक मित्र ने महादेव देसाई को लिखा है:—

"आपको याद होगा कि "नवजीवन" में गान्धीजी ने ब्रह्मचर्य पर एक लेख में, जिसका कि आपने 'यंग इंडिया' के लिये अनुवाद किया था, स्वीकार किया था कि उन्हें अब भी कभी-कभी स्वप्नदोष हो जाया करते हैं। उसे पढ़ने के साथ ही मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि ऐसे लेखों से कोई लाभ नहीं हो सकता। पीछे से मुझे मालूम हुआ कि मेरा यह भय निर्मूल नहीं था।

"विलायत के प्रवास में प्रलोभनों के रहते हुए भी मैंने और मेरे मित्रों ने अपना चरित्र निष्कलंक रक्खा। स्त्री, मदिरा और मांस से हम बिलकुल बचे रहे। किन्तु गान्धीजी का लेख पढ़कर एक मित्र ने कहा—"गान्धीजी के भीष्म प्रयत्नों के बाद भी यदि उनकी यह दशा है तो हम किस खेत की मूली हैं! ब्रह्मचर्य-पालन का प्रयत्न व्यर्थ है। गान्धीजी की स्वीकारोक्ति

ने मेरी दृष्टि एकदम वदल दी है। आज से तुम मुझे गया बीता समझ लो।" कुछ हिचकिचाहट के साथ मैंने उससे विवाद करने की चेष्टा की। जो युक्तियाँ आप या गान्धीजी उपस्थित करते, वैसी ही मैंने कहीं, यदि यह मार्ग गान्धीजी जैसों के लिये भी इतना कठिन है, तो हमारे तुम्हारे लिये अवश्य ही और भी अधिक कठिन होना चाहिए। इसलिए हमें दुगुनी चेष्टा करनी चाहिए। किन्तु व्यर्थ ही। आजतक जिस भाई का चरित्र निष्कलङ्क रहा था, उसमें यों धब्बे लग गये। यदि इस पतन के लिये कोई गान्धीजी को उत्तरदायी कहे, तो वे या आप क्या कहेंगे ?

"जब तक मेरे पास केवल एक ही उदाहरण था, मैंने आपको नहीं लिखा। शायद आप मुझे यह कहकर टाल देते कि यह अपवाद है! किन्तु इसके और कई उदाहरण मिले और मेरी आशंका और भी सच सावित हुई।

"मैं जानता हूँ कि कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं, जो गान्धीजी के लिये करनी वहुत ही सरल हों, किन्तु मेरे लिये असम्भव हों। परन्तु ईश्वर की कृपा से मैं यह भी कह सकता हूँ कि कुछ वस्तुएँ जो मेरे लिये सम्भव हों, उनके लिये असम्भव भी हो सकती हैं। इसी ज्ञान या अहंभाव ने मुझे अब तक गिरने से वचाया है, यद्यपि ऊपर लिखी गान्धीजी की स्वीकारोक्ति ने मेरे मन से निर्भयता का भाव विलकुल डिगा दिया है।

"क्या आप गान्धीजी का ध्यान इस ओर दिलावेंगे और मुख्यकर तव जब कि वे अपनी आत्मकथा लिख रहे हैं। सत्य और नंगे सत्य को कह देना निःसन्देह वीरता का काम है,

किन्तु इससे 'नवजीवन' और 'यंगइण्डिया' के पाठकों में भ्रामकता फैलने का भय है। मुझे भय है कि एक के लिये जो अमृत हो, वही दूसरे के लिये कहीं विष न हो जाय।"

इस कथन से मुझे कुछ आश्चर्य नहीं हुआ। जब कि असहयोग अपने उन्नति पर था, उस समय मैंने अपनी एक भूल स्वीकार की थी। इसपर एक मित्र ने निर्दोष-भाव से लिखा था:-"यदि यह भूल भी थी, तो आपको उसे न मान लेना था। लोगों में यह विश्वास बढ़ाना चाहिए कि कम-से-कम एक आदमी तो ऐसा है, जो चूकता नहीं आपको लोग ऐसा ही समझते थे। आपकी स्वीकारोक्ति से उनका दिल बैठ जायगा।" इसपर मुझे हँसी आई और मैं उदास भी हो गया। पत्र-लेखक की सादगी पर मुझे हँसी आई। किन्तु यह विचार ही मेरे लिये असह्य था कि लोगों को विश्वास दिलाया जाय कि एक पतनशील, चूकने वाला मनुष्य, अपतनशील या अचूक है।

किसी भी आदमी के सच्चे स्वरूप के ज्ञान से लोगों को लाभ सदैव हो सकता है, हानि कभी नहीं। मैं दृढ़ता-पूर्वक विश्वास करता हूँ कि मेरे तुरत ही अपनी भूलें स्वीकार कर लेने से उनका लाभ ही हुआ है। अस्तु, किसी दशा में मेरे लिये तो सर्वोत्तम ही सिद्ध हुआ है।

बुरे स्वप्न होना स्वीकार करना भी मैं वैसी ही बात मानता हूँ। यदि सम्पूर्ण ब्रह्मचारी हुए बिना मैं इसका दावा करूँ, तो इससे संसार की मैं बहुत बड़ी हानि करूँगा। क्योंकि ब्रह्मचर्य में दाग लगेगा और सत्य का प्रकाश धुँधला पड़ेगा। झूठे बहानों के द्वारा ब्रह्मचर्य का मूल्य कम करने का साहस मैं क्योंकर कर

सकता हूँ ? आज मैं देखता हूँ कि ब्रह्मचर्य-पालन के जो उपाय मैं बतलाता हूँ वे पूरे नहीं पड़ते, सभी जगह उनका एक-सा प्रभाव नहीं होता, क्योंकि मैं पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं हूँ। जब कि ब्रह्मचर्य का सच्चा मार्ग मैं दिखा न सकूँ, संसार के लिये यह विश्वास करना कि मैं पूर्ण ब्रह्मचारी हूँ, बड़ी भयंकर बात होगी।

केवल इतना ही जानना संसार के लिये यथेष्ट क्यों न हो कि मैं सच्चा खोजी हूँ, पूरा जाग्रत हूँ, सतत प्रयत्नशील हूँ और विघ्न-बाधाओं से डरता नहीं ? औरों को उत्साहित करने के लिये इतना ही ज्ञान पर्याप्त क्यों न होवे ? झूठे प्रमाणों द्वारा परिणाम निकालना भूल है। जो बातें प्राप्त की जा चुकी हैं, उन्हीं पर से परिणाम निकालना सबसे अधिक ठीक है। ऐसी युक्ति ही क्यों की जाय कि मेरे समान आदमी जब बुरे विचारों से न बच सका तो दूसरों के लिये कोई आशा ही नहीं है ? क्यों न सोचा जाय कि वह गांधी, जो किसी समय में काम के अभिभूत था, आज यदि अपनी पत्नी के साथ भाई या मित्र के समान रह सकता है, और संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियों को भी बहन या बेटी के रूप में देख सकता है तो नीच-से-नीच और पतित मनुष्य के लिये भी आशा है ! यदि ईश्वर ने इतने विकारों से भरे हुए मनुष्य पर अपनी दया दिखलाई, तो निश्चय ही वह दूसरों पर भी दया दिखावेगा ही।

पत्र-लेखक के जो मित्र मेरी न्यूनताओं को जान करके पीछे हट पड़े, वे कभी आगे बढ़े ही नहीं थे। यह तो झूठी साधुता कही जायगी, जो पहले ही धक्के में चूर हो गई। सत्य, ब्रह्मचर्य और दूसरे ऐसे सनातन सत्य मेरे समान अपूर्ण मनुष्यों

पर निर्भर नहीं रहते। उनका आधार अविचल रहता है, उन बहुतों की तपश्चर्या पर, जिन्होंने उनके लिये प्रयत्न किया और उनका संपूर्ण पालन किया। उन संपूर्ण जीवों के साथ बराबरी में खड़े होने की योग्यता जिस घड़ी मुझमें आ जायगी, तब आज की अपेक्षा, मेरी भाषा में कहीं अधिक निश्चय और शक्ति होगी। वास्तव में स्वस्थ पुरुष उसीको कहेंगे जिसके विचार इधर-उधर दौड़े नहीं फिरते, जिसके मन में बुरे विचार नहीं उठते, जिसकी नींद में स्वप्नों से व्याघात न पड़ता हो और जो सोते हुए भी सम्पूर्ण जाग्रत हों। उसे कुनैन लेने की आवश्यकता नहीं। उसके न बिगड़नेवाले रुधिर में ही सभी विकारों को दबा लेने की आन्तरिक शक्ति होगी। शरीर, मन और आत्मा की उसी स्वस्थ अवस्था को मैं पाने की चेष्टा कर रहा हूँ। इसमें हार या असफलता नहीं हो सकती। पत्र-लेखक, उनके संशयालु मित्रों और दूसरों को मैं अपने साथ चलने को निमन्त्रण देता हूँ और चाहता हूँ कि पत्र-लेखक के ही समान वे मुझसे अधिक वेग से आगे बढ़ चलें। जो मेरे पीछे पड़े हैं, मेरे उदाहरण से उन्हें भरोसा पैदा हो। जो कुछ मैंने पाया है, वह सब मुझमें लाख निर्बलता के होते हुए भी, कामुकता के होते हुए भी, मैंने पाया है—और उसका कारण है, मेरा सतत प्रयत्न और ईश्वर-कृपा में अनन्त विश्वास।

इसलिये किसी को निराश होने की आवश्यकता नहीं। मेरा महात्मापन कौड़ी काम का नहीं है। यह तो मेरे बाहरी कामों, मेरे राजनीतिक कामों के कारण है, और ये काम मेरे सबसे छोटे काम हैं, और इसलिये यह दो दिनों में उड़ जायगा। वास्तव में मूल्यवान् वस्तु तो मेरा सत्य, अहिंसा, और ब्रह्मचर्य-पालन का

ही है यही मेरा सच्चा अंग है। मेरा यह स्थायी अंश चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, किन्तु घृणा की दृष्टि से देखने योग्य नहीं है। यही मेरा सर्वस्व है। मैं तो असफलताओं और भूलों के ज्ञान को भी प्यार करता हूँ, जो उन्नति-पथ की ही सीढ़ियाँ हैं।

तेरहवाँ अध्याय

वीर्य-रक्षा

कितनी ही नाजुक समस्याओं पर केवल खानगी में ही बातचीत करने की इच्छा रहते हुए भी, उन पर प्रकट-रूप में विचार करने के लिये, पाठकगण मुझे क्षमा करें। जिस साहित्य का मुझे विवश होकर अध्ययन करना पड़ा है, तथा महाशय ब्यूरो' की पुस्तक की आलोचना पर मेरे पास जो अनेक पत्र आये हैं, उनके कारण समाज के लिये इस परम महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर प्रकट चर्चा करनी आवश्यक हो गई। एक मलाबारी भाई लिखते हैं—

"आप महाशय 'ब्यूरो' की पुस्तक की अपनी समालोचना में लिखते हैं कि ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता कि ब्रह्मचर्य-पालन या दीर्घकाल के संयम से किसी को कुछ हानि पहुँची हो। अस्तु, अपने लिये तो तीन सप्ताह से अधिक दिनों तक संयम रखना हानिकारक ही मालूम होता है। इतने समय के पश्चात् प्रायः मेरे शरीर में भारीपन का तथा चित्त और अंग में बेचैनी का अनुभव होने लगता है, जिससे मन भी चिड़चिड़ा-सा हो जाता है। विश्राम तभी मिलता है जब संभोगद्वारा या प्रकृति की कृपा होने से, यों ही, कुछ वीर्यपात हो लेता है। दूसरे दिन प्रातःकाल शरीर या मन की निर्बलता का अनुभव

करने के बदले में शान्त और हलका हो जाता हूँ और अपने काम में अधिक उत्साह से लगता हूँ।

"मेरे एक मित्र को तो संयम हानिकारक ही सिद्ध हुआ है। उनकी आयु कोई ३२ साल की होगी। वह बड़े ही कट्टर शाकाहारी और धर्मिष्ट पुरुष हैं। उनके शरीर या मन का एक भी दुर्व्यसन नहीं है। किन्तु तो भी, दो साल पहले तक उन्हें स्वप्न-दोष में बहुत वीर्यपात हो जाया करता था, जिसके बाद वह बहुत निर्बल और निरुत्साह हो जाते थे। उसी समय उन्होंने विवाह किया। पेट की पीड़ा की भी कोई बीमारी उन्हें उसी समय हो गई। किसी आयुर्वेदिक वैद्यराज की सलाह से उन्होंने विवाह कर लिया, और अब वह बिलकुल अच्छे हैं।

"ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठता को, जिसपर हमारे सभी शास्त्र एकमत हैं, मैं बुद्धि से तो मानता हूँ, पर जिन अनुभवों का वर्णन मैंने ऊपर किया है, उनसे तो स्पष्ट है कि शुक्रग्रन्थियों से जो वीर्य निकलता है, उसे शरीर में ही पचा लेने की शक्ति हममें नहीं है। इसलिये वह विष बन जाता है। अतएव, मैं आपसे सविनय अनुरोध करता हूँ कि मेरे समान लोगों के लाभ के लिये, जिन्हें ब्रह्मचर्य एवं आत्म-संयम के महत्त्व के विषय में कुछ संदेह नहीं है, 'यं. इं.' में हठयोग वा प्राणायाम के कुछ साधन बताइए, जिनके सहारे हम अपने शरीर में इस प्राणशक्ति को पचा सकें।"

इन भाइयों के अनुभव असाधारण नहीं हैं, वरन् बहुतों के ऐसे ही अनुभवों के नमूने-मात्र हैं। ऐसे उदाहरण मैं जानता हूँ, जब कि अपूर्ण प्रमाणों को ही लेकर साधारण नियम निकालने में उतावली की गई है। उस प्राणशक्ति को शरीर में ही पचा

रखने और फिर पचा लेने की योग्यता बहुत अभ्यास से आती है। ऐसा तो होना भी चाहिए, क्योंकि किसी दूसरी साधना से शरीर और मन को इतनी शक्ति नहीं प्राप्त होती। यह माना जा सकता है कि दवाएँ और यंत्र, शरीर को अच्छी और कामचलाऊ दशा में रख सकते हैं, किन्तु उनसे चित्त इतना निर्बल हो जाता है कि वह मनोविकारों का दमन नहीं कर सकता और ये मनोविकार प्राणघातक शत्रु के समान हर किसी को घेरे रहते हैं।

हम काम तो वैसे करते हैं जिनसे लाभ तो दूर, उलटे हानि ही होनी चाहिए, परन्तु साधारण संयम से ही बहुत लाभ की आशा बार-बार किया करते हैं। हमारा साधारण जीवन-क्रम विकारों को तृप्त करने के लिये ही बनाया जाता है; हमारा भोजन साहित्य, मनोरञ्जन, काम का समय, ये सभी कुछ हमारे पाशविक विकारों को ही उत्तेजित और सन्तुष्ट करने के लिये निश्चित किये जाते हैं। हममें से अधिकांश की इच्छा विवाह करने, लड़के पैदा करने की भले ही थोड़े संयत रूप में हो; किन्तु साधारणतः सुख भोगने की ही होती है। अन्त तक कुछ न कुछ ऐसा होता ही रहेगा।

किन्तु साधारण नियम के अपवाद जैसे सदैव से होते आये हैं, वैसे अब भी होते हैं। ऐसे भी मनुष्य हुए हैं, जिन्होंने मानवजाति की सेवा में, या यों कहिये कि भगवान् की ही सेवा में, जीवन लगा देना चाहा है। वे विश्व-कुटुम्ब की और अपने कुटुम्ब की सेवा में अपना समय अलग-अलग बाँटना नहीं चाहते। अवश्य ही ऐसे मनुष्यों के लिये उस प्रकार रहना संभव नहीं है जिस जीवन से मुख्यकर किसी व्यक्ति विशेष की ही उन्नति

संभव हो। जो भगवान् की सेवा के लिये ब्रह्मचर्य-व्रत लेंगे, उन पुरुषों को जीवन की ढिलाइयों को छोड़ देना पड़ेगा और इस कठोर संयम में ही सुख का अनुभव करना होगा। 'संसार में' भले ही रहें, किन्तु वे 'संसारी' नहीं हो सकते। उनका भोजन, धंधा, काम करने का समय, मनोरंजन, साहित्य, जीवन का उद्देश्य आदि सर्व साधारण से अवश्य ही भिन्न होंगे।

अब इसपर विचार करना चाहिए कि क्यों पत्र-लेखक और उनके मित्र ने सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन को अपना ध्येय बनाया था और क्या अपने जीवन को उसी ढाँचे में ढाला भी था? यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया था, तो फिर यह समझने में कुछ कठिनाई नहीं होगी कि वीर्यपात से एक आदमी को विश्राम मिलता था और दूसरे को निर्बलता क्यों होती थी? उस दूसरे आदमी के लिये तो विवाह ही दवा थी। अधिकांश मनुष्यों के अपनी इच्छा के विरुद्ध भी जब मन में विवाह का ही विचार भरा हो, तो उस स्थिति में उन मनुष्यों के लिये विवाह ही प्रकृत और इष्ट है। जो विचार दबाया न जाकर अमूर्त ही छोड़ दिया जाता है, उसकी शक्ति, वैसे ही विचार की अपेक्षा जिसको हम मूर्त कर लेते हैं; अर्थात् जिसका व्यवहार कर लेते हैं, कहीं अधिक होती है। जब

जो नियमित संयत जीवन बिताना चाहते हैं, ब्योरेवार सम्मति देनी ठीक न होगी। उन्हें तो मैं, कई वर्ष पहले इसी विषय पर लिखे हुए अपने ग्रन्थ "आरोग्य-विषयक सामान्य ज्ञान" को पढ़ने की सम्मति दूँगा। नये अनुभवों के अनुसार, उसे कहीं-कहीं दुहराने की आवश्यकता अवश्य है, किन्तु उसमें एक भी ऐसी बात नहीं है, जिसे मैं लौटाना चाहूँ। हाँ, साधारण नियम यहाँ भले ही दिये जा सकते हैं—

(१) भोजन करने में सदैव संयम से काम लेना। थोड़ी मीठी भूख रहते ही चौके से सदैव उठ जाना।

(२) बहुत गर्म मसालों और घी-तेल से बने हुए शाकाहार से अवश्य बचना चाहिये। जब दूध पूरा मिलता हो, तो स्निग्ध (घी, तेल आदि चिकने) पदार्थ अलग से खाना एकदम अनावश्यक है! जब प्राणशक्ति का थोड़ा ही नाश हो, तो अल्प भोजन भी पर्याप्त होता है।

(३) मन और शरीर को सदैव ही शुद्ध काम में लगाये रखना।

(४) जल्दी सो जाना और सबेरे उठ बैठना परमावश्यक है।

(५) सबसे बड़ी बात तो यह है कि संयत जीवन व्यतीत करने में ही ईश्वर-प्राप्ति की उत्कट जीवन्त अभिलाषा मिली रहती है। जब इस परमतत्त्व का अनुभव प्रत्यक्ष हो जाता है, उस समय ईश्वर के ऊपर यह विश्वास बराबर बढ़ता ही जाता है, कि वह स्वयं ही अपने इस यंत्र को (मनुष्य के शरीर को) विशुद्ध और चालू रक्खेगा। गीता में कहा है—

"विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

रसवर्ज्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥"
यह अक्षरशः सत्य है।

पत्र-लेखक आसन और प्राणायाम की बात करते हैं मेरा विश्वास है कि आत्म-संयम में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु मुझे खेद है कि इस विषय में मेरे अपने किये हुए अनुभव, कुछ ऐसे नहीं, जो लिखने योग्य हों। जहाँ तक मुझे विदित है, इस विषय पर इस समय के अनुभव के आधार पर लिखा हुआ साहित्य है ही नहीं। परन्तु यह विषय अध्ययन करने योग्य है। लेकिन मैं अपने अनभिज्ञ पाठकों को इसके प्रयोग करने या जो कोई हठयोगी मिल जाय, उसीको गुरु बना लेने से सावधान कर देना चाहता हूँ। उन्हें निश्चय जान लेना चाहिए कि संयत और धार्मिक जीवन में ही अभीष्ट संयम के पालन की पर्याप्त शक्ति है।

चौदहवाँ अध्याय

एकान्त वार्ता

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में प्रश्न-कर्त्ताओं के इतने पत्र मेरे पास आते हैं, और इस विषय में मेरे विचार इतने दृढ़ हैं कि मैं, मुख्यतया राष्ट्र की इस सबसे नाजुक घड़ी में अपने विचारों और अनुभवों के परिणामों को पाठकों से छिपा नहीं सकता।

अंग्रेजी शब्द Celibacy का संस्कृत पर्याय ब्रह्मचर्य है, किन्तु ब्रह्मचर्य का अर्थ उससे कहीं अधिक व्यापक है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है, सभी इन्द्रियों और विकारों पर संपूर्ण अधिकार। ब्रह्मचारी के लिये कुछ भी असंभव नहीं। किन्तु यह एक आदर्श स्थिति है, जिसे विरले ही पा सकते हैं; जो केवल कल्पना में ही रहती है,

प्रत्यक्ष खींची नहीं जा सकती। किन्तु तो भी ज्यामिति में यह परिभाषा महत्त्वपूर्ण है और इससे बड़े-बड़े परिणाम निकलते हैं। वैसे ही सम्पूर्ण ब्रह्मचारी भी केवल कल्पना में ही रह सकता है। परन्तु यदि हम उसे मानसिक आँखों के आगे दिन-रात रक्खे न रहें, तो हम बेपेंदी के लोटे बने रहेंगे। काल्पनिक रेखा के जितने ही पास हम पहुँच सकेंगे; उतनी ही सम्पूर्णता भी प्राप्त होगी।

परन्तु, अभी के लिये तो मैं स्त्री-संभोग न करने के संकुचित अर्थ में ही ब्रह्मचर्य को लूँगा। मैं मानता हूँ कि आत्मिक पूर्णता के लिये विचार, शब्द और कार्य सभी में संपूर्ण आत्म-संयम जरूरी है। जिस राष्ट्र में ऐसे मनुष्य नहीं हैं, वह इस कमी के कारण गरीब गिना जायगा। किन्तु मेरा तात्पर्य राष्ट्र की वर्तमान दशा में अस्थायी ब्रह्मचर्य की आवश्यकता सिद्ध करने का है।

रोग, अकाल दरिद्रता और यहाँ तक भूखमरी भी हमारे भाग में कुछ अधिक पड़ी है। दासता की चक्की में हम इस सूक्ष्म रीति से पिसे चले जाते हैं कि यद्यपि हमारी इतनी आर्थिक, मानसिक और नैतिक हानि हो रही है, किन्तु हममें से कितने ही उसे दासता मानने को ही तैयार नहीं; और भूल से मानते हैं कि हम स्वाधीनता-पथ पर आगे बढ़े जा रहे हैं। दिन दूना रात चौगुना बढ़नेवाला सेना पर व्यय, लंकाशायर और दूसरे ब्रिटिश हितों के लिये ही जानबूझकर लाभदायक बनाई गई हमारी अर्थ-नीति और सरकार के भिन्न-भिन्न विभागों को चलाने की राजकीय अमित-व्ययता ने देश के ऊपर वह भार लादा है, जिससे उसकी गरीबी बढ़ी है और रोगों का आक्रमण रोकने की शक्ति घटी है। गोखले के शब्दों में, इस शासन-नीति ने हमारी बाढ़

इतनी मार दी है कि हमारे बड़ों को भी झुकना पड़ता है। अमृतसर में भारतीयों को पेट के बल भी रेंगाया गया। पंजाब का जान-बूझकर किया गया अपमान और हिन्दुस्तान के मुसलमानों को दिये गये वचन को तोड़ने के लिये क्षमा माँगने को गर्वपूर्वक अस्वीकार करना—नैतिक दासता के सबसे नये उदाहरण हैं। उनसे सीधे हमारी आत्मा को ही धक्का पहुँचता है। यदि हम इन दो अपराधों को सह लेवें, तो फिर यह हमारी नपुंसकता की पूर्ति ही कही जायगी।

हम लोगों के लिये जो स्थिति को जानते हैं, ऐसे बुरे वातावरण में सन्तान उत्पन्न करना क्या उचित है ? जब तक हमें ऐसा मालूम होता है, हम बेबस, रोगी और अकाल-पीड़ित हैं, तब तक सन्तानोत्पत्ति कर हम निर्बलों और दासों की ही संख्या बढ़ाते हैं। जब तक भारत स्वतंत्र देश नहीं हो जाता, जो अनिवार्य अकाल के समय अपने आहार का प्रबन्ध कर सके, हैजा, इन्फ्लुएञ्जा और दूसरी बीमारियों का इलाज करना जान जाय, हमें सन्तानोत्पत्ति करने का अधिकार ही नहीं है। पाठकों से मैं वह दुःख छिपा नहीं सकता, जो इस देश में बच्चों का जन्म सुनकर मुझे होता है। मुझे यह मानना ही पड़ेगा कि मैंने वर्षों तक धैर्य के साथ इसपर विचार किया है कि स्वेच्छा-संयम के द्वारा हम सन्तानोत्पत्ति रोक लेवें। भारतवर्ष को आप अपनी वर्तमान जन-संख्या की भी खोज-खबर लेने की शक्ति नहीं है, किन्तु इसलिये नहीं कि उसे अतिशय का रोग है, वरन् इसलिये कि उसके ऊपर वैदेशिक आधिपत्य है, जिसका मूल-मंत्र उसे अधिकाधिक लूटते जाना है।

सन्तानोत्पत्ति किस प्रकार रोकी जा सकेगी ? यूरोप में जो

अनैतिक और अप्राकृतिक या कृत्रिम साधन काम में लाये जाते हैं, उनसे नहीं वरन् आत्म-संयम और नियमित जीवन से। माता-पिता को अपने बालकों को ब्रह्मचर्य का अभ्यास कराना ही पड़ेगा। हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार बालकों के लिये विवाह करने की आयु कम-से-कम २५ वर्ष की होनी चाहिए। यदि भारतवर्ष की माताएँ यह विश्वास कर सकें कि लड़के-लड़कियों को विवाहित जीवन की शिक्षा देना पाप है, तो आधे विवाह तो आप ही रुक जायँगे। फिर, हमें अपनी गर्म जल-वायु के कारण लड़कियों के शीघ्र रजस्वला हो जाने के झूठे सिद्धान्त में भी विश्वास करने की आवश्यकता नहीं है। इस शीघ्र सयानेपन के समान दूसरा भद्दा अन्धविश्वास मैंने नहीं देखा है। मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि यौवन से जलवायु का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। असमय के यौवन का कारण हमारे पारिवारिक जीवन का नैतिक और मानसिक वायुमण्डल है। माताएँ और दूसरे सम्बन्धी अबोध बच्चों को यह सिखलाना धार्मिक कर्त्तव्य-सा मान बैठते हैं कि "इतनी" बड़ी आयु होने पर तुम्हारा विवाह होगा! बालकपन में ही, वरन् माता की गोद में ही उनकी सगाई कर दी जाती है! बच्चों के भोजन और कपड़े भी उन्हें उत्तेजित करते हैं। हम अपने बालकों को गुड़ियों की तरह सजाते हैं—उनके नहीं, वरन् अपने सुख और अभिमान के लिए! मैंने बीसों लड़कों को पाला है। उन्होंने बिना किसी कठिनाई के जो कपड़ा उन्हें दिया गया, उसे आनन्दपूर्वक पहन लिया है। उन्हें हम सैकड़ों प्रकार की गर्म और उत्तेजक वस्तुएँ खाने को देते हैं। अपने अन्ध प्रेम में उनकी शक्ति की कोई चिंता नहीं करते। निःसंदेह, फल मिलता है, शीघ्र यौवन,

असमय सन्तानोत्पत्ति और अकाल मृत्यु! माता-पिता पदार्थ-पाठ देते हैं, जिसे बच्चे सहज ही सीख लेते हैं! विकारों के सागर में वे स्वयं डूबकर अपने लड़कों के लिये बन्धन-सहित स्वच्छन्दता के आदर्श बन जाते हैं। घर में किसी लड़के के भी बच्चा पैदा होने पर खुशियाँ मनाई जातीं, बाजे बजते और दावतें उड़ती हैं। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे वातावरण में रहने पर भी हम और अधिक स्वच्छन्द क्यों न हुए? मुझे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि यदि उन्हें देश का भला स्वीकार है और वे भारतवर्ष को सबल, सुन्दर, और सुगठित स्त्री-पुरुषों का राष्ट्र देखना चाहते हैं, तो विवाहित स्त्री-पुरुष पूर्ण संयम से काम लेंगे और इस समय में सन्तानोत्पत्ति करना बन्द कर देंगे। नव-विवाहितों को भी मैं यही सम्मति देता हूँ। कोई काम करते हुए छोड़ने से कहीं सरल है, उसे आरंभ ही न करना; जैसे की जिसने कभी शराब न पी हो, उसके लिये जन्म भर शराब न पीना, शराबी या अल्पसंयमी के शराब छोड़ने से कहीं अधिक सहज है। गिरकर उठने से लाख दर्जे सहज सीधे खड़े रहना है। यह कहना बिलकुल गलत है कि ब्रह्मचर्य की शिक्षा केवल उन्हीं को दी जा सकती है जो भोग भोगते-भोगते थक गये हों। निर्बल को ब्रह्मचर्य की शिक्षा देने में कोई अर्थ ही नहीं है। और, मेरा तात्पर्य यह है कि हम वृद्ध हों या युवा, भोगों से ऊबे हुए हों या नहीं, हमारा इस समय धर्म है कि हम अपनी दासता की बढ़ती करने को बच्चे पैदा न करें।

माता-पिताओं को क्या मैं यह भी ध्यान दिला दूँ कि वे अपने पति या पत्नी के अधिकारों के तर्क के जाल में न पड़ें? भोग के लिये परस्पर स्वीकृति की आवश्यकता पड़ती है, संयम

के लिये नहीं । यह तो स्पष्ट सत्य है ।

जिस समय हमलोग एक शक्तिशाली सरकार के साथ जीवन-मरण की लड़ाई में लगे होंगे, हमें अपनी सारी शारीरिक, भौतिक, नैतिक और आत्मिक शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी। जबतक हम प्राणों से भी प्रिय इस एक वस्तु की रक्षा नहीं करते, वह मिल नहीं सकती। इस व्यक्तिगत पवित्रता के बिना हम सदैव ही दास बने रहेंगे। हम अपने को यह सोच-कर भुलावा न दें कि चूँकि हमारी समझ में यह सरकार बुरी है, इसलिये व्यक्तिगत पवित्रता में अँग्रेजों से घृणा करनी चाहिए। मूल नीतियों को आत्मिक उन्नति का साधन न मानते हुए भी उनका पालन शरीर से तो वे भली-भाँति करते ही हैं। देश के राजनैतिक जीवन में जितने अँग्रेज लगे हुए हैं, उनमें हमसे कहीं अधिक ब्रह्मचारी और कुमारियाँ हैं। हमारे यहाँ कुमारियाँ तो प्रायः होती ही नहीं! जो थोड़ी साधुना कुमारियाँ होती हैं, उनका कोई असर राजनैतिक जीवन पर नहीं रह जाता, किन्तु यूरोप में हजारों ही ब्रह्मचर्य को साधारण बात समझते हैं।

अब मैं पाठकों के सामने थोड़े सीधे-सादे नियम रखता हूँ, जिनका आधार केवल मेरे ही नहीं, वरन् मेरे बहुत-से साथियों के अनुभव हैं—

१. लड़के-लड़कियों को सीधे-सादे और प्राकृतिक रूप से यह पूरा विश्वास रखकर पालना चाहिए कि वे पवित्र हैं और पवित्र रह सकते हैं।

२. गर्म और उत्तेजक आहारों से, जैसे, अचार, चटनी या मिर्चों इत्यादि से, चिकने और भारी पदार्थों से, जैसे, मिठाइयाँ या

तले हुए पदार्थों आदि से सब किसी को बचाए रहना चाहिए।

३. पति-पत्नी को अलग कमरों में रहना और एकान्त से बचना चाहिए।

४. शरीर और मन दोनों को बराबर अच्छे काम में लगाये रहना चाहिए।

५. सवेरे सोने और सवेरे उठने के नियम का कठोरता से पालन होना चाहिए।

६. सभी बुरे साहित्य से बचना चाहिए। बुरे विचारों की औषधि भले विचार हैं।

७. विकारों को उत्तेजन देनेवाले थियेटर, बायस्कोप, नाच, तमाशों से बचना चाहिए।

८. स्वप्न-दोष से घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। साधारण हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति के लिए हर बार ठण्डे जल से स्नान कर लेना ही इसकी सबसे अच्छी औषधि है। यह कहना ठीक नहीं कि स्वप्न-दोषों से बचने के लिये कभी-कभी सम्भोग कर लेना चाहिए।

९. सबसे बड़ी बात तो यह है कि पति-पत्नी तक के बीच भी ब्रह्मचर्य को कोई असम्भव या कठिन न समझ लें। इसके उलटे ब्रह्मचर्य को जीवन का स्वाभाविक और साधारण अभ्यास समझना चाहिए।

१०. प्रतिदिन पवित्रता के लिये सच्चे मन से की गई प्रार्थना से आदमी दिनों-दिन पवित्र होता जाता है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

गुह्य प्रकरण

जिन्होंने आरोग्य के प्रकरण ध्यान-पूर्वक पढ़े हैं, उनसे निवेदन है कि यह प्रकरण विशेष ध्यान से पढ़ें और इसपर अधिक विचार करें। दूसरे प्रकरण भी आवेंगे और वे अवश्य लाभदायक होंगे, किन्तु इस विषय पर इसके समान महत्त्व-पूर्ण कोई न होगा। मैंने पहले ही बतलाया है कि इन अध्यायों में एक भी बात ऐसी नहीं लिखी है, जिसका मैंने स्वयं अनुभव न किया हो, या जिसे मैं दृढ़ता-पूर्वक न मानता होऊँ।

आरोग्य की कई एक कुञ्जियाँ हैं, किन्तु उसकी मुख्य कुञ्जी तो ब्रह्मचर्य है। अच्छी हवा, अच्छा भोजन, अच्छा पानी इत्यादि से हम स्वास्थ्य पैदा कर सकते हैं सही, किन्तु हम जितना कमायें, उतना उड़ाते भी जायँ, तो कुछ न बचेगा। उसी प्रकार जितना स्वास्थ्य प्राप्त करें, उतना उड़ावें भी तो पूँजी क्या बचेगी? इसमें किसी के सन्देह करने का स्थान ही नहीं है कि आरोग्य-रूपी धन का संचय करने के लिये स्त्री और पुरुष दोनों को ही ब्रह्मचर्य की पूरी-पूरी आवश्यकता है। जिन्होंने अपने वीर्य का संचय किया है, वे ही वीर्यवान्—बलवान्—कहलाते हैं।

प्रश्न होगा कि ब्रह्मचर्य है क्या? पुरुष को स्त्री का और स्त्री को पुरुष का भोग न करना ही ब्रह्मचर्य है। 'भोग न करने' का अर्थ एक-दूसरे को विषयेच्छा से स्पर्श न करना ही नहीं है, वरन् इस बात का विचार भी करना है। इसका स्वप्न भी न होना चाहिए। स्त्री को देखकर पुरुष विह्वल न हो जाय, पुरुष को देखकर स्त्री विह्वल न बने। प्रकृति ने जो गुह्य शक्ति हमें दी है,

उसे दवाकर अपने शरीर में ही संग्रह करना और उसका उपयोग केवल अपने शरीर के ही नहीं, वरन् मन, बुद्धि, और स्मरणशक्ति के स्वास्थ्य को बढ़ाने में करना चाहिए।

किन्तु हमारे आसपास क्या दृश्य दिखलाई पड़ते हैं? छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, सभी-के-सभी इस मोह में डूबे पड़े हैं। ऐसे समय हम पागल बन जाते हैं, बुद्धि ठिकाने नहीं रहती, आँखें आवरण से ढँक जाती हैं; हम कामान्ध बन जाते हैं! काम-मुग्ध स्त्री-पुरुषों को, और लड़के-लड़कियों को मैंने बिल्कुल पागल बन जाते हुए देखा है। मेरा अपना अनुभव भी इससे भिन्न नहीं है। मैं जब-जब इस दशा में आया हूँ, तब-तब अपना भान भूल गया हूँ! यह वस्तु ही ऐसी है। इस प्रकार हम एक रत्ती-भर रति-सुख के लिये मन-भर शक्ति क्षणमात्र में खो बैठते हैं। जब मद उतरता है, हम रंक बन जाते हैं। दूसरे दिन सवेरे हमारा शरीर भारी रहता है, हमें सच्ची शान्ति नहीं मिलती, हमारी काया शिथिल हो जाती है, हमारा मन बे ठिकाने रहता है।

यह सब ठिकाने लाने, रखने के लिये हम भर-भर कढ़ाई दूध पीते हैं, भस्म फाँकते हैं, याकूती लेते हैं और वैद्यों से 'पुष्ई' माँगा करते हैं! क्या खाने से कामों में उत्तेजना बढ़ेगी—बस इसी की खोज करते हैं। यों दिन जाते हैं। और, ज्यों-ज्यों वर्ष बीतते हैं, त्यों-त्यों हम अङ्ग और बुद्धि से हीन होते जाते हैं। बुढ़ापे में हमारी मति मारी गई-सी दिखाई पड़ती है।

सच पूछो तो ऐसा होना ही न चाहिये। बुढ़ापे में बुद्धि मन्द होने की अपेक्षा तीव्र होनी चाहिए। हमारी दशा तो ऐसी होनी चाहिए कि इस देह के अनुभव हमें और दूसरों को भी

लाभदायक हो सकें। जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसकी वैसी ही स्थिति रहती है। उसे मृत्यु का भय नहीं रहता, और न वह मरते समय ईश्वर को भूलता ही है। वह झूठी हाय-हाय नहीं करता। उसको मरण-काल के उत्पात नहीं सताते। वह ईश्वर को अपना हिसाब हँसते-हँसते देने जाता है। वही तो मर्द है। उसी का आरोग्य सच्चा कहा जायगा, जो इसके विपरीत मरे, वही स्त्री है।

साधारणतया हम विचार नहीं करते कि इस संसार में मौज-मजा, डाह, ईर्ष्या, बड़प्पन, आडम्बर, क्रोध, अधीरता, विष इत्यादि की जड़ हमारे ब्रह्मचर्य के भंग में ही है। यों हमारा मन अपने हाथों न रहे और प्रतिदिन हम एक बार या बार-बार छोटे बच्चे से भी अधिक मूर्ख बन जायँ, तो फिर जान-बूझकर या अनजान में, हम कितने पाप न कर बैठते होंगे! उस दशा में क्या हम घोर पाप करने से भी रुकेंगे!

पर ऐसे "ब्रह्मचारी" को देखा किसने है? ऐसे प्रश्न करने-वाले भी बहुत हैं कि यदि सभी कोई ऐसे ब्रह्मचारी बन जायँ, तो संसार का सत्यानाश ही होगा। इसका विचार करने में धर्म-चर्चा का आ जाना संभव है, इसलिये उतना छोड़कर केवल सांसारिक दृष्टि से ही विचार करूँगा। मेरे मत में इन दोनों प्रश्नों की जड़ में हमारी कायरता और डरपोकपन घुसा हुआ है। हम ब्रह्मचर्य का पालन करना नहीं चाहते और इसीलिए उसमें से भागने के मार्ग ढूँढ़ते हैं। इस संसार में ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले कितने ही भरे पड़े हैं, परन्तु यदि वे गली-गली मारे-मारे फिरें, तो फिर उनका मूल्य ही क्या रहे! हीरा निकालने के लिये भी पृथ्वी के पेट में हजारों मजदूरों को घुसना पड़ता है, और तो भी जब

कंकर-पत्थर के पहाड़-से ढेर लग जाते हैं, तब कहीं मुट्ठी भर हीरा हाथ आता है। फिर ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले हीरे को ढूँढ़ने में कितना परिश्रम करना होगा! इसका हिसाब सहज ही त्रैराशिक से सभी कोई जोड़ सकते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन करने से सृष्टि बन्द हो जाय; तो इससे हमें क्या? हम कुछ ईश्वर नहीं हैं। जिन्होंने सृष्टि बनाई है, वे स्वयं सँभाल लेंगे। दूसरे पालन करेंगे कि नहीं यह भी हमारे विचारने की बात नहीं है। हम व्यापार, वकालत इत्यादि धन्धे आरम्भ करते समय तो यह नहीं सोचते कि यदि सब कोई ये धंधे आरम्भ कर दें तो? ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले स्त्री-पुरुषों को इसका उत्तर सरलता से मिल जायगा। संसारी आदमी ये विचार व्यवहार में कैसे ला सकते हैं? विवाहित लोग क्या करें? लड़के-बालेवाले क्या करें? जो काम को वश में न रख सकें वे बेचारे क्या करें?

हमने यह देख लिया कि हम कहाँ तक ऊँचे जा सकते हैं। यदि हम अपने सामने यही आदर्श रक्खें, तो उसकी ज्यों की त्यों या उसी-जैसी कुछ नकल उतार सकेंगे। लड़के को जब अक्षर लिखना बताया जाता है, तब उसके सामने सुन्दर-से-सुन्दर अक्षर रक्खे जाते हैं, जिसमें वह अपनी शक्ति के अनुसार पूरी या अधूरी नकल करे। वैसे ही हम भी अखण्ड ब्रह्मचर्य का आदर्श सामने रखकर, उसकी नकल करने में लग सकते हैं। विवाह कर लिया है, तो उससे क्या हुआ? प्राकृतिक नियम तो यह है कि जब सन्तति की इच्छा हो, तभी ब्रह्मचर्य तोड़ा जाय। यों विचार-पूर्वक जो दो-तीन, या चार-पाँच वर्षों पर ब्रह्मचर्य तोड़ेगा, वह बिलकुल पागल नहीं बनेगा और उसके पास

वीर्यरूपी शक्ति की पूँजी भी ठीक जमा रहेगी। ऐसे स्त्री-पुरुष कदाचित् ही दिखाई पड़ते हैं, जो केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये ही काम-भोग करते हों। पर सहस्रों मनुष्य काम-भोग ढूँढ़ते हैं, चाहते हैं, और करते हैं। फल यह होता है कि उन्हें अनचाही सन्तान होती है। ऐसा विषय-भोग करते हुए हम इतने अन्धे बन जाते हैं कि सामने कुछ देखते ही नहीं। इसमें स्त्री से अधिक अपराधी पुरुष ही है। अपनी मूर्खता में उसे स्त्री की निर्बलता का, सन्तान के पालन-पोषण की उसकी शक्ति का ध्यान भी नहीं रहता। पश्चिम के लोगों ने तो इस विषय में मर्यादा का उल्लंघन ही कर दिया है। वे तो भोग भोगने, और सन्तानोत्पत्ति के बोझ को दूर रखने के अनेक उपचार करते हैं। इन उपचारों पर किताबें लिखी गई हैं और सन्तानोत्पत्ति रोकने के उपचारों का व्यापार ही चल निकला है। अभी तो हम इस पाप से मुक्त हैं। किन्तु हम अपनी स्त्रियों पर बोझ लादते समय, घड़ी-भर भी विचार नहीं करते, इसकी चिन्ता भी नहीं करते कि हमारी सन्तान निर्बल, वीर्यहीन, बावली व बुद्धिहीन बनेगी। उलटे, जब सन्तान होती है, तब ईश्वर का गुण गाते हैं। हमारी इस दीनदशा को छिपाने का यह एक ढंग है। हम इसे ईश्वरीय कोप क्यों न मानें जब हमें निर्बल, पंगु, विषयी और डरपोक सन्तान होती हैं ? बारह साल के लड़के के यहाँ भी लड़का हो, तो इसमें सुख की क्या बात है ? इसमें आनन्दोत्सव क्यों मनाना होगा ? बारह साल की लड़की माता बने, तो इसे हम महाकोप क्यों न मानें ? हम जानते हैं कि नई बेल में फल लगें, तो वह निर्बल होगी। हम इसका यत्न करते हैं कि जिसमें उसे फल न लगें। पर

वालिका-स्त्री को वालक वर से सन्तान हो, तो हम उत्सव मनाते हैं; मानों सामने खड़ी दीवाल को ही भूल जाते हैं। यदि भारतवर्ष में या संसार में नपुंसक लड़के, चींटियों-जैसे पैदा होने लगें, तो इससे क्या संसार का उद्धार होगा? एक प्रकार से तो हमसे पशु ही अच्छे हैं। जब उनसे वच्चे पैदा कराने होते हैं, तभी नर-मादा का मिलाप कराते हैं। संयोग के वाद, गर्भ-काल में, और वैसे ही, जन्म के वाद, जव तक वच्चा दूध छोड़कर वड़ा नहीं होता, उस समय तक का समय विलकुल पवित्र गिनना चाहिए। इस काल में स्त्री और पुरुष दोनों को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। इसके वदले हम घड़ी भर भी विचार किये विना, अपना काम करते ही चले जाते हैं! हमारा मन इतना रोगी है! इसीका नाम है—असाध्य रोग। यह रोग हमें मौत से मिलाप कराता है। और, जब तक मौत नहीं आती, हम वावले-जैसे मारे-मारे फिरते हैं। विवाहित स्त्री-पुरुषों का मुख्य कर्तव्य है कि वे अपने विवाह का झूठा अर्थ न करते हुए, उसका शुद्ध अर्थ लगावें और जब सचमुच सन्तान न हो, तो केवल उत्तराधिकारी के लिये ही ब्रह्मचर्य का भंग करें।

हमारी दयाजनक दशा में ऐसा करना वहुत कठिन है। हमारा भोजन, रहन-सहन, वातें, और आसपास के दृश्य, सभी हमारी विषय-वासना के जगानेवाले हैं। हमारे ऊपर अफीम के समान विषय की मादकता चढ़ी रहती है। ऐसी स्थिति में विचार करके पीछे हटते हमसे कैसे वने? किन्तु ऐसी शङ्का उठानेवालों के लिये यह लेख नहीं लिखा गया है। यह तो उन्हीं के लिये है, जो विचार करके काम करने को तैयार हों। जो

अपनी स्थिति पर सन्तोष करके बैठे हों, उन्हें तो इसे पढ़ना भी कठिन प्रतीत होगा पर जो अपनी कङ्गाल दशा कुछ देख सके हैं और उससे ऊब उठे हैं, उन्हींकी सहायता करना; इस लेख का उद्देश्य है।

ऊपर के लेख द्वारा हम देख सके हैं कि ऐसे कठिन काल में अविवाहितों को विवाह करना ही नहीं चाहिए या करे बिना चले ही नहीं, तो जहाँ तक हो सके देर करके करना चाहिए। नवयुवकों को पचीस वर्ष की आयु से पहले विवाह न करने का व्रत लेना चाहिए। आरोग्य-प्राप्ति के लाभ को छोड़कर इस व्रत से होनेवाले और दूसरे लाभों को हम विचार नहीं करते, किन्तु उनके लाभ सभी कोई उठा सकते हैं।

जो माता-पिता इस लेख को पढ़ें, उनसे मुझे यह कहना है कि वे अपने बच्चों की बचपन में ही सगाई करके उन्हें बेंच डालने से घातक बनते हैं। अपने बच्चों का लाभ देखने के बदले वे अपना ही अन्ध-स्वार्थ देखते हैं। उन्हें तो स्वयं बड़ा बनना है, अपनी जाति-बिरादरी में नाम कमाना है, लड़के का ब्याह करके तमाशा देखना है। लड़के का हित देखें, तो उसका पढ़ना-लिखना देखें, उसका यत्न करें, उसका शरीर बनावें। घर गृहस्थी की खटपट में डाल देने से बढ़कर उसका दूसरा कौन-सा बड़ा अहित हो सकता है?

अन्त में विवाहित स्त्री और पुरुष में से एक की मृत्यु हो जाने पर दूसरे को वैधव्य पालने से स्वास्थ्य का लाभ ही है। कई एक डाक्टरों की सम्मति है कि युवा स्त्री या पुरुष को वीर्य-पात करने का अवसर मिलना ही चाहिए। दूसरे कितने ही

डाक्टर कहते हैं कि किसी भी दशा में वीर्यपात कराने की आवश्यकता नहीं है। जब डाक्टर यों लड़ रहे हों, तब अपने विचार को डाक्टरी मत का सहारा मिलने से ऐसा समझना ही नहीं चाहिए कि विषय में लीन रहना ही उचित है। मेरे अपने अनुभवों और दूसरों के जो अनुभव मैं जानता हूँ, उनपर से मैं वेधड़क कहता हूँ कि आरोग्य बचाये रखने के लिये विषय-भोग आवश्यक नहीं है; यही नहीं वरन् विषय-सेवन करने से—वीर्यपात होने से—आरोग्य को बहुत हानि पहुँचती है। बहुत वर्षों की प्राप्त दृढ़ता—तन और मन दोनों की—एक बार के वीर्यपात से इतनी अधिक जाती रहती है कि उसे लौटाने में बहुत समय चाहिए, और उतना समय लगाने पर भी पहलेकी स्थिति आ ही नहीं सकती। टूटे शीशे को जोड़कर उससे काम भले ही लें, किन्तु है तो वह टूटा हुआ ही। वीर्य का यत्न करने के लिये स्वच्छ हवा, स्वच्छ पानी, और पहले बतलाये अनुसार स्वच्छ विचार की पूरी आवश्यकता है। इस प्रकार नीति का आरोग्य के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध है। सम्पूर्ण नीतिमान् ही सम्पूर्ण आरोग्यता पा सकता है। जो सचेत होने के बाद से ही सबेरा समझकर ऊपर के लेखों पर भली-भाँति विचारकर व्यवहार में लायेंगे, वे प्रत्यक्ष अनुभव पा सकेंगे। जिन्होंने थोड़े दिनों भी ब्रह्मचर्य का पालन किया होगा, वे अपने शरीर और मन में बढ़ा हुआ बल देख सकेंगे। और एक बार जिसके हाथ पारसमणि लग गया, उसको वह अपने जीवन के साथ यत्न करके बचा रक्खेगा। थोड़ा भी चूका कि वह देख लेगा कि कितनी भारी भूल हुई है। मैंने तो ब्रह्मचर्य के अगणित लाभ विचारने के बाद,

जानने के बाद, भूलें की हैं और उनके कड़वे फल भी पाये हैं। भूल के पहले की मेरे मन की भव्य दशा और उसके बाद की दीन दशा की तसवीरें आँख के सामने आया ही करती हैं। किन्तु अपनी भूलों से ही मैंने इस पारसमणि का मूल्य समझा है। अब अखण्ड पालन करूँगा या नहीं, नहीं जानता। ईश्वर की सहायता से पालन करने की आशा रखता हूँ। उससे मेरे मन और तन को जो लाभ हुए हैं, उन्हें मैं देख सकता हूँ। मैं स्वयं बालकपन में ही व्याहा गया, बचपन में ही अन्धा बना, बालपन में ही बाप बनकर बहुत वर्षों बाद जागा। जगकर देखता हूँ, तो अपने को महारात्रि में पड़ा हुआ पाता हूँ। मेरे अनुभवों से और मेरी भूल से भी यदि कोई चेत जायगा, बच जायगा, तो यह प्रकरण लिखकर मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा। यह भी त्रैराशिक-जैसा ही है। बहुत-से व्यक्ति कहते हैं, और मैं भी मानता हूँ कि मुझमें उत्साह बहुत है। मेरा मन तो निर्बल गिना नहीं जाता। कितने तो मुझे हठी कहते हैं। मेरे मन और शरीर में रोग हैं, किन्तु मेरे संसर्ग में आये हुए लोगों में मैं अच्छा स्वस्थ गिना जाता हूँ। यदि लगभग बीस वर्ष तक विषय में रहने के पश्चात् मैं अपनी यह दशा बना सका हूँ, तो वे बीस वर्ष भी यदि बचा सका होता, तो आज मैं कहाँ होता? मैं स्वयं तो समझता हूँ कि मेरे उत्साह का पार ही न होता और जनता की सेवा में या अपने स्वार्थ में ही मैं इतना उत्साह दिखलाता कि मेरी बराबरी करनेवाले की पूरी कसौटी हो जाती। इतना सार मेरे त्रुटि-पूर्ण उदाहरण में से लिया जा सकता है। जिन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य-पालन किया है, उनका शारीरिक, मानसिक और नैतिक बल जिन्होंने देखा है,

यही समझ सकते हैं उसका वर्णन नहीं हो सकता।

इस प्रकरण को पढ़नेवाले समझ गये होंगे कि जहाँ विवाहितों को ब्रह्मचर्य की सलाह दी गई है, विधुर पुरुष को वैधव्य सिखलाया जाता है, वहाँ पर विवाहित या अविवाहित स्त्री या पुरुष को दूसरी जगह विषय करने का अवसर हो ही नहीं सकता। पर-स्त्री या वेश्या पर कुदृष्टि डालने के घोर परिणामों पर आरोग्य के विषय में विचार नहीं किया जा सकता। यह तो धर्म और गहरे नीति-शास्त्र का विषय है। यहाँ तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि पर-स्त्री और वेश्या-गमन से मनुष्य सूजाक इत्यादि नाम न लेने योग्य रोगों से सड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। प्रकृति तो ऐसी दया करती है कि इन लोगों के आगे पापों का फल तुरत ही आ जाता है। तो भी वे आँख मूँदे ही रहते हैं और अपने रोगों के लिये डाक्टरों के यहाँ भटकते फिरते हैं? जहाँ पर-स्त्री-गमन न हो, वहाँ पर सैकड़े पीछे पचास डाक्टर बेकार हो जायँगे। ये बीमारियाँ मनुष्य-जाति के गले यों आ पड़ी हैं कि विचारशील डाक्टर कहते हैं कि उनके लाखों शोध चलाते रहने पर भी यदि पर-स्त्री गमन का रोग जारी ही रहा, तो फिर मनुष्य जाति का अन्त निकट ही है। इसके रोगों की औषधियाँ भी ऐसी विषैली होती हैं कि यदि उनसे एक रोग का नाश हुआ-सा लगता है; तो दूसरे रोग घर कर लेते हैं, और पीढ़ी-दर-पीढ़ी चल निकलते हैं।

अब विवाहितों को ब्रह्मचर्य-पालन का उपाय बताकर, इस लम्बे प्रकरण को समाप्त करना चाहिए। ब्रह्मचर्य के लिये केवल स्वच्छ हवा, पानी और ख़ुराक का ही विचार रखने से नहीं चलेगा। उन्हें तो अपनी स्त्री के साथ एकान्त छोड़ना चाहिये।

विचार करने से मालूम होता है कि विषय-सम्भोग के अतिरिक्त एकान्त की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए। रात में स्त्री-पुरुष को अलग-अलग कमरों में सोना चाहिए। सारे दिन दोनों को अच्छे धन्धों और विचारों में लगा रहना चाहिए। जिसमें अपने सुविचार को उत्तेजन मिले, वैसी पुस्तकें और वैसे महापुरुषों के चरित्र पढ़ने चाहिएँ। वारम्वार यही विचार करना चाहिए कि भोग में तो दुःख-ही-दुःख है। जब-जब विषय की इच्छा हो आवे, ठण्डे पानी से नहा लेना चाहिए। शरीर में जो महाअग्नि है, वह शान्त होकर पुरुष और स्त्री दोनों के लिये उपकारी होगी और दूसरा ही लाभदायक रूप धरकर उनका सच्चा सुख बढ़ावेगी। ऐसा करना कठिन है, किन्तु कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिये ही तो हम पैदा हुए हैं। आरोग्य प्राप्त करना हो, तो ये कठिनाइयाँ जीतनी ही पड़ेंगी।

सोलहवाँ अध्याय

ब्रह्मचर्य

[भादरण में एक मानपत्र का उत्तर देते हुए लोगों के अनुरोध से गांधीजी ने ब्रह्मचर्य पर एक लम्बा प्रवचन किया था। उसका सारांश यहाँ दिया जाता है। सं०]

'आप चाहते हैं कि ब्रह्मचर्य के विषय पर मैं कुछ कहूँ। कई विषय ऐसे हैं, जिनपर मैं "नवजीवन" में प्रसंगोपात्त ही लिखता हूँ और उनपर व्याख्यान तो कदाचित् ही देता हूँ; क्योंकि यह विषय ही ऐसा है कि कहकर समझाया नहीं जा सकता। आप तो साधारण ब्रह्मचर्य के विषय में कुछ सुनना चाहते हैं। जिस

ब्रह्मचर्य की विस्तृत व्याख्या "समस्त इन्द्रियों का संयम" है, उसके विषय में नहीं। इस साधारण ब्रह्मचर्य को भी शास्त्रों में बड़ा कठिन बतलाया गया है। यह बात ९९ प्रतिशत सच है, इसमें १ प्रतिशत की कमी है। इसका पालन इसलिये कठिन जान पड़ता है कि हम दूसरी इन्द्रियों को संयम में नहीं रखते, मुख्यकर जीभ को। जो अपनी जिह्वा को वश में रख सकता है, उसके लिये ब्रह्मचर्य सुगम हो जाता है। प्राणि-शास्त्रज्ञों का यह कहना सच है कि पशु जिस अंश तक ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उस दर्जे तक मनुष्य नहीं करता। इसका कारण देखने पर ज्ञात होगा कि पशु अपनी जीभ पर पूरा-पूरा निग्रह रखते हैं— चेष्टा करके नहीं वरन् स्वभाव से ही। वे केवल घास पर ही अपना वसर करते हैं और सो भी केवल पेट भरने योग्य ही खाते हैं! वे जीने के लिये खाते हैं, खाने के लिये नहीं जीते। पर हम तो इसके बिल्कुल विपरीत करते हैं। माँ बच्चे को तरह-तरह के सुस्वादु भोजन कराती है। वह मानती है कि बालक पर प्रेम दिखाने का यही सर्वोत्तम मार्ग है। ऐसा करते हुए हम उन चीजों का स्वाद बढ़ाते नहीं, वरन् घटाते हैं। स्वाद तो भूख में रहता है। भूख के समय सूखी रोटी भी मीठी लगती है और बिना भूख के आदमी को लड्डू भी फीके और बेस्वाद मालूम होंगे। पर हम तो न जाने क्या-क्या खा-खाकर पेट को ठसाठस भरते हैं और फिर कहते हैं कि ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो पाता।

जो आँखें हमें ईश्वर ने देखने के लिये दी हैं, उन्हें हम मलीन करते हैं, और देखने योग्य वस्तुओं को देखना नहीं सीखते। "माता गायत्री क्यों न पढ़े और बालकों को वह गायत्री

क्यों न सिखाए ?" इसकी छानवीन करने के वदले यदि वह उसके तत्त्व—सूर्योपासना—को समझकर उनसे सूर्योपासना करावे तो कितना अच्छा हो ? सूर्य की उपासना तो सनातनी और आर्यसमाजी दोनों ही कर सकते हैं। तो यह मैंने स्थूल अर्थ आपके सामने उपस्थित किया। इस उपासना के अर्थ क्या हैं ? यही कि अपना सिर ऊँचा रखकर, सूर्यनारायण के दर्शन करके, आँख की शुद्धि की जाय। गायत्री के रचयिता ऋषि थे, द्रष्टा थे। उन्होंने कहा है कि सूर्योदय में जो काव्य है, जो सौन्दर्य है, जो लीला है, जो नाटक है, वह और कहीं नहीं दिखाई दे सकता। ईश्वर के जैसा सुन्दर सूत्रधार अन्य नहीं मिल सकता, और आकाश से वढ़कर भव्य रंग-भूमि भी कहाँ मिलेगी पर आज कौन-सी माता वालक की आँखें धोकर उसे आकाश-दर्शन कराती है ? वरन् माता के भावों में तो अनेक प्रपञ्च रहते हैं! वड़े-वड़े घरों में जो शिक्षा मिलती है, उसके फल-स्वरूप तो लड़का कदाचित् वड़ा अफ़सर होगा, पर इस वात का कौन विचार करता है कि घर में जाने-वेजाने जो शिक्षा वच्चों को मिलती है, उससे कितनी वातें वह ग्रहण कर लेता है। माँ-वाप हमारे शरीर को ढकते हैं, सजाते हैं, पर इससे कहीं शोभा वढ़ सकती है ? कपड़े देह को ढकने के लिये हैं, सर्दी-गर्मी से वचाने के लिये हैं, सजाने के लिये नहीं। यदि वालक का शरीर वज्र-सा दृढ़ वनाना है, तो जाड़े से ठिठुरते हुए लड़के को हम अँगीठी के पास वैठाने के वदले मैदान में खेलने-कूदने भेज देंगे, या खेत में काम पर छोड़ देंगे? उसका शरीर दृढ़ वनाने का वस यही एक उपाय है। जिसने ब्रह्मचर्य का पालन किया है उसका शरीर

अवश्य ही वज्र-सा होना चाहिए। हम तो बच्चे के शरीर का सत्यानाश कर डालते हैं। उसे घर में रखने से जो झूठी गर्मी आती है, उसे हम छाजन की उपमा दे सकते हैं। दुलार-दुलार कर तो हम उसका शरीर केवल बिगाड़ ही पाते हैं।

यह तो हुई कपड़े की बात। फिर घर में भाँति-भाँति की बातें करके हम उसके मन पर बुरा प्रभाव डालते हैं। उसके व्याह की बातें किया करते हैं; और इसी भाँति की वस्तुएँ तथा दृश्य भी उसे दिखाये जाते हैं! मुझे तो आश्चर्य होता है कि हम केवल जंगली ही क्यों बन गये हैं! मर्यादा तोड़ने के अनेक साधनों के होते हुए भी मर्यादा की रक्षा हो जाती है! ईश्वर ने मनुष्य की रचना ऐसी की है कि पतन के अनेक अवसर आते हुए भी वह बच जाता है। यदि हम ब्रह्मचर्य के मार्ग से ये सब विघ्न दूर कर दें, तो उसका पालन बहुत सरल हो जाय।

ऐसी दशा होते हुए भी हम संसार के साथ शारीरिक सामना करना चाहते हैं। उसके दो मार्ग हैं—एक आसुरी और दूसरा दैवी। आसुरी मार्ग है—शरीर-बल प्राप्त करने के लिये हर प्रकार के उपायों से काम लेना—हर प्रकार की वस्तुएँ खाना, गोमांस खाना आदि। मेरे लड़कपन में एक मित्र मुझसे कहा करता था कि मांसाहार हमें अवश्य करना चाहिए नहीं तो हम अंग्रेजों की तरह हट्टे-कट्टे न हो सकेंगे। जापान को भी जब दूसरे देश के साथ मुकाबला करने का अवसर आया, तब वहाँ गो-मांस-भक्षण को स्थान मिला। सो, यदि आसुरी भव से शरीर को तैयार करने की इच्छा हो, तो इन वस्तुओं का सेवन करना होगा।

परन्तु यदि दैवी साधन से शरीर तैयार करना हो, तो ब्रह्मचर्य ही उसका एक उपाय है। जब मुझे कोई 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी' कहता है तब मैं अपने आप पर तरस खाता हूँ। जिसके बाल-बच्चे हुए हैं उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कैसे कह सकते हैं ? नैष्ठिक ब्रह्मचारी को न तो कभी बुखार आता है, न कभी सिर-दर्द होता है, न कभी खाँसी होती है, न कभी अपेंडिसाइटिज होता है। डाक्टर लोग कहते है नारंगी का बीज आँत में रह जाने से भी अपेंडिसाइटिज होता है। परन्तु जो शरीर स्वच्छ और नीरोगी हो, उसमें ये बीज टिकेंगे कैसे ? जब आँतें शिथिल पड़ जाती हैं तब वे ऐसी वस्तुओं को अपने आप बाहर नहीं निकाल सकतीं। मेरी भी आँतें शिथिल हो गई होंगी। इसीसे मैं ऐसी कोई वस्तु पचा न सका हूँगा। बच्चा ऐसी अनेक वस्तुएँ खा जाता है। माता इसका कहाँ ध्यान रखती है ? पर उसकी आँतों में इतनी शक्ति स्वाभाविक तौर पर ही होती है। इसलिये मैं चाहता हूँ कि मुझ पर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के पालन का आरोप करके कोई मिथ्याचारी न हो। नैष्ठिक ब्रह्मचारी का तेज तो मुझ से अनेक गुना अधिक होना चाहिए। मैं आदर्श ब्रह्मचारी नहीं। हाँ, यह सच है कि मैं वैसा बनना चाहता हूँ। मैंने तो आपके सामने अपने अनुभव की कुछ बूँदें उपस्थित की हैं, जो ब्रह्मचर्य की सीमा बताती हैं। ब्रह्मचर्य-पालन का अर्थ यह नहीं कि मैं किसी स्त्री को स्पर्श न करूँ। पर ब्रह्मचारी बनने का अर्थ यह है कि स्त्री का स्पर्श करने से भी मुझमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो, जिस प्रकार एक कागज को स्पर्श करने से नहीं होता। मेरी बहन बीमार हो और उसकी

सेवा करते हुए ब्रह्मचर्य के कारण मुझे हिचकना पड़े, तो वह ब्रह्मचर्य कौड़ी काम का नहीं। जिस निर्विकार दशा का अनुभव जब हम मृत शरीर को स्पर्श करके कर सकते हैं, उसीका अनुभव जब हम किसी सुन्दरी-से-सुन्दरी युवती का स्पर्श करके कर सकें, तभी हम ब्रह्मचारी हैं। यदि आप यह चाहते हों कि बालक वैसा ब्रह्मचर्य प्राप्त करें, तो इसका अभ्यास-क्रम आप नहीं बना सकते, मेरे-जैसा, अधूरा ही क्यों न हो, पर, ब्रह्मचारी ही बना सकता है।

ब्रह्मचारी स्वाभाविक संन्यासी होता है। ब्रह्मचर्याश्रम संन्यासाश्रम से भी बढ़कर है। पर उसे हमने गिरा दिया है। इससे हमारा गृहस्थाश्रम भी बिगड़ा है, वानप्रस्थाश्रम भी बिगड़ा है और संन्यास का तो नाम भी नहीं रह गया है। हमारी ऐसी असह्य अवस्था हो गई है!

ऊपर जो आसुरी मार्ग बताया गया है, उसका अनुकरण करके तो आप पाँच सौ वर्षों के बाद भी पठानों का सामना न कर सकेंगे। दैवी मार्ग का अनुकरण यदि आज हो, तो आज ही पठानों का सामना हो सकता है। क्योंकि दैवी साधन से आवश्यक मानसिक परिवर्तन एक क्षण में हो सकता है। पर शारीरिक परिवर्तन करते हुए युग बीत जाते हैं। इस दैवी मार्ग का अनुकरण तभी हमसे होगा, जब हमारे पल्ले पूर्वजन्म का पुण्य होगा, और माता-पिता हमारे लिये उचित सामग्री उत्पन्न करेंगे।

सत्रहवाँ अध्याय
नैष्ठिक ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य के विषय में कुछ लिखना सरल नहीं है। परन्तु मेरा अपना अनुभव इतना विशाल है कि उसकी कुछ बूँदें पाठकों को अर्पण करने की इच्छा बनी ही रहती है। इसके अतिरिक्त मेरे पास आये हुए पत्रों ने इस इच्छा को और भी अधिक बढ़ा दिया है।

एक सज्जन पूछते हैं—ब्रह्मचर्य के अर्थ क्या हैं? क्या उसका सोलहो आने पालन करना शक्य है? यदि शक्य हो तो, क्या आप उसका वैसा पालन करते हैं?

ब्रह्मचर्य का पूरा वास्तविक अर्थ है, ब्रह्म की खोज। ब्रह्म सबमें व्याप्त है। अतएव उसकी खोज अन्तर्ध्यान तथा उससे उत्पन्न होनेवाले अन्तर्ज्ञान से होती है। यह अन्तर्ज्ञान इन्द्रियों के पूर्ण संयम के बिना नहीं हो सकता। इस कारण सभी इन्द्रियों का तन, मन, और वचन से सब समय और सब क्षेत्रों में संयम करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

ऐसे ब्रह्मचर्य का पूर्ण-रूप से पालन करनेवाली स्त्री या पुरुष केवल निर्विकारी ही हो सकते हैं। ऐसे निर्विकारी स्त्री-पुरुष ईश्वर के निकट रहते हैं, वे ईश्वरवत् हैं।

इसमें मुझे तिलमात्र भी शंका नहीं है कि ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन तन, मन और वचन से करना सम्भव है। मुझे कहते हुए दुःख होता है कि इस ब्रह्मचर्य की पूर्ण अवस्था को मैं अभी नहीं पहुँचा हूँ। वहाँ तक पहुँचने का मेरा प्रयत्न निरन्तर चलता रहता है इसी देह से, उस स्थिति तक पहुँचने की आशा मैंने

छोड़ी नहीं है। तन पर तो मैंने अपना अधिकार कर लिया है। जागृत अवस्था में मैं सावधान रह सकता हूँ। मैंने वचन के संयम का पालन करना ठीक-ठीक सीखा है। विचार पर अभी मुझे बहुत कुछ वश करना शेष है। जिस समय जिस बात का विचार करना हो, उस समय केवल एक उसी के विचार आने के बदले दूसरे विचार भी आया करते हैं। इससे विचारों में परस्पर द्वंद्व-युद्ध हुआ करता है।

फिर भी जागृत अवस्था में मैं विचारों को परस्पर टकर लेने से रोक सकता हूँ। मेरी यह स्थिति कही जा सकती है कि दूषित विचार तो आ ही नहीं सकते। परन्तु निद्रावस्था में विचारों पर मेरा वश कम रहता है। नींद में अनेक प्रकार के विचार आते हैं, अकल्पित स्वप्न भी आतेही रहते हैं और कभी-कभी इसी देह की हुई बातों की वासना भी जागृत हो उठती है। वे विचार जब दूषित होते हैं, तब स्वप्न-दोष भी होता है। यह स्थिति विकारी जीवन की ही हो सकती है।

मेरे विचार के विकार क्षीण होते जा रहे हैं, किन्तु उनका नाश नहीं हो पाया है। यदि मैं विचारों पर भी अपना साम्राज्य स्थापित कर सका होता, तो पिछले दस वर्षों में मुझे जो तीन कठिन बीमारियाँ पसली का दर्द, पेचिस और अपेंडिसाइटिज हुईं ये कभी न होतीं। मैं मानता हूँ कि नीरोग आत्मा का शरीर भी नीरोगी ही होता है। अर्थात् ज्यों-ज्यों आत्मा नीरोग-निर्विकार होती जाती है त्यों-त्यों शरीर भी रोग-रहित होता जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि नीरोगी शरीर के अर्थ बलवान शरीर के हों। बलवान आत्मा क्षीण शरीर में भी वास करती है ज्यों-

ज्यों आत्म-बल बढ़ता है, त्यों-त्यों शरीर की क्षीणता बढ़ती जाती है। पूर्ण नीरोग शरीर भी बहुत क्षीण हो सकता है।

बलवान् शरीर में अधिकतर रोग तो रहते ही हैं। यदि रोग न भी हों, तो भी वह संक्रामक रोगों का लक्ष्य तुरन्त हो जाता है; पर पूर्ण नीरोग शरीर पर संक्रामक रोगों की छूत का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। शुद्ध रक्त में ऐसे कीटों को दूर करने का गुण होता है।

ऐसी अद्भुत दशा दुर्लभ तो है ही। नहीं तो अब तक मैं वहाँ तक पहुँच गया होता। क्योंकि मेरी आत्मा साक्षी देती है कि ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिये जिन उपायों का अवलंबन करने की आवश्यकता है, उनसे मैं मुँह मोड़नेवाला नहीं हूँ। ऐसी कोई भी बाह्य वस्तु नहीं है, जो मुझे उनसे दूर रखने में समर्थ हो। किन्तु पिछले संस्कारों को धो बहाना सबके लिये सरल नहीं होता। इसलिये यद्यपि देर हो रही है, तो भी मैं थोड़ा भी साहस नहीं कर बैठा हूँ; क्योंकि मैं निर्विकार अवस्था की कल्पना कर सकता हूँ। उसकी धुँधली झलक भी कभी-कभी देख सकता हूँ, और जो प्रगति मैंने अब तक रखी है वह मुझे निराश करने के बदले मुझमें आशा ही भरती है। फिर भी यदि मेरी आशा पूर्ण न हो और मेरा शरीर-पात हो जाय, तो भी मैं अपने को निष्फल हुआ न मानूँगा। जितना विश्वास मुझे इस शरीर के अस्तित्व पर है, उतना ही पुनर्जन्म पर भी है इसलिये मैं जानता हूँ कि थोड़ा-सा प्रयत्न भी कभी व्यर्थ नहीं जाता।

आत्मानुभव का इतना वर्णन करने का कारण यही है कि जिन लोगों ने मुझे पत्र लिखे हैं, उनको तथा उनके समान दूसरों

दूसरों को इससे धीरज रहे और उनका आत्म-विश्वास बढ़े। सबकी आत्मा एक है सबकी आत्मा की शक्ति एक-सी है। कई एक लोगों की शक्ति प्रकट हो चुकी है, दूसरों की प्रकट होने को शेष है। प्रयत्न करने से उन्हें भी अनुभव अवश्य ही मिलेगा।

यहाँ तक मैंने व्यापाक अर्थ में ब्रह्मचर्य का विवेचन किया। ब्रह्मचर्य का लौकिक अथवा प्रचलित अर्थ तो केवल विषयेन्द्रिय का ही मन, वचन, और काया के द्वारा संयम माना जाता है। यह अर्थ वास्तविक है। क्योंकि इसका पालन करना अत्यन्त कठिन माना गया है। इससे विषयेन्द्रिय का संयम इतना कठिन बन गया है—लगभग असक्य हो गया है। फिर जो शरीर रोग से अशक्त हो गया है, उसमें विषय-वासना सदैव अधिक रहती है। यह वैद्यों का अनुभव है। इसलिये भी हमारे रोग-ग्रस्त समाज को ब्रह्मचर्य का पालन करना कठिन जान पड़ता है।

ऊपर मैं क्षीण किन्तु नीरोगी शरीर के विषय में लिख आया हूँ कोई उसका अर्थ यह न लगावे कि शरीर-बल बढ़ाना ही न चाहिए। मैंने तो सूक्ष्म-तम ब्रह्मचर्य की बात अपनी अति स्वाभाविक भाषा में लिखी है।

उससे कदाचित् भ्रामकता फैले। जो सब इन्द्रियों के पूर्ण संयम का पालन करना चाहता है, उसे अन्त में शरीर-क्षीणता का अभिनन्दन करना ही पड़ेगा। जब शरीर का मोह और महत्त्व क्षीण हो जाय, तब शरीर-बल की इच्छा रही नहीं सकती। परन्तु विषयेन्द्रिय को जीतनेवाले ब्रह्मचारी का शरीर अति तेजस्वी और बलवान् होना चाहिए। यह ब्रह्मचर्य भी अलौकिक है। जिसकी विषयेन्द्रिय को स्वप्नावस्था में भी विकार न हो वह जगद्वन्दनीय

है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके लिये दूसरे संयम सरल हैं।

इसी ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में एक और सज्जन लिखते हैं— "मेरी स्थिति दयाजनक है। दफ़्तर में रास्ते में, रात को, पढ़ते समय, काम करते हुए, ईश्वर का नाम लेते हुए भी वही विचार आते रहते हैं। मन के विचार कैसे वश में रक्खे जायँ? स्त्री-मात्रा के प्रति मातृ-भाव कैसे उत्पन्न हो? आँख से शुद्ध वात्सल्य की ही किरणें किस प्रकार निकलें? दुष्ट विचार कैसे निर्मूल हों? 'ब्रह्मचर्य'-विषय का आपका लेख मैंने अपने पास रख छोड़ा है; परन्तु इस स्थान पर उससे कुछ भी लाभ नहीं होता है।"

यह स्थिति हृदय-द्रावक है! बहुतों की यह स्थिति होती है। परन्तु जबतक मन उन विचारों के साथ लड़ता रहता है, उस समय तक भय करने का कोई कारण नहीं है। आँख यदि दोष करती हों, तो उन्हें बंद कर लेना चाहिये, कान यदि दोष करें, तो उनमें रुई भर लेनी चाहिए। आँख को सदैव नीची रखकर चलने की रीति हितकर है। इससे उसे दूसरी बातें देखने का अवकाश ही नहीं मिलती। जहाँ दूषित बातें होती हों अथवा गन्दे गीत गाये जा रहे हों, वहाँ से उठकर भाग जाना चाहिए। स्वादेन्द्रिय पर खूब वश पैदा करना चाहिए।

मेरा अनुभव तो ऐसा है कि जिसने स्वाद नहीं जीता, वह विषय को नहीं जीत सकता। स्वाद को जीतना बहुत कठिन है। परन्तु इस विजय की प्राप्ति पर ही दूसरी विजय की सम्भावना है। स्वाद को जीतने के लिये एक नियम तो यह है कि मसालों का सर्वथा अथवा जितना हो सके, उतना त्याग करना चाहिए। और

दूसरा इससे अधिक बढ़कर यत्न यह है कि इस भावना की वृद्धि सदैव की जाय कि हम स्वाद के लिये नहीं वरन् केवल शरीर-रक्षा मात्र के लिये भोजन करते हैं। हम स्वाद के लिये हवा नहीं लेते, वरन् श्वास लेने के लिये लेते हैं। पानी हम केवल प्यास बुझाने के लिये पीते हैं। इसी प्रकार भोजन भी केवल भूख बुझाने के लिये ही करना चाहिए। हमारे माता-पिता बालकपन से ही हमें इसका उल्टा अभ्यास कराते हैं। हमारे पोषण के लिये नहीं वरन् अपना दुलार दिखाने के लिये हमें भाँति-भाँति के स्वाद चखाकर हमें बिगाड़ते हैं। हमें ऐसे वायुमंडल का विरोध करना होगा।

परन्तु विषयों को जीतने का सुवर्ण-नियम तो राम-नाम या ऐसा कोई दूसरा मन्त्र है। द्वादश मंत्र भी यही काम देता है। जिसकी जैसी भावना हो, वह वैसे ही मंत्र का जप करे। मुझे लड़कपन से राम-नाम सिखाया गया था। मुझको उसका सहारा बराबर मिलता रहता है, इस कारण मैंने उसे सुझाया है। जो मन्त्र हम जपें, उसमें हमें तल्लीन हो जाना चाहिए। भले ही मंत्र जपते समय दूसरे विचार आया करें, किन्तु तो भी जो श्रद्धा रखकर मन्त्र का जप करता रहेगा, उसे अन्त में सफलता अवश्य मिलेगी। मुझे इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं है। यह मन्त्र उसके जीवन का आधार बनेगा और उसे समस्त संकटों से बचावेगा। ऐसे पवित्र मन्त्रों का उपयोग किसीको आर्थिक लाभ के लिये कदापि न करना चाहिए। इन मन्त्रों का चमत्कार हमारी नीति को सुरक्षित रखने में है। यह अनुभव प्रत्येक साधक को थोड़े ही काल में मिल जायगा। हाँ, इतना याद रखना चाहिए कि इन मन्त्रों को तोते की भाँति रटने से कुछ भी लाभ

न होगा। उसमें अपनी आत्मा लगा देनी चाहिए। तोते तो यंत्र की तरह ऐसे मन्त्र पढ़ते रहते हैं। हमें उन्हें ज्ञान-पूर्वक जपना चाहिए। अवांछनीय विचारों को निवारण करने की भावना रखकर और मन्त्र की शक्ति में ऐसा कर सकने का विश्वास रखकर जपना चाहिए।

अठारहवाँ अध्याय

मनोवृत्तियों का प्रभाव

एक सज्जन लिखते हैं—"यंग इण्डिया" में सन्तान पर आपने जो लेख लिखे हैं, उन्हें मैं खूब मन लगाकर पढ़ता रहा हूँ। मुझे आशा है कि आपने जे० ए० हैडफील्ड की "साईकॉलोजी एन्ड मॉरल्स" नामक पुस्तक पढ़ी होगी। मैं आपका ध्यान इस पुस्तक के निम्न-लिखित उद्धरण की ओर दिलाना चाहता हूँ:—

"विषयभोग स्वेच्छाचार उस दशा में कहलाता है जब कि यह प्रवृत्ति नीति की विरोधी मानी जाती हो, और विषयभोग को निर्दोष आनन्द तब माना जाता है जब कि इस प्रवृत्ति को प्रेम का चिह्न माना जाय। विषय-वासना का इस प्रकार व्यक्त होना दाम्पत्य प्रेम को वस्तुतः गाढ़ा बनाता है, न कि उसे नष्ट करता है। किन्तु एक ओर तो मनमाना सम्भोग करने से, और दूसरी ओर सम्भोग के विचार को तुच्छ सुख मानने के भ्रम में पड़कर उससे बचे रहने से, प्रायः अशान्ति उत्पन्न होती है और प्रेम कम पड़ जाता है।" अर्थात् लेखक की समझ में सम्भोग से सन्तानोत्पत्ति तो होती है, उसके अतिरिक्त उसमें दाम्पत्य-प्रेम को बढ़ाने का धार्मिक गुण भी रहता है।

दूसरा इससे अधिक बढ़कर यत्न यह है कि इस भावना की वृद्धि सदैव की जाय कि हम स्वाद के लिये नहीं वरन् केवल शरीर-रक्षा मात्र के लिये भोजन करते हैं। हम स्वाद के लिये हवा नहीं लेते, वरन् श्वास लेने के लिये लेते हैं। पानी हम केवल प्यास बुझाने के लिये पीते हैं। इसी प्रकार भोजन भी केवल भूख बुझाने के लिये ही करना चाहिए। हमारे माता-पिता बालकपन से ही हमें इसका उल्टा अभ्यास कराते हैं। हमारे पोषण के लिये नहीं वरन् अपना दुलार दिखाने के लिये हमें भाँति-भाँति के स्वाद चखाकर हमें बिगाड़ते हैं। हमें ऐसे वायुमंडल का विरोध करना होगा।

परन्तु विषयों को जीतने का सुवर्ण-नियम तो राम-नाम या ऐसा कोई दूसरा मन्त्र है। द्वादश मंत्र भी यही काम देता है। जिसकी जैसी भावना हो, वह वैसे ही मंत्र का जप करे। मुझे लड़कपन से राम-नाम सिखाया गया था। मुझको उसका सहारा बराबर मिलता रहता है, इस कारण मैंने उसे सुझाया है। जो मन्त्र हम जपें, उसमें हमें तल्लीन हो जाना चाहिए। भले ही मंत्र जपते समय दूसरे विचार आया करें, किन्तु तो भी जो श्रद्धा रखकर मन्त्र का जप करता रहेगा, उसे अन्त में सफलता अवश्य मिलेगी। मुझे इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं है। यह मन्त्र उसके जीवन का आधार बनेगा और उसे समस्त संकटों से बचावेगा। ऐसे पवित्र मन्त्रों का उपयोग किसीको आर्थिक लाभ के लिये कदापि न करना चाहिए। इन मन्त्रों का चमत्कार हमारी नीति को सुरक्षित रखने में है। यह अनुभव प्रत्येक साधक को थोड़े ही काल में मिल जायगा। हाँ, इतना याद रखना चाहिए कि इन मन्त्रों को तोते की भाँति रटने से कुछ भी लाभ

न होगा। उसमें अपनी आत्मा लगा देनी चाहिए। तोते तो यंत्र की तरह ऐसे मन्त्र पढ़ते रहते हैं। हमें उन्हें ज्ञान-पूर्वक जपना चाहिए। अवांछनीय विचारों को निवारण करने की भावना रखकर और मन्त्र की शक्ति में ऐसा कर सकने का विश्वास रखकर जपना चाहिए।

अठारहवाँ अध्याय

मनोवृत्तियों का प्रभाव

एक सज्जन लिखते हैं—"यंग इण्डिया" में सन्तान पर आपने जो लेख लिखे हैं, उन्हें मैं खूब मन लगाकर पढ़ता रहा हूँ। मुझे आशा है कि आपने जे० ए० हैडफील्ड की "साईकॉलोजी एन्ड मॉरल्स" नामक पुस्तक पढ़ी होगी। मैं आपका ध्यान इस पुस्तक के निम्न-लिखित उद्धरण की ओर दिलाना चाहता हूँ:—

"विषयभोग स्वेच्छाचार उस दशा में कहलाता है जब कि यह प्रवृत्ति नीति की विरोधी मानी जाती हो, और विषय-भोग को निर्दोष आनन्द तब माना जाता है जब कि इस प्रवृत्ति को प्रेम का चिह्न माना जाय। विषय-वासना का इस प्रकार व्यक्त होना दाम्पत्य प्रेम को वस्तुतः गाढ़ा बनाता है, न कि उसे नष्ट करता है। किन्तु एक ओर तो मनमाना सम्भोग करने से, और दूसरी ओर सम्भोग के विचार को तुच्छ सुख मानने के भ्रम में पड़कर उससे बचे रहने से, प्रायः अशान्ति उत्पन्न होती है और प्रेम कम पड़ जाता है।" अर्थात् लेखक की समझ में सम्भोग से सन्तानोत्पत्ति तो होती है, उसके अतिरिक्त उसमें दाम्पत्य-प्रेम को बढ़ाने का धार्मिक गुण भी रहता है।

"यदि लेखक की यह बात सच है, तो मुझे आश्चर्य है कि आप अपने इस सिद्धान्त का समर्थन कि सन्तान पैदा करने की इच्छा से किया हुआ सम्भोग तो उचित है, अन्यथा नहीं। किस प्रकार कर सकते हैं मेरा तो अपना विचार यह है कि लेखक की उपर्युक्त बात बिलकुल सच है, क्योंकि केवल यही नहीं कि वह प्रसिद्ध मानसशास्त्रवेत्ता है, वरन् मुझे स्वयं ऐसे मामले मालूम हैं, जिनमें शरीर-संग के द्वारा प्रेम को व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा को रोकने की चेष्टा करने से ही दाम्पत्यजीवन नीरस या नष्ट हो गया है।

"अच्छा यह उदाहरण लीजिए:—एक युवक और एक युवती एक दूसरे के साथ प्रेम करते हैं और उनका यह करना सुन्दर तथा ईश्वर-कृत व्यवस्था का एक अंग है। किन्तु उनके पास अपने बालक को शिक्षा देने के लिये पर्याप्त धन नहीं है—और मैं समझता हूँ कि आप इससे सहमत हैं कि शिक्षा इत्यादि देने की योग्यता न रखते हुए सन्तान पैदा करना पाप है—या यह समझ लीजिए कि सन्तान पैदा करना स्त्री के स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होगा या यह कि उसे पहले ही बहुत से बच्चे हो चुके हैं।

"आपके कथनानुसार तो इस दम्पति के आगे केवल दो ही मार्ग हैं—या तो वे विवाह करके अलग रहें जिससे उनके बीच प्रेम की समाप्ति हो जायगी—किन्तु यदि ऐसा होगा तो हैडफील्ड की उपर्युक्त युक्ति के अनुसार अशान्ति उत्पन्न होगी, या वे विवाह ही न करें, किन्तु इस दशा में भी प्रेम तो जाता रहेगा। इसका कारण यह है कि प्रकृति तो मनुष्य-कृत योजनाओं की

अवहेलना ही किया करती है। हाँ, यह अवश्य हो सकता है कि वे एक दूसरे से अलग हो जायँ, किन्तु इस वियोग में भी उनके मन में विकार तो उठते रहेंगे ही। और यदि सामाजिक व्यवस्था ऐसी बदल दी जाय, जिसमें सब लोगों के लिये उतने ही बच्चों का पालन करना संभव हो जितने वे पैदा कर सकें, तो भी समाज को अतिशय सन्तानोत्पत्ति का, और प्रत्येक स्त्री को सीमा से अधिक सन्तान उत्पन्न करने का भय तो बना ही रहेगा। इसका कारण यह है कि पुरुष अपने को अत्यधिक रोके रहते हुए भी वर्ष में एक बच्चा तो पैदा कर ही लेगा। आपको या तो ब्रह्मचर्य का समर्थन करना चाहिए या सन्तान-निग्रह का; क्योंकि समय-समय पर किये हुए सम्भोग का परिणाम यह हो सकता है, जैसा कभी-कभी पादरियों में हुआ करता है कि ईश्वर की इच्छा के नाम पर पुरुष के द्वारा पैदा किया हुआ एक बच्चा प्रति वर्ष जनन करने से स्त्री मर जाय।

"जिसे आप आत्म-संयम कहते हैं, वह प्रकृति के कार्य में उतना ही बड़ा हस्तक्षेप है वरन् वास्तव में अधिक जितना कि गर्भाधान को रोकने के कृत्रिम साधन हैं। संभव है, पुरुष इन साधनों की सहायता से विषय-भोग में अतिशयता करे, परन्तु उससे सन्तति की उत्पत्ति तो रुक जायगी अन्त में इसका दुःख उन्हींको भोगना होगा—दूसरे को नहीं। इसके विपरीत जो लोग इन साधनों का उपयोग नहीं करते, वे भी अतिशयता के दोष से कदापि मुक्त नहीं हैं, और उनके पाप-परिणाम केवल उन्हींको नहीं, वरन् उनकी सन्तति को भी, जिनकी उत्पत्ति को वे रोक नहीं सकते भोगना पड़ता है। इँगलैण्ड में आजकल खानों के

मालिकों और मजदूरों में जो झगड़ा चल रहा है, उसमें खानों के मालिकों की विजय निश्चित है। इसका कारण यह है कि खानों के मजदूर बहुत बड़ी संख्या में हैं। और सन्तानोत्पत्ति की निरंकुशता से बेचारे बच्चों का ही बिगाड़ नहीं होता, वरन् समस्त मानव-जाति का होता है।"

इस पत्र में मनोवृत्तियों तथा उनके प्रभाव का अच्छा परिचय मिलता है। जब मनुष्य का मन रस्सी को साँप समझ लेता है, तब उस विचार के कारण वह पीला पड़ जाता है, और या तो वहाँ से भागता है या उस कल्पित साँप को मार डालने की इच्छा से लाठी उठाता है। दूसरे मनुष्य पर-स्त्री को अपनी पत्नी मान बैठता है और उसके मन में पशु-वृत्ति उत्पन्न होने लगती है। जिस क्षण वह उसे पहचानकर अपनी यह भूल जान लेता है, उसी क्षण उसका वह विकार ठण्डा पड़ जाता है।

यही बात उस सम्बन्ध में भी मान ली जाय जिसकी चर्चा पत्र-लेखक ने ऊपर की है। जैसा कि संभव है, सम्भोग की इच्छा को तुच्छ मानने के भ्रम में पड़कर उससे बचने से प्रायः अशान्ति उत्पन्न हो और प्रेम में कमी आ जाय—यह एक मनोवृत्ति का प्रभाव हुआ। किन्तु यदि संयम, प्रेम-बन्धन को अधिक दृढ़ बनाने के लिये रक्खा जाय, प्रेम को शुद्ध बनाने के लिये तथा एक अधिक अच्छे काम के लिये वीर्य का संचय करने के अभिप्राय से किया जाय, तो वह अशान्ति के स्थान पर शान्ति ही लावेगा और प्रेम-गाँठ को ढीली न करके उलटे उसे दृढ़ करेगा। यह दूसरी मनोवृत्ति का प्रभाव हुआ। जिस प्रेम का आधार पशुवृत्ति की तृप्ति है, वह अन्त में स्वार्थ ही है और थोड़े-से दबाव

से भी वह ठण्डा पड़ सकता है। फिर, जब पशु-पक्षियों की सम्भोग-तृप्ति का कोई आध्यात्मिक स्वरूप नहीं है, तब मनुष्यों में ही होनेवालों सम्भोग-तृप्ति को आध्यात्मिक स्वरूप क्यों दिया जाय? जो वस्तु जैसी है उसे हम वैसी ही क्यों न देखें? यह तो वंश को स्थिर रखने के लिये एक ऐसी क्रिया है, जिसकी ओर हम सब बलात्कार खींचे जाते हैं। हाँ, किन्तु मनुष्य अपवाद-स्वरूप है, क्योंकि वह एक ऐसा प्राणी है जिसको ईश्वर ने मर्यादित स्वतन्त्र इच्छा दी है और इसके बल से वह जाति-उन्नति के लिये और पशुओं की अपेक्षा उच्चतम आदर्श की पूर्ति के लिये, जिसके लिये वह संसार में आया है, इन्द्रिय-संयम करने की क्षमता रखता है। संस्कार के वश होकर ही हम यों मानते हैं कि सन्तानोत्पत्ति के कारण के सिवा भी स्त्री-प्रसङ्ग आवश्यक और प्रेम की वृद्धि के लिये इष्ट है। बहुतों का अनुभव यह है कि सन्तानोत्पादन की इच्छा के बिना केवल भोग के ही लिये किया हुआ स्त्री-प्रसंग प्रेम को न तो बढ़ाता है और न उसको बनाये रखने के लिये या उसको शुद्ध करने के लिये ही आवश्यक है। वास्तव में, ऐसे भी उदाहरण अवश्य दिये जा सकते हैं जिनमें इन्द्रिय-निग्रह से प्रेम और भी दृढ़ हो गया है। हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह आत्म-निग्रह पति और पत्नी को पारस्परिक आत्म-उन्नति के लिये अपनी इच्छा से करना चाहिए।

मानव-समाज तो लगातार उन्नति करती जानेवाली या आध्यात्मिक विकास करनेवाली वस्तु है। यदि मानव-समाज इस तरह उर्ध्वगामी है, तो उसका आधार शारीरिक आवश्यकताओं पर दिनों-दिन अधिकाधिक अंकुश रखने पर निर्भर होना चाहिये

इस प्रकार विवाह को तो एक ऐसी धर्म-ग्रंथि समझना चाहिए जो कि पति और पत्नी दोनों पर अनुशासन करे और उनपर यह सीमा आवश्यक कर दे कि वे सदा अपने ही बीच में इन्द्रिय-भोग करेंगे, और सो भी केवल सन्तति-जनन के कारण से और उसी दशा में जब कि वे दोनों उसके लिये उद्यत और इच्छुक हों। तब तो उक्त पत्र की दोनों बातों में प्रजोत्पादन की इच्छा को छोड़कर इन्द्रिय-भोग का और कोई प्रश्न उठता ही नहीं है।

जिस प्रकार उक्त लेखक सन्तानोत्पत्ति के अतिरिक्त भी स्त्री-संग को आवश्यक बतलाता है, उसी प्रकार यदि हम भी प्रारम्भ करें, तो तर्क के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। परन्तु संसार के प्रत्येक भाग में थोड़े-से उत्तम पुरुषों के सम्पूर्ण संयम के दृष्टान्तों की उपस्थिति में उक्त सिद्धान्त को कोई स्थान नहीं है। यह कहना कि ऐसा संयम अधिकांश मानव-समाज के लिये कठिन है, संयम की शक्यता और इष्टता के विरुद्ध कोई युक्ति नहीं हो सकती। सौ वर्ष पूर्व अधिकांश मनुष्यों के लिये जो शक्य नहीं था, वह आज शक्य पाया गया है। और असीम उन्नति करने के निमित्त हमारे सामने पड़े हुए काल के चक्र में १०० वर्षों की अवधि ही क्या है? यदि वैज्ञानिकों का अनुमान सत्य है, तो अभी कल ही तो हमको मनुष्य का चोला मिला था। उसकी मर्यादा को कौन जानता है? और किसमें साहस है कि कोई उसकी मर्यादा को स्थिर कर सके? निस्सन्देह हम नित्य ही भला या बुरा करने की निस्सीम शक्ति उसमें पाते रहते हैं।

यदि संयम की शक्यता और इष्टता मान ली जाय, तो हमको उसे करने के योग्य बनने के साधनों को ढूँढ़ निकालने की चेष्टा करनी चाहिए। और जैसा कि मैं अपने किसी पिछले लेख में लिख चुका हूँ, यदि हम संयम से रहना चाहते हों, तो हमें अपना जीवन-क्रम बदलना ही पड़ेगा। लड्डू हाथ में रहे और पेट में भी चला जाय—यह कैसे हो सकता है? यदि हम जननेन्द्रिय का संयम करना चाहते हैं, तो हमको अन्य सभी इन्द्रियों का संयम भी करना ही होगा। यदि हाथ, पैर, नाक, कान आँख इत्यादि की लगाम ढीली कर दी जाय, तो जननेन्द्रिय का संयम असम्भव है। अशान्ति चिड़चिड़ापन, हिस्टीरिया सिड़ीपन आदि, जिसके लिये लोग ब्रह्मचर्य का पालन करने के प्रयत्न को दोषी ठहराते हैं, वास्तव में अन्त समय अन्य इन्द्रियों के ही असंयम का फल सिद्ध होंगे। किसी भी पाप और प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करके कोई भी आदमी दंड से बच नहीं सकता।

मैं शब्दों के लिये झगड़ना नहीं चाहता। यदि आत्म-संयम भी प्रकृति के नियमों का ठीक वैसा ही उल्लंघन है, जैसे कि गर्भाधान को रोकने के कृत्रिम उपाय हैं, तो भले ऐसा कहा जाय। किन्तु मेरा विचार तब भी यही बना रहेगा कि इनमें यह उल्लंघन कर्तव्य और इष्ट है, क्योंकि इसमें व्यक्ति की तथा समाज की उन्नति होती है और इसके विपरीत दूसरे से उन दोनों का पतन होता है। सन्तति-निग्रह का एक ही सच्चा मार्ग है—ब्रह्मचर्य और स्त्री-प्रसंग के पश्चात् सन्तति-वृद्धि रोकने के कृत्रिम साधनों के प्रयोग से मनुष्य-जाति का नाश ही होगा।

अन्त में, यदि खानों के मालिक असंगत मार्ग पर होते हुए भी विजयी होंगे, तो इसलिये नहीं कि मजदूरों में संतति की संख्या बहुत बढ़ गई है, वरन् इसलिये कि मजदूरों ने एक भी इन्द्रियों के संयम का पाठ नहीं सीखा है। यदि इन लोगों के बच्चे न होते, तो इन्हें न तो उन्नति करने के लिये उत्साह ही होता और न तब उनके पास वेतन-वृद्धि माँगने के लिये कोई कारण ही होता। क्या मदिरा पीने, जुआ खेलने या तमाखू पीये बिना उनका काम नहीं चल सकता? क्या यही कोई उचित उत्तर हो जायगा कि खदानों के मालिक इन्हीं दोषों में लिप्त रहते हुए भी उनके ऊपर हावी हैं? यदि मजदूर लोग पूँजीपतियों से अच्छे होने का दावा नहीं कर सकते, तो उनको जगत की सहानुभूति माँगने का अधिकार ही क्या है? क्या इसीलिये कि पूँजीपतियों की संख्या बढ़े और पूँजीवाद का हाथ दृढ़ हो? हमें यह आशा देकर प्रजावाद की दुहाई देने को कहा जाता है। जब कि वह संसार में स्थापित हो जायगा तो हमें अच्छे दिन देखने को मिलेंगे। इसलिये हमें उचित है कि हम स्वयं उन्हीं बुराइयों का प्रचार आप ही न करें, जिनका दोष हम पूँजीपतियों तथा सम्पत्तिवाद पर लगाया करते हैं।

मुझे दुःख के साथ यह बात मालूम है कि आत्म-संयम सरलता से नहीं किया जा सकता। किन्तु उसकी धीमी गति से हमें घबराना न चाहिए। शीघ्रता से ... नहीं होता। अधैर्य से जन-साधारण में या मजदू... बड़ा भारी

शिक्षकों ने अपने अमूल्य अनुभव से हमको पढ़ाया है। जिन मूलाधार सिद्धान्तों की शिक्षा उन्होंने हमें दी है, उनकी परीक्षा आधुनिक प्रयोगशालाओं से कहीं अधिक सम्पन्न प्रयोगशाला में की गई थी। उनमें सब किसी ने हमें आत्म-संयम करने की ही शिक्षा दी है।

उन्नीसवाँ अध्याय

धर्म-संकट

"मैं ३० वर्ष का विवाहित पुरुष हूँ। मेरी धर्मपत्नी की भी प्रायः यही आयु है। हमें पाँच सन्तानें हुईं, जिनमें सौभाग्य से दो तो मर गई हैं। मैं अपने शेष बच्चों के प्रति अपने उत्तर-दायित्व को जानता हूँ। किन्तु उस उत्तरदायित्व को पूरा करना यदि असंभव नहीं तो मैं बहुत दुस्तर अवश्य पाता हूँ। आपने आत्म-संयम की सम्मति दी है। परन्तु, मैं पिछले तीन वर्षों से उसका पालन करता आ रहा हूँ, किन्तु अपनी सहधर्मिणी की इच्छाओं के बहुत ही विरुद्ध वह तो उसी वस्तु को माँगती है जिसे आम लोग जीवन का आनन्द कहते हैं। आप इतने ऊँचे पर बैठकर भले ही इसे पाप कह सकते हैं। किन्तु वह तो इस विषय पर आपकी इस दृष्टि से विचार नहीं करती और न उसे और अधिक बच्चे पैदा करने का ही भय है। उसे उत्तरदायित्व का वह ध्यान नहीं है, जिसके मुझमें होने का विश्वास कर मैं अपने को बड़भागी मानता हूँ। मेरे माता-पिता मेरी अपेक्षा मेरी पत्नी का ही अधिक साथ देते हैं और नित्य ही घर में दाँता-किलकिल मची रहती है। कामेच्छा की पूर्ति न होने से मेरी

अन्त में, यदि खानों के मालिक असंगत मार्ग पर होते हुए भी विजयी होंगे, तो इसलिये नहीं कि मजदूरों में संतति की संख्या बहुत बढ़ गई है, वरन् इसलिये कि मजदूरों ने एक भी इन्द्रियों के संयम का पाठ नहीं सीखा है। यदि इन लोगों के बच्चे न होते, तो इन्हें न तो उन्नति करने के लिये उत्साह ही होता और न तब उनके पास वेतन-वृद्धि माँगने के लिये कोई कारण ही होता। क्या मदिरा पीने, जुआ खेलने या तमाखू पीये बिना उनका काम नहीं चल सकता? क्या यही कोई उचित उत्तर हो जायगा कि खदानों के मालिक इन्हीं दोषों में लिप्त रहते हुए भी उनके ऊपर हावी हैं? यदि मजदूर लोग पूँजीपतियों से अच्छे होने का दावा नहीं कर सकते, तो उनको जगत की सहानुभूति माँगने का अधिकार ही क्या है? क्या इसीलिये कि पूँजीपतियों की संख्या बढ़े और पूँजीवाद का हाथ दृढ़ हो? हमें यह आशा देकर प्रजावाद की दुहाई देने को कहा जाता है। जब कि वह संसार में स्थापित हो जायगा तो हमें अच्छे दिन देखने को मिलेंगे। इसलिये हमें उचित है कि हम स्वयं उन्हीं बुराइयों का प्रचार आप ही न करें, जिनका दोष हम पूँजीपतियों तथा सम्पत्तिवाद पर लगाया करते हैं।

मुझे दुःख के साथ यह बात मालूम है कि आत्म-संय[म] सरलता से नहीं किया जा सकता। किन्तु उसकी धीमी गति [से] हमें घबराना न चाहिए। शीघ्रता से कुछ प्राप्त नहीं होता [।] अधैर्य से जन-साधारण में या मजदूरों के सामने बड़ा भा[री] काम पड़ा है। उनको संयम का वह पाठ अपने जीवन-क्रम [से] निकाल न देना चाहिए, जो कि मानव-जाति के बड़े-से-[बड़े]

शिक्षकों ने अपने अमूल्य अनुभव से हमको पढ़ाया है। जिन मूलाधार सिद्धान्तों की शिक्षा उन्होंने हमें दी है, उनकी परीक्षा आधुनिक प्रयोगशालाओं से कहीं अधिक सम्पन्न प्रयोगशाला में की गई थी। उनमें सब किसी ने हमें आत्म-संयम करने की ही शिक्षा दी है।

उन्नीसवाँ अध्याय

धर्म-संकट

"मैं ३० वर्ष का विवाहित पुरुष हूँ। मेरी धर्मपत्नी की भी प्रायः यही आयु है। हमें पाँच सन्तानें हुईं, जिनमें सौभाग्य से दो तो मर गई हैं। मैं अपने शेष बच्चों के प्रति अपने उत्तर-दायित्व को जानता हूँ। किन्तु उस उत्तरदायित्व को पूरा करना यदि असंभव नहीं तो मैं बहुत दुस्तर अवश्य पाता हूँ। आपने आत्म-संयम की सम्मति दी है। परन्तु, मैं पिछले तीन वर्षों से उसका पालन करता आ रहा हूँ, किन्तु अपनी सहधर्मिणी की इच्छाओं के बहुत ही विरुद्ध वह तो उसी वस्तु को माँगती है जिसे आम लोग जीवन का आनन्द कहते हैं। आप इतने ऊँचे पर बैठकर भले ही इसे पाप कह सकते हैं। किन्तु वह तो इस विषय पर आपकी इस दृष्टि से विचार नहीं करती और न उसे और अधिक बच्चे पैदा करने का ही भय है। उसे उत्तरदायित्व का वह ध्यान नहीं है, जिसके मुझमें होने का विश्वास कर मैं अपने को बड़भागी मानता हूँ। मेरे माता-पिता मेरी अपेक्षा मेरी पत्नी का ही अधिक साथ देते हैं और नित्य ही घर में दाँता-किलकिल मची रहती है। कामेच्छा की पूर्ति न होने से मेरी

स्त्री का स्वभाव इतना चिड़चिड़ा और क्रोधी हो गया है कि वह थोड़ी-सी बात पर उबल पड़ती है। अब मेरे सामने प्रश्न यह है कि मैं इस कठिनाई को हल कैसे करूँ? मेरी शक्ति के बाहर मुझे लड़के बाले हैं। उनका पालन करने योग्य धन मेरे पास नहीं है। पत्नी को समझा सकना बिल्कुल असम्भव-सा जान पड़ता है। यदि उसकी कामेच्छा पूरी न की जाय, तो यह भय है कि वह कहीं चली जाय या पगली हो जाय, या सम्भव है कहीं आत्म-हत्या कर बैठे। मैं आपसे कहता हूँ कि यदि इस देश का विधान मुझे आज्ञा देता, तो मैं उसी तरह सभी अनचाहे लड़कों को गोली मार देता, जिस तरह कि आप लावारिस कुत्तों को मरवाते। गत तीन महीनों से मुझे दिन-रात में दो समय भोजन प्राप्त नहीं हुआ है, नाश्ता या जलपान भी नहीं मिल सका है। मेरे सिर ऐसे काम-धन्धे भी पड़े हुए हैं कि जिनसे मैं क्रमशः कई दिनों तक उपवास भी नहीं कर सकता। पत्नी मुझसे कुछ सहानुभूति नहीं रखती, क्योंकि वह मुझे खफ़्ती या पागल-सा समझती है। 'सन्तति-निग्रह' के साहित्य से मैं परिचित हूँ। वह साहित्य बहुत लुभावने ढंग से लिखा गया है। और मैंने आत्म-संयम पर आपकी भी किताब पढ़ी है। मैं तो यहाँ बाघ और मगर के बीच में पड़ा हूँ।"

मैं पत्र-लेखक को कई वर्ष से जानता हूँ। वे युवक हैं। उन्होंने अपना पूरा नाम-ठाम पत्र में दिया है। उनके पत्र का सही सारांश ऊपर दिया गया है। अपना नाम देते हुए वे डरते थे। इसलिये वे लिखते हैं कि, 'यङ्गइण्डिया' में चर्चा की जा सकने की आशा से उन्होंने मेरे पास दो गुमनाम पत्र लिखे थे। इस तरह के

इतने अधिक गुमनाम पत्र मेरे पास आते रहते हैं कि मैं उनपर चर्चा करने में हिचकिचाता हूँ। उसी प्रकार इस पत्र पर भी चर्चा करने में मुझे बहुत झिझक है, यद्यपि मैं जानता हूँ कि यह पत्र सच्चा है और प्रयत्नशील पुरुप का लिखा हुआ है। यह विपय ही इतना नाजुक है। किन्तु मैं तो दावा करता हूँ कि ऐसे विपयों का मुझे पर्याप्त अनुभव है। ऐसा दावा करते हुए और मुख्यकर इसलिये कि कई ऐसे ही मामलों में मेरे ढंग से लोगों को छुटकारा मिला है, मैं इस स्पष्ट कर्तव्य के पालन से दिल नहीं चुरा सकता।

जहाँ तक अंग्रेजी पढ़े-लिखे-लोगों से सम्बन्ध है, यहाँ की स्थिति दुगुनी कठिन है। सामाजिक योग्यता की दृष्टि से पति-पत्नी के बीच इतना भारी अन्तर होता है कि जिसे मिटाना असम्भव है। कुछ नवयुवक यह सोचते हुए जान पड़ते हैं कि अपनी पत्नियों का ध्यान न रखने में ही हमने यह प्रश्न हल कर लिया है, यद्यपि उन्हें भलीभाँति पता है कि उनकी विरादरी में तलाक सम्भव नहीं है और इसलिये उनकी पत्नियाँ पुनर्विवाह नहीं कर सकतीं। और तो भी दूसरे लोग—और इन्हीं की संख्या बहुत अधिक है अपनी पत्नियों को केवल आनन्द लूटने का साधन बनाते हैं और उन्हें अपने मानसिक जीवन में भाग नहीं देते। बहुत ही थोड़े लोग ऐसे हैं जिनका अंतःकरण जागृत हुआ है—किन्तु उनकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। उनके सामने भी वैसी ही नैतिक समस्या आ खड़ी हुई है जैसी कि मेरे पत्र-लेखक के सामने है।

मेरी सम्मति में सम्भोग को यदि उचित या नियमानुकूल मानना है, तो उसकी आज्ञा तभी दी जा सकती है जब कि दोनों पक्ष उसकी चाहना करें। पति को पत्नी से या पत्नी को पति से

अपनी कामेच्छा की पूर्ति बल-पूर्वक कराने के अधिकार को मैं नहीं मानता। और यदि इस विषय में मेरी स्थिति सही है तो पति पर ऐसा कोई नैतिक दबाव नहीं है कि जिससे वह पत्नी की माँगें पूरी करने को बाध्य हो। किन्तु यों अस्वीकार करने से ही पति पर और भी बड़ा भारी और ऊँचा उत्तरदायित्व आ पड़ता है। वह अपने आपको बहुत बड़ा साधक मानता हुआ अपनी पत्नी को घृणा की दृष्टि से नहीं देखेगा, किन्तु नम्रता-पूर्वक इसे स्वीकार करेगा कि उसके लिये जो बात आवश्यक नहीं है, वही उसकी पत्नी के लिये परमावश्यक वस्तु है। इसलिये वह उसके साथ अत्यन्त नम्रता का व्यवहार करेगा और अपनी पवित्रता में यह विश्वास रक्खेगा कि उसकी पत्नी अपनी वासना को अत्यन्त ऊँचे प्रकार की शक्ति-रूप में बदल सकेगी। इसलिये उसे अपनी पत्नी का सच्चा मित्र नायक और वैद्य बनना होगा। पत्नी में उसे पूरा-पूरा विश्वास करना होगा, उससे कुछ भी छिपाना न होगा और अटूट धैर्य से उसे अपनी पत्नी को इस काम का नैतिक आधार समझाना पड़ेगा; यह बतलाना होगा कि पति-पत्नी के बीच सचमुच में कैसा सम्बन्ध होना चाहिए और विवाह का सच्चा अर्थ क्या है। यह काम करते हुए वह देखेगा कि पहले जो बहुत-सी बातें स्पष्ट नहीं थीं, अब स्पष्ट हो जायँगी और यदि उसका अपना संयम सच्चा होगा, तो वह अपनी पत्नी को अपने और भी निकट खींच लेगा।

इस उदाहरण के विषय में तो मुझे कहना ही पड़ेगा कि केवल और अधिक सन्तानोत्पादन से बचने की इच्छा ही पत्नी को सन्तुष्ट करने से इनकार करने का पर्याप्त कारण नहीं है। बच्चों का भार उठाने के भय से पत्नी की प्रेमयाचना को अस्वीकार

करना तो कायरता-सी है। अगणित सन्तानोत्पादन को रोकना दोनों पक्षों के अलग-अलग या साथ-साथ अपनी कामवासना पर लगाम लगाने का अच्छा कारण है, किन्तु दम्पति में से एक के अपने संग से एकत्र शयन का अधिकार छीन लेने का यह भरपूर कारण नहीं है।

और अन्त में बच्चों से इतनी घबराहट ही किसलिये हो? अवश्य ही ईमानदार, परिश्रमी और बुद्धिमान् पुरुषों के लिए कई लड़कों का पालन कर सकने की कमाई करने की गुंजाइश तो है ही। मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरे पत्र-लेखक-जैसे आदमी के लिये, जो देश-सेवा में अपना सारा समय लगाने की सच्ची चेष्टा ईमानदारी से करता है, बड़े और बढ़ते हुए परिवार का पालन करना और साथ-ही-साथ देश की भी सेवा करना, जिसकी करोड़ों भूखी सन्तानें हैं, कठिन है। मैंने इन पृष्ठों में प्रायः लिखा है कि जब तक भारतवर्ष दास है, यहाँ बच्चे पैदा करना ही भूल है। किन्तु यह तो नवयुवकों और युवतियों के विवाह ही न करने का बड़ा अच्छा कारण है; एक के दूसरे को दाम्पत्य सहयोग न देने का पर्याप्त कारण नहीं है। हाँ, सहयोग न करना—सम्भोग न करना—भी उचित हो सकता है, वरन् न करना ही धर्म हो जाता है, जब कि शुद्ध धर्म के नाम पर ब्रह्मचर्य-पालन की इच्छा अदम्य हो उठे। जब वह इच्छा सचमुच में पैदा हो जायगी, तब उसका बड़ा अच्छा प्रभाव दूसरे पर भी पड़ेगा। यदि मान लेवें कि समय पर उसका भला प्रभाव भी पड़ा, तो भी जीवन-सङ्गी के पागल हो जाने या मर जाने की जोखिम उठाकर भी ब्रह्मचर्य-पालन करना कर्तव्य हो जाता है। ब्रह्मचर्य के लिये भी वैसे ही वीरता-पूर्ण

त्याग की आवश्यकता है जैसे कि सत्यता या देशोद्धार के लिए है। मैंने ऊपर जो लिखा है, उसे दृष्टि में रखते हुए यह कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती कि कृत्रिम उपायों से सन्ताननिग्रह करना अनैतिक है और मेरे तर्क के नीचे जीवन की जो भावना छिपी हुई है, उसमें इसे स्थान नहीं है।

बीसवाँ अध्याय

परिशिष्ट

जनन और प्रजनन

["ओपन कोर्ट" नामक एक अङ्गरेज अङ्गरेजी मासिक-पत्र में लिखे श्री विलियम लोफ्टस हेयर के इस विषय के एक लेख का अनुवाद नीचे दिया है।—सं•]

प्राणि-शास्त्र में जनन

एक-कोषीय जीवों की अनुवीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षा करने पर पता चला है कि क्षुद्रतम जीवों में वंश-वृद्धि के लिये शरीर के टुकड़े स्वयं हो जाते हैं। पोषण पाने से ऐसे जीव के शरीर की वृद्धि होती जाती है और जब वह अपनी जाति की अपेक्षा बड़े-से-बड़ा हो जाता है तब उसके दो विभाग होने लगते हैं और धीरे-धीरे शरीर के ही दो टुकड़े हो जाते हैं। साधारण सुविधाएँ यानी पानी और पोषण प्राप्त होते जाने पर ज्ञात होता है कि इन्हीं क्रियाओं में उसका सारा जीवन-समाप्त हो जाता है, किन्तु वे सुविधाएँ न मिलने पर, कभी-कभी दो कोषों का एक में मिलकर पुनर्यौवन होते हुए भी देखा जाता है, परन्तु उनके मिलन से सन्तानोत्पत्ति नहीं होती।

बहु-कोषीय जीवों में भी पोषण और वृद्धि की क्रियाएँ नीचे के जीवों के समान ही चलती हैं, परन्तु एक और नई क्रिया देखने में आती है। शरीर के अलग-अलग कोषपुञ्जों के काम प्रायः अलग-अलग होते हैं; कुछ पोषण प्राप्त करते हैं तो कुछ उसे बाँटने का काम करते हैं, कुछ गति के लिये हैं तो कुछ रक्षा के लिये, जैसे कि चमड़ा। वे कोषपुञ्ज शरीर-विभजन की प्राथमिक क्रिया छोड़ देते हैं, जिन्हें, कुछ नये काम मिलते हैं। किन्तु कुछ कोषपुञ्जों के प्रति, जिन्हें शरीर में कुछ और भीतरी जगह मिलती है वह काम बचा रहता है। दूसरे पुञ्ज, जिनमें परिवर्तन हो चुका है, इनकी रक्षा और सेवा करते हैं, किन्तु ये ज्यों-के-त्यों ही बने रहते हैं। उनमें विभजन पहले जैसा ही होता है; किन्तु बहु-कोषीय शरीर के भीतर ही; और समय पाकर कुछ तो बाहर भी निकाल दिये जाते हैं। तथापि उन्हें एक नई शक्ति मिल जाती है। अपने पूर्वजों के समान दो टुकड़े हो जाने के बदले उनके पुंजों का विभजन—या वृद्धि, अलग-अलग टुकड़े हुए बिना ही होती है। यह क्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक वह प्राणी, अपनी जाति की अपेक्षा पूर्ववृद्धि को नहीं पहुँच जाता किन्तु उसके शरीर में हम एक नई बात देख पाते हैं; वह यह कि मौलिक कीटाणुओं का काम केवल बाह्य-जनन का ही नहीं रह जाता वरन् आन्तरिक कोषों की उत्पत्ति के लिये, भी वे जहाँ कहीं आवश्यकता पड़ती है, कोष दिया करते हैं। इस प्रकार, ये किसी मुख्य काम के लिये पहले ही से निश्चित न किये गये कोष, एक साथ ही दो काम करते हैं, यानी आन्तरिक प्रजनन या शरीर का विकास और बाह्य-जनन या वंश-वृद्धि का कार्य। यहाँ हम

प्रजनन और जनन इन दो क्रियाओं का अन्तर स्पष्ट समझ ले
एक और महत्वपूर्ण बात है। प्रजनन—आन्तरिक विकास-
व्यक्ति के लिये परमावश्यक है और इसलिये आवश्यक अ
पहला काम है; जनन या वंश-विस्तार का काम तो कोषों
अधिकता होने से ही होगा और इसलिये दूसरा कम मह
का है। कदाचित् दोनों ही पोषण पर निर्भर रहते हैं, क्यों
यदि पोषण पूरा न मिले तो आन्तरिक विकास का काम ठीक
हो सकेगा और न कोषों की अधिकता होगी, न वंश-विस्तार
होने की आवश्यकता या सम्भावना होगी। इसलिये जीवन
नियम यह है कि इस स्थिति में पहले प्रजनन के लिए जीवकोष
का पोषण किया जाय और तब कहीं जनन के लिये। यदि पोषण
पूरा न हो सके तो उस पर पहला अधिकार होगा प्रजनन का,
और जनन की क्रिया बन्द रखनी होगी। यों हम सन्तानोत्पत्ति
की रोक के मूल का पता पा सकते हैं और इसी की पिछली
स्थितियों, ब्रह्मचर्य और वैराग्य तक प्रायः जा सकते हैं।
आन्तरिक प्रजनन की क्रिया कभी रुक नहीं सकती और उसके
रुकने का अर्थ है, मृत्यु और, इसी प्रकार मृत्यु की जड़ को भी
हम देख पाते हैं।

जीव-विद्या में प्रजनन

मनुष्यों और पशुओं में लिङ्गभेद अपनी चरम सीमा तक
पहुँच गया है और सामान्य नियम बन गया है। इन जीवों का
विचार करने के पहले हमें बीच की स्थिति को देखना पड़ेगा,
अर्थात् वह जो अलिङ्गिक स्थिति (एक कोषीय जीव) के बाद
और द्वि-लिङ्गिक स्थिति के पहले की है। इसे समय-लिङ्गी का

नाम दिया गया है क्योंकि इसमें नर और मादा, दोनों के गुण विद्यमान होते हैं। अब भी कुछ ऐसे जीव हैं, जिनमें यह स्थिति देखने में आती है। उनमें आन्तरिक कोषों की वृद्धि तो उसी प्रकार होती जाती है, किन्तु कुछ कोषों के शरीर से बिलकुल निकल जाने के बदले, वे एक अंग से दूसरे अंग में चले जाते हैं और वहीं उनका पोषण तब तक होता रहता है, जब तक वे स्वतंत्र जीवन के योग्य नहीं हो जाते।

विकास का नियम यह जान पड़ता है कि चाहे एक कोषीय जीव हो या बहु कोषीय या उभय-लिङ्गी, किन्तु सभी दशाओं में सन्तान का विकास वहाँ तक होते जाना सम्भव है, जहाँ तक कि उसके माता-पिता का, उसके उत्पन्न होने के समय तक हो चुका था। इस प्रकार यह तो व्यक्ति की हीं उन्नति हुई; जब कभी उसे सन्तान होती है, वह व्यक्ति ही, पहले से उच्चतम स्थिति में पहुँचता है, या पहुँचता होगा; फलतः उसकी सन्तान अपने माता-पिता के साधारण विकास को प्राप्त हो सकेगी। प्रत्येक जाति और व्यक्ति के लिये जनन-शक्ति की अवधि अलग-अलग होगी, किन्तु आदर्श रूप में तो वह यौवनावस्था से लेकर वृद्धावस्था के प्रारंभ तक होती है। समय से पहले या वृद्धावस्था में सन्तानोत्पत्ति होने से, सन्तान में माता-पिता की निर्बलता उतर आयेगी। यहाँ हम तब शारीरिक नियमों के अनुसार सम्भोग-नीति का एक नियम देख पाते हैं। वंश-विस्तार और शरीर के आन्तरिक प्रजनन के विचार से सन्तानोत्पत्ति के लिये सबसे अधिक लाभकर समय केवल पूर्ण यौवन ही है।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। उभय-लिङ्गिक सृष्टि के

साथ-साथ एक नई बात देखने में आती है वह यह है कि दोनों लिङ्गों के उसके अंग केवल अलग-ही-अलग नहीं रहते वरन् स्वतंत्र रूप से अपने-अपने शुक्रकोष बनाते जाते हैं। नर-अंग तो पुराना आन्तरिक जनन का काम, शुक्रकोषों को बना-बनाकर करता ही जाता है—जिन्हें बाहर निकालकर मादा-पिण्ड में प्रवेश कराने के कारण वीर्यकीट कहते हैं—और मादा अङ्ग भी अपने जीवकोष बनाते ही जाते हैं; किन्तु पुरुष-अंग के जीवकोष को गर्भाधान के लिये रख लेते हैं, न कि निकाल देते हैं। प्रत्येक दशा में व्यक्ति के लिये, आन्तरिक प्रजनन प्राथमिक और परमावश्यक कार्य है। गर्भाधान के पश्चात् प्रति क्षण में जीव का आन्तरिक प्रजनन होता रहता है। मनुष्य जाति में यौवनावस्थ में सन्तानोत्पत्ति हो सकती है, किन्तु केवल जाति के लिये उससे व्यक्ति को लाभ पहुँचना आवश्यक नहीं है। नीची श्रेणियों के समान यहाँ भी यदि आन्तरिक प्रजनन की क्रिया रुक जाय, या ठीक-ठीक न चले, तो बीमारी या मौत आवेगी। यहाँ भी जाति और व्यक्ति के हितों में चढ़ा-ऊपरी है। यदि कोष उबरते न हों तो, बाह्य जनन में कोष कम करने से आन्तरिक प्रजनन के काम में विघ्न पड़ेगा ही। हकीकत तो यह है कि सभ्य मनुष्यों में संतानोत्पत्ति की आवश्यकता से कहीं अधिक संभोग हुआ करता है, और वह भी आन्तरिक प्रजनन के मत्थे, जिसके कारण रोग, मृत्यु और दूसरे कष्ट घर कर लेते हैं।

मनुष्य-शरीर का कुछ और ध्यान से हम विचार करें। उदाहरण के लिये हम पुरुष-शरीर को लेंगे, यद्यपि आवश्यक हेर-फेर के साथ स्त्री-शरीर में भी वे ही क्रियाएँ दिखलाई पड़ती हैं।

शुक्र-कोषों का केन्द्रीय कोष ही जीव का सबसे पुराना और मौलिक स्थान है। आरम्भ से गर्भस्थ जीव कोषों की बढ़ती से, जिनका माता के शरीर से पोषण होता है, हर घड़ी बढ़ता रहता है। यहाँ भी जीवन का नियम है, "शुक्र कोषों का पोषण करो" जब वे बढ़ते और उनका वर्गीकरण होता है, तब वे आवश्यकता के अनुसार अस्थायी नये रूप या नये काम लेते हैं। जन्म की घड़ी से इसमें कोई बड़ा अन्तर नहीं पड़ता। पहले शुक्र-कोषों को जो पोषण नाभि-नाल से मिलता था, वह अब मुँह के रास्ते मिलने लगता है। वे संख्या में जल्दी-जल्दी बढ़ने लगते हैं, और, जहाँ कहीं पुराने अङ्गों को ठीक करने की आवश्यकता हुई, जो सदैव बनी ही रहती है, वहाँ ये व्यवहार किये जाते हैं। नाड़ियों के द्वारा ये अपने स्थान से लेकर सारे शरीर में फैलाये जाते हैं। बड़े-बड़े समूहों में वे मुख्य काम ले लेते हैं और शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों का पोषण करते हैं। वे हजारों बार मौत को गले लगाते हैं, जिसमें उनका कोष-समाज जीता रहे। मुर्दे कोष शरीर की वह पर आ जाते हैं, और मुख्यकर हड्डियों, दाँतों, चमड़े और बालों को दृढ़ बनाने के काम में आते हैं, जिसमें शरीर की शक्ति बढ़े और ठीक रक्षा हो। व्यक्ति के उच्च जीवन और उसपर निर्भर सभी बातों का मूल्य इनकी मौत से चुकाया जाता है। यदि ये पोषण न लें, दूसरे कोषों को पैदा न करें, अलग-अलग न हो जायँ, भिन्न-भिन्न वर्गों में न बटें, और अन्त में मरें नहीं तो शरीर स्थिर ही नहीं रह सकता।

शुक्र से या वीर्य से दो तरह के जीवन मिलते हैं। १—आन्तरिक या प्रजनन का; २—बाह्य या जनन का, वंश-विस्तार

वाला। जैसा कि हम कह चुके हैं, शरीर के जीवन का आधार आन्तरिक प्रजनन है और इसको तथा ऊपरी जनन को एक ही आधार पर निर्भर रहना पड़ता है। इसी कारण यह सहज ही देखा जा सकता है कि मुख्य-मुख्य दशाओं में ये दोनों क्रियाएँ संभवतः परस्पर विरोधिनी हो सकती हैं, परस्पर शत्रुता रख सकती हैं।

प्रजनन और अचेतन

प्रजनन की क्रिया कुछ यन्त्र के काम की भाँति नहीं है। प्रारंभिक काल में कोषों के विभजन से प्रजनन का जैसा सजीव कार्य होता था, वैसा ही सजीव अब भी होता है—अर्थात् वह बुद्धि और इच्छा पर निर्भर रहता है। किन्तु यह सोचना असम्भव है कि जीवन का काम नितान्त निर्जीव कल की भाँति होता है। हाँ, यह सच है कि मूलीभूत बातें हमारी वर्तमान जागृति से इतनी दूर जा पड़ी हैं कि वे मनुष्य की या पशु की इच्छा के अधीन नहीं मालूम होतीं; किन्तु एक क्षण के बाद ही हमें विदित हो जाता है कि जिस प्रकार एक पुष्ट शरीरवाले पुरुष की सभी बाह्य क्रियाओं का नियंत्रण उसकी इच्छा-शक्ति करती है, और उसका काम ही यही है, उसी प्रकार शरीर के क्रमशः होते हुए सङ्गठन के ऊपर भी इच्छा शक्ति का कुछ अधिकार अवश्य होना चाहिये। मनोवैज्ञानिकों ने उनका नाम असंकल्प रक्खा है। यह हमारे नित्य नैमित्तिक विचारों से दूर होते हुए भी, हमारा ही एक विशेष अङ्ग है। यह अपने काम में इतना जागरुक और सावधान रहता है कि हमारा चैतन्य कभी-कभी सुप्तावस्था में पड़ जाता है, किन्तु वह एक क्षण के लिये भी नहीं सोता! हमारे असंकल्प और अविनश्वर अंश की जो प्राय:

अपूर्व हानि शरीर-सुख के लिये किये गये विषय-भोग से होती है, उसका अनुमान कौन लगा सकता है ? प्रजनन का फल मृत्यु है। विषय-सम्भोग पुरुष के लिये प्राणघातक है और प्रसूति के कारण स्त्री के लिये भी वैसा ही है।

तब अचेतन ही वह जीव-शक्ति है जो प्रजनन की कठिन क्रियाओं का संचालन करती है। इसका पहला काम गर्भस्थित जीव-पिण्ड को अन्य दूसरे कोषों से अलग करना है। इसके बाद से जीव-पिण्ड को वह मौत तक मूल शुक्र-कोषों को अपने में लेकर और उनको अपने-अपने अङ्गों में भेजकर जीवित रखता है।

यहाँ, कई नामी मानस-शास्त्रियों से मैं विरुद्ध जाता मालूम होऊँगा, किन्तु मेरी समझ में अचेतन का सम्बन्ध केवल व्यक्ति से रहता है न कि जाति से, अर्थात् उसका पहला काम है प्रजनन, केवल एक प्रकार से कहा जा सकता है कि अचेतन का सम्बन्ध जाति से होता है। जहाँ तक अचेतन व्यक्ति की उन्नति कर सका है, उसे जैसा बना सका है, वैसा ही बनाये रखना चाहता है। किन्तु वह असम्भव को तो सम्भव कर नहीं सकता। चेतन की सहायता से भी शरीरधारी का जीवन सदैव के लिये वह बनाये रख नहीं सकता। इसलिये सम्भोग की प्रवृत्ति या इच्छा के द्वारा वह अपने आपको पैदा करना चाहता है। यहाँ पर चेतन और अचेतन मिल गये-से कहे जा सकते हैं। सम्भोग से साधारणतया जो आनन्द मिलता है, उसे व्यक्ति के सुख के अतिरिक्त किसी दूसरे हेतु की पूर्ति कहा जा सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये व्यक्ति नहीं जानता कि उसे कितना अधिक मूल्य देना पड़ता है।

जनन और मृत्यु

इस लेख में विशेषज्ञों के लेखों से उद्धरण देना तो ठीक नहीं है, किन्तु विषय के महत्व और साधारण अज्ञान के कारण मुझे विवश होकर कुछ प्रामाणिक उद्धरण देने ही पड़ते हैं। एक कोषीय जीवों के सम्बन्ध में श्री 'रे लैंकेस्टर' लिखते हैं—"इनमें शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाने से वंश-विस्तार होता जाता है; और इस प्रकार के जीवों में स्वाभाविक मृत्यु को कोई स्थान ही नहीं है।"

श्री 'वाइसमैन' लिखते हैं—"प्राकृतिक मृत्यु तो केवल बहुकोषीय जीवों में ही होती है। एककोषीय जीव उनसे बच जाते हैं। उनके विकास का कभी अन्त नहीं होता, जिसका मिलान हम मृत्यु से कर सकें, और न नई देह बनने का अर्थ है पुरानी का मरना। टुकड़े होने में दोनों ही समान वय के हैं, न कोई पुराना है न कोई नया। इस प्रकार एक-एक जीव की अनन्त श्रेणी चलती है, जिनमें प्रत्येक उतना ही पुराना होता है, जितनी कि जाति और हरएक को अनन्त काल तक जीते रहने की शक्ति होती है, उसके टुकड़े सदैव होते जाते हैं, किन्तु वह कभी मरता नहीं है।"

श्री 'पैट्रिक गिडिस' लिखते हैं:—"यों हम कह सकते हैं कि नये शरीर का मूल्य मृत्यु है। नया शरीर के पाने का मूल्य कभी न कभी मौत के रूप में देना ही पड़ता है। कार्य-भेद से जिनमें स्वरूप का भेद है, ऐसे कोषों के पुञ्ज को शरीर कहते हैं। ऐसे शरीर का नाश अवश्यम्भावी है। × —"इस प्रकार शरीर तो कुछ सीमा तक जीवन के सच्चे आधार—शुक्रकोषों—को ढोने वाला वाहन-भर मालूम पड़ता है।"

श्री 'रे लैंकेस्टर' कहते हैं:—"बहुकोषीय जीवों में शरीर के

और अङ्गों से कुछ कोष अलग हो जाते हैं। × × ऊँची श्रेणी के जीवधारियों के शरीर, जो मरणशील होते हैं, इस दृष्टि से निहायत अनावश्यक और क्षणिक माने जा सकते हैं, जिनका काम है, अपने से अधिक महत्वपूर्ण और अमर संयोग कलों या शुक्र-कीटों को केवल कुछ दिनों के लिये ढोते भर रहना।"

किन्तु हमारे सामने सबसे अधिक आश्चर्यजनक और महत्व-पूर्ण बात तो है, ऊँची श्रेणी के जीवों में सन्तानोत्पत्ति और मृत्यु में घनिष्ट सम्बन्ध का होना। इस विषय पर कितने ही वैज्ञानिक खूब स्पष्टता से लिखते भी हैं।

प्रजोत्पत्ति का बदला मौत है

कई जाति के जीवों में यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है, जिनमें वंश-वृद्धि में ही माता या पिता को प्रायः जान से हाथ धोना पड़ता है। सन्तानोत्पत्ति के बाद भी जीना तो जीवन की विजय है, जो सदैव नहीं होती और किसी-किसी जाति में तो कभी नहीं। मौत पर अपने लेख में महाकवि 'गेटे' ने खूब ही दिखलाया है कि प्रजोत्पत्ति और मौत का सम्बन्ध बहुत घनिष्ट है, और होना ही चाहिए। हम दोनों को ही मौत को बुलाने वाली क्रियाएँ कह सकते हैं। श्री 'पैट्रिक गिडिस' इस विषय पर लिखते हैं:—"मौत और वल्दियत का गाढ़ा सरोकार है, किन्तु साधारणतया इसे दूसरे ढंग से कहा जाता है। लोग कहते हैं कि जीवों को मर जाना है, इसलिये उन्हें बच्चे पैदा करने ही होंगे, नहीं तो जाति का अन्त हो जायगा। किन्तु पिछली बातों पर इतना ज़ोर देना तो पीछे की खोज है। सची बात तो यह है

कि बच्चे इसलिये पैदा नहीं किये जाते, वरन् जीव इसलिये मरते हैं कि वे बच्चे पैदा करते हैं।"

श्री गेटे ने संक्षेप में ही कहा है:—"मौत होगी ही, इसलिये बच्चे पैदा करना आवश्यक नहीं है, वरन् संतानोत्पादन का अवश्यम्भावी फल ही मृत्यु है।"

कितने ही उदाहरण देने के बाद श्री 'गिडिस' इन महत्वपूर्ण शब्दों से अपना लेख समाप्त करते हैं:—"ऊच श्रेणी के जीवों में वंशोत्पत्ति के लिये आत्म-त्याग से मौत तो बहुत घट गई है, किंतु तो भी मनुष्यों में भी कामोपभोग का फल-स्वरूप प्राणान्त हो सकता है। यह तो सभी कोई जानते हैं कि संयत भोग-विलास से भी शरीर कुछ दिनों के लिये खाली हो जाता है और शारीरिक शक्तियों के घटने पर सभी रोगों का होना अधिक संभव हो जाता है।"

थोड़े में इस चर्चा का सारांश देकर इसे यों समाप्त किया जा सकता है कि मनुष्यों में संभोग से पुरुष की मृत्यु अवश्य निकट आती है, और बच्चे पैदा करने व उन्हें पालने-पोसने में स्त्री की भी।

ऐयाशी से शरीर पर पड़नेवाले प्रभावों पर पूरा एक अध्याय ही लिखा जा सकता है। अखण्ड या प्रायः पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करनेवालों के लिये सबलता, पूर्णायु, जीवन-शक्ति, रोगों से रक्षा तो स्वाभाविक बात होती है। इसका एक प्रमाण यह है कि निर्बल मनुष्यों के बहुत से रोग कृत्रिम रूप से सुई के द्वारा शुक्र को रुधिर में पहुँचाने से छूट जाते हैं।

लेख के इस भाग में दिये गये निष्कर्षों को स्वीकार करने में भले ही कई पाठकों को हिचकिचाहट हो सकती है। इसपर कई

आदमी दिखलाने लगेंगे कि 'ये बड़े बूढ़े लोग' जिनके कई एक लड़के हुए अब भी स्वस्थ और सबल हैं। और फिर यह देखिये कि अविवाहितों से विवाहित ही अधिक दिन जीते हैं। किन्तु इसके सामने इन युक्तियों की कोई पहुँच नहीं है, क्योंकि विज्ञान की दृष्टि में मृत्यु केवल जीवन के अन्त का ही नाम नहीं है, वरन् मौत एक क्रिया है जो जन्म से ही आरम्भ होकर जीवन-रूपी क्रिया के साथ-साथ आजीवन क्षण-क्षण चालू रहती है। शरीर का पोषण करनेवाली जीवनी-शक्ति और शरीर को क्षीण करनेवाली विनाश-शक्ति दोनों ही जीवन-मरण की एकत्र रहने-वाली विभूतियाँ हैं। बचपन और यौवन में पहली शक्ति अर्थात् जीवन-क्रिया बढ़ती पर रहती है; प्रौढ़ावस्था में दोनों क्रियायें बराबरी से साथ-साथ चलती रहती हैं, और जीवन के पिछले हिस्से अर्थात् बुढ़ापे में दिनों-दिन मौत की क्रियायें बढ़ती जाती हैं और अन्त में प्राणान्त के साथ बाजी मार ले जाती हैं। अब मृत्यु की इस विजय की घड़ी को जो कोई क्रिया थोड़ी ही निकट लावे, एक क्षण, एक दिन, एक वर्ष या कई वर्ष, वह मौत की क्रिया का ही एक अङ्ग गिनी जायगी। और विषय-भोग ऐसी ही क्रिया है, मुख्यकर जब वह बहुत अधिक किया जाय।[1]

मैं केवल इसी बात पर ज़ोर देना चाहता हूँ कि मौत एक मुख्य घटना ही नहीं है, वरन् एक निरन्तर चालू क्रिया की परिणति इसका अंतिम परिणाम है। जिन्हें अब भी सन्देह हो, वे ये किताबें देखें।

[1] The Problem of Age, Growth and Death by Charles S. Minot [1908, John Murray] and Regeneration, The

Gate of Heaven by Dr. Kemeeth Sylvan Guthrie [Bostam The Barta Press.]

मानस

जनन और प्रजनन की विरोधी शक्तियाँ शरीर को टिकाये रहती हैं, इसका पता शरीर के उच्च अंगों, जैसे, मुख्यकर मानस (मस्तिष्क और ज्ञान-तन्तु-जाल) के कामों का विचार करने से चलता है। दोनों स्नायुमंडल—ज्ञान तन्तु-जाल तथा आज्ञा-वाहक दूसरे सभी अंगों के समान जीवन के मूल-स्थान से लिये गये, किसी समय के, मूल-कोषों से बने हैं। सारे शरीर में उनकी अरोक धारा बहती रहती है और अधिकतर दिमाग़ में तो बहुत बड़ी मात्रा में। इसलिये संतानोत्पादन के लिये या आनन्द के लिये ही, उन कोषों की इस ऊर्ध्व गति को रोकने से उन अङ्गों के जीवन का कोष चुकने लगता है और धीरे-धीरे उनकी हानि ही होती है। इन्हीं शारीरिक हकीकतों के आधार पर व्यक्तिगत संभोग-नीति बनती है, और यदि अखण्ड ब्रह्मचर्य नहीं, तो कम-से-कम संयम की सम्मति दी जाती है।

इस सम्बन्ध में, एक उदाहरण लीजिए। हिन्दू-धर्म और सामाजिक जीवन से जो लोग कुछ भी परिचित हैं, वे जानते हैं कि हिन्दू लोग पहले तपस्या करते थे, और अब भी कुछ लोग करते ही हैं। इसके दो उद्देश्य होते हैं। एक तो शरीर को निभाना और उसकी शक्तियाँ बढ़ाना और दूसरा कुछ अलौकिक मानसिक शक्तियाँ अर्थात् सिद्धियाँ प्राप्त करना है। पहले का नाम हठयोग है, इसकी साधना एक मात्र शारीरिक संपूर्त्ति के लिये बहुत अधिक की जाती है। दूसरे को राजयोग कहते हैं और

इसका अभ्यास मानसिक तथा योग-सम्बन्धी उन्नतियों के लिये किया जाता है। तो भी इन दोनों ही योगों में एक बात समान है, और वह है शरीर-सम्बन्धी। यह बात पातंजल के योग-दर्शन में दी हुई है।

पंचक्लेशों में 'राग' तीसरा क्लेश है (३-२)। सुखानुशयी रागः ॥७-२॥ 'राग' कहते हैं, सुख भोगने के बाद जो इच्छा सुख भोगनेवाले में छा जाती है, और फिर से वह सुख न मिलने पर जो संताप होता है, उस इच्छा को।—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति—
विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥ २ पाद।

और सुख में दुःख मिला हुआ है, इसलिये विवेकियों को उसका त्याग करना चाहिए।

यहाँ तक तो योगदर्शन में कामवासना का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया गया है। इसके पश्चात् शारीरिक दृष्टि से आगे के सूत्रों में विचार किया गया है।

योगाभ्यास की पहली सीढ़ी यमों की साधना है और यम पाँच हैं:—अहिंसासत्यऽस्तेयब्रह्मचर्यऽपरिग्रह यमाः ॥३०॥ २ पाद।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि अपने को योगी कहनेवाले बकवादी चौथे यम को या तो जानते ही नहीं, या उसे बतलाते ही नहीं। चौथा यम ब्रह्मचर्य है।

पतंजलि मुनि के अनुसार ब्रह्मचर्य की साधना से बहुत बड़े लाभ होते हैं:—ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥३८॥ २ पाद।

अर्थात् जो ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित है, उसे वीर्य या शक्ति-लाभ होता है। उसे भाँति-भाँति की सिद्धियाँ हस्तगत होती हैं।

श्रीयुत मणिलाल न० द्विवेदी कहते हैं:—"यह तो शरीर-शास्त्र का सामान्य नियम है कि बुद्धि के साथ शुक्र का सम्बन्ध बहुत घनिष्ट है और हम कहेंगे कि आध्यात्मिकता के साथ भी है। इस अमूल्य वस्तु का संचय करने से मनुष्य को शक्ति मिलती है, वह सच्ची आध्यात्मिक शक्ति मिलती है, जिसे मनुष्य चाहता है। पहले इस नियम का अवश्य ही पालन किये बिना कोई योग सफल नहीं होता।"

यह भी कह देना चाहिए कि ब्रह्मचर्य पालन की क्रिया तथा उद्देश्य शास्त्री और तांत्रिक रूप से भाष्यों में छिपे हुए दिये जाते हैं। जैसे कि कहा जाता है कि सर्प के समान शक्ति सबसे निचले चक्र (अण्ड-कोष) से चढ़कर सबके ऊँचे चक्र (मस्तिष्क) में जाती है।

व्यक्तिगत संभोग-नीति

साधारण: व्यक्तियों, समाजों, या जातियों के अनुभवों द्वारा नीतिशास्त्र की रचना होती है। ऐतहासिक दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि किसी-न-किसी बड़े बहुमान्य पुरुष ने नीति के नियम बनाये हैं। मूसा, बुद्ध, कन्फ्यूशियस, सुकरात, अरस्तू, ईसा और उनके बाद के दूसरे महापुरुषों और दार्शनिकों ने अपने-अपने देश और काल मनुष्य-आचार की कुछ कसौटी अवश्य रक्खी थी।

इससे हम देख सकते हैं कि सर्वमान्य नीति-शास्त्र का आधार दर्शनशास्त्र, मानसशास्त्र, शरीरविज्ञान, और समाजशास्त्र के ऊपर रहता है। ये सब शास्त्र मिल करके वास्तविक या काल्पनिक मसाले दे देते हैं, जिसके ऊपर से कई सिद्धान्त अपने आप स्वयं-सिद्ध से निकल पड़ते हैं। उन्हीं सिद्धान्तों का संग्रह नीतिशास्त्र है।

इसलिये किसी एक युग या सभ्यता की व्यक्तिगत संभोग-

नीति उसी बात के आधार पर बनेगी, जिसका उस समय के लोगों पर, उनके अपने अनुभवों में अधिक से अधिक प्रभाव पड़ा होगा। यद्यपि सामाजिक संभोग-नीति के समान यह व्यक्तिगत संभोग-नीति भी समय-समय पर बदलती रहती है, तो भी इन दोनों में ही कुछ ऐसी स्थिर बातें हैं जो कि थोड़ी या बहुत स्थायी होती हैं।

इस युग के लिये संभोग-नीति को निश्चित करते समय हमको आजतक की मालूम सभी बातों तथा संभवताओं का ध्यान रखना और विशेषकर वैसी वस्तुओं पर ध्यान देना होगा, जिनका समर्थन योग्य विद्वान् करते हैं। यदि मैं यह कहूँ कि मेरे लेख के पहले पाँच विभागों में दिखलाई गई वास्तविकताओं पर ध्यान देते ही किसी भी बुद्धिमान् और ईमानदार पाठक के मन में कई तर्क-सिद्ध और अनिवार्य परिणाम आयँगे ही, तो शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य की दृष्टि से जान पड़ेगा कि इन वास्तविकताओं का एक ही परिणाम है और वह है ब्रह्मचर्य का पालन। किंतु इसके विरुद्ध हमें एक दूसरा प्राकृतिक नियम भी शीघ्र ही मिल जाता है। पहला नियम है, प्राकृतिक उत्तेजना अर्थात् कामवासना का और दूसरा और नया नियम है, ज्ञान के, विज्ञान के, विश्वास के और आदर्श आधार पर निकले हुए ब्रह्मचर्य का। पहले नियम अर्थात् कामवासना की पूर्ति करने से बहुत शीघ्र ही बुढ़ापा और मृत्यु आती है, किन्तु नियम-पालन के मार्ग में इतनी बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ पड़ी हुई हैं कि कदाचित् ही कोई उस की ओर ध्यान देता हो। लोग इस बात पर विश्वास करने को तैयार ही नहीं होते। वे तुरत ही कहने लगते हैं–'मगर' लेकिन–?' यहाँ यह बात विचारने योग्य है कि योगियों और भिक्षुओं के लिये संयम-नियम के जो कठिन नियम बनाये गये थे, उनका

आधार केवल अंधश्रद्धा या पौराणिक गपोड़े ही नहीं हैं किन्तु इस लेख में बतलाई गई शरीर-शास्त्र की बातों का विशिष्ट ज्ञान है।

मेरे जानते काउण्ट टाल्सटॉय से अधिक जोरों से या स्पष्ट ढंग से किसी दूसरे आधुनिक लेखक ने संभोग-नीति को नहीं बतलाया है। मैं उनके कुछ विचार नीचे देता हूँ:—

१०२. अपनी जाति को स्थिर रखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति—अर्थात् काम वासना—मनुष्य में स्वभाव से ही रहती है अपनी पशुता की दशा में वह इस इच्छा की पूर्ति करके अपना काम पूरा करता है और इससे भलाई होती है।

१०३. किन्तु ज्ञान का उदय होते ही उसे जान पड़ने लगता है कि इस वासना की पूर्ति करने से केवल उसकी अलग कुछ भलाई होगी, और वह अपनी जाति को स्थिर रखने की इच्छा से नहीं, किन्तु केवल अपनी भलाई करने की इच्छा से विषय करने लगता है। यही विषय-सम्बन्धी पाप है।※

१०७ पहली दशा में जब कि कोई ब्रह्मचर्य का पालन करना और अपनी सारी शक्तियों को परमात्मा की सेवा में लगाना चाहता हो, तब उसके लिये प्रजोत्पादन के हेतु से भी संभोग करना पाप होगा। जिसने अपने लिये ब्रह्मचर्य का मार्ग चुना है उसके लिये विवाह भी स्वभाव से ही एक पाप होगा।

११३. जिसने ब्रह्मचर्य का मार्ग चुना है, उसके लिये विवाह करने में यह पाप है कि यदि वह विवाह न करता, तो संभव था कि किसी सबसे बड़े काम को चुनता, ईश्वर की ही सेवा में अपनी

※ पाठकों को यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि टाल्सटॉय की पाप की परिभाषा सामान्य परिभाषा से अलग है। वह पाप उसको कहता था, जो प्रेम के प्रदर्शन में अर्थात् सबके प्रति शुभ कामना के मार्ग में बाधक हो

सारी शक्तियाँ लगा देता या प्रेम के प्रचार और सबसे बड़े मंगल की प्राप्ति में अपनी शक्ति लगा देता, किन्तु विवाह करने से वह नीचे उतर आता है और अपना मंगल-साधन नहीं कर पाता।

११४. जिसने वंश-रक्षा का मार्ग पकड़ा है, उसके लिये यह पाप है कि प्रजोत्पादन न करने से या कौटुम्बिक सम्बन्ध न पैदा करने से वह दाम्पत्य-जीवन के सबसे बड़े सुख से अपने को वंचित रखता है।

११५. इसके अतिरिक्त और सभी सुखों के समान, जो लोग संभोग के सुख को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं, वे जितना ही अधिक काम-लालसा को बढ़ाते हैं, उतना ही अधिक स्वाभाविक आनन्द को कम करते जाते हैं।

पाठक देखेंगे कि टाल्सटॉय का सिद्धान्त सापेक्षिक है, अर्थात् किसी के लिये परमात्मा की ही ओर से या किसी बड़े शिक्षक की ओर से पक्का नियम नहीं बना दिया गया है, किंतु सभी को अपना अपना मार्ग चुनना है। केवल इतना ही आवश्यक है कि जिसने अपने लिये जो मार्ग चुना है, उसे उसीका पालन करना चाहिए।

ऐसी धर्म-नीति में एक के बाद एक किन्तु उतरते हुए निषेध होंगे। जो अखण्ड ब्रह्मचर्य में विश्वास करता है, किसी बड़े और ऊँचे शारीरिक तथा आध्यात्मिक लाभ के लिये जान-बूझकर इन्द्रिय-संयम करने का प्रयत्न करता है, उसके लिये किसी भी भाँति के संभोग का निषेध है; जिसने विवाह कर लिया है, उसके लिये पर-पुरुष या पर-स्त्री का संग मना है। इससे आगे बढ़कर यदि अविवाहितों के लिये, जिनका अनियमित संभोग चलता है, वेश्यागमन जैसा जघन्य काम निषिद्ध है तो स्वाभाविक कर्म करनेवाले के लिये अप्राकृतिक कर्म बहुत ही बुरा है। इससे भी आगे चलकर

यदि किसी प्रकार के ब्रह्मचर्य करनेवालों के लिये उसमें अति-शयता करनी बुरी गिनी जायगी, तो नवयुवकों, बच्चों के लिये अब्रह्मचर्य केवल स्थगित ही है। संभोग-नीति का यही स्वरूप है।

मैं इसकी कल्पना कर ही नहीं सकता कि कहीं ऐसे आदमी भी मिलेंगे जो इस सामान्य सम्भोग-नीति को समझ न सकें, और ऐसे थोड़े ही आदमी मिलेंगे जो गम्भीरता-पूर्वक विचार करने के बाद भी इसका विरोध करें। किन्तु फिर भी ऐसी नीति का विरोध वाग्जाल या तर्कजाल से करने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। बहुत-से लोग मान बैठते हैं कि चूँकि ब्रह्मचर्य का पालन करना कठिन है और विरला ही कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी कभी देखने में आता हो, इसलिये ब्रह्मचर्य का समर्थन करना ही अनु-चित है। ऐसी युक्ति उपस्थित करनेवालों को तो तर्क के अनुसार अपने ही पति या पत्नी से सन्तुष्ट रहने—जो कि कुछ लोगों के लिये कठिन काम होता है, या दम्पति के बीच भी काम-वृत्ति की अति न करने या केवल प्राकृतिक कर्म ही करने—आदि बातों का भी विरोध करना चाहिए। वे यदि एक आदर्श का विरोध करते हैं, तो वे सभी आदर्शों का विरोध करेंगे और हमें बुरे-से-बुरे पापों और काम-लालसाओं के गड्ढे में डालकर ही दम लेंगे। भला वे ऐसा क्यों न करेंगे? सच पूछो तो एक मात्र सच्चा और तार्किक नियम यह है कि हम अपने आदर्श के ध्रुव-तारे को देखते हुए चलें, जो कि हमें सभी भूलभुलैयों से निकाल-कर, विरोधी नियमों का बल तोड़कर सीधे मार्ग पर ले जायगा। इस भाँति समझ-बूझकर स्वेच्छा-पूर्वक इस नीति के अनुसार आचरण करनेवाले से यह आशा रक्खी जा सकती है कि युवा-

रन के अप्राकृतिक कर्मों से कहीं ऊँचे उठकर वह प्राकृतिक आचरण, चाहे वह भले ही अनियमित हो, करने लगेगा। इस स्थिति में से भी निकलकर वह दाम्पत्य धर्म के संयम-नियम में बँध सकता है और अपने तथा अपनी सहधर्मिणी के लिये जहाँ तक वह कर सके, संयम का पालन कर सकता है। यह नीति सम्भवतः उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी तक बना सकती या और नहीं तो अतिशयता के गड्ढे में गिरने से बहुत कुछ रोक ले सकती है।

सामाजिक सम्भोग नीति

जैसे कि व्यक्तियों की समष्टि का नाम समाज है, ठीक उसी प्रकार व्यक्तिगत सम्भोग-नीति से ही सामाजिक सम्भोग-नीति पैदा होती है। दूसरे-शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि व्यक्तिगत सम्भोग-नीति में समाज कुछ वृद्धि करता है, कुछ मर्यादा जोड़ता है। इसका मुख्य उदाहरण विवाह-संस्था है। विद्वान् वैज्ञानिक ने विवाह के इतिहास पर बहुत कुछ लिखा है और इस सम्बन्ध में बहुत अधिक मसाला संग्रह किया गया है। इस-लिये आजकल विवाह-संस्था में जो परिवर्तन सुझाये जा रहे हैं, उनका उल्लेख कर सकने के लिये, उपर्युक्त विद्वानों के निष्कर्षों का केवल सारांश मात्र दिया जायगा।

मनुष्य-जाति में प्रजोत्पादन के सम्बन्ध में माता का महत्व पिता से अधिक है। माता को ही लेकर कुटुम्ब की रचना होती है। फलतः एक समय में मातृ-वंश अर्थात् माता के ही शासन की विधि प्रचलित थी और इसीलिये बहुपति-विवाह अथवा एक स्त्री के कई पति होने की प्रथा भी आरम्भ हुई थी। एशिया की कुछ आरम्भिक जातियों में अब भी इस प्रथा के अवशिष्ट चिह्न पाये जाते हैं। कई पतियों में से जो सबसे बलवान और रक्षा

यदि किसी प्रकार के ब्रह्मचर्य करनेवालों के लिये उसमें अति-शयता करनी बुरी गिनी जायगी, तो नवयुवकों, बच्चों के लिये अब्रह्मचर्य केवल स्थगित ही है। संभोग-नीति का यही स्वरूप है।

मैं इसकी कल्पना कर ही नहीं सकता कि कहीं ऐसे आदमी भी मिलेंगे जो इस सामान्य सम्भोग-नीति को समझ न सकें, और ऐसे थोड़े ही आदमी मिलेंगे जो गम्भीरता-पूर्वक विचार करने के बाद भी इसका विरोध करें। किन्तु फिर भी ऐसी नीति का विरोध वाग्जाल या तर्कजाल से करने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। बहुत-से लोग मान बैठते हैं कि चूँकि ब्रह्मचर्य का पालन करना कठिन है और बिरला ही कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी कभी देखने में आता हो, इसलिये ब्रह्मचर्य का समर्थन करना ही अनुचित है। ऐसी युक्ति उपस्थित करनेवालों को तो तर्क के अनुसार अपने ही पति या पत्नी से सन्तुष्ट रहने—जो कि कुछ लोगों के लिये कठिन काम होता है, या दम्पति के बीच भी काम-वृत्ति की अति न करने या केवल प्राकृतिक कर्म ही करने—आदि बातों का भी विरोध करना चाहिए। वे यदि एक आदर्श का विरोध करते हैं, तो वे सभी आदर्शों का विरोध करेंगे और हमें बुरे-से-बुरे पापों और काम-लालसाओं के गड्ढे में डालकर ही दम लेंगे। भला वे ऐसा क्यों न करेंगे? सच पूछो तो एक मात्र सच्चा और तार्किक नियम यह है कि हम अपने आदर्श के ध्रुव-तारे को देखते हुए चलें, जो कि हमें सभी भूलभुलैयों से निकाल-कर, विरोधी नियमों का बल तोड़कर सीधे मार्ग पर ले जायगा। इस भाँति समझ-बूझकर स्वेच्छा-पूर्वक इस नीति के अनुसार आचरण करनेवाले से यह आशा रक्खी जा सकती है कि युवा-

पन के अप्राकृतिक कर्मों से कहीं ऊँचे उठकर वह प्राकृतिक आचरण, चाहे वह भले ही अनियमित हो, करने लगेगा। इस स्थिति में से भी निकलकर वह दाम्पत्य धर्म के संयम-नियम में बँध सकता है और अपने तथा अपनी सहधर्मिणी के लिये जहाँ तक वह कर सके, संयम का पालन कर सकता है। यह नीति सम्भवतः उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी तक बना सकती या और नहीं तो अतिशयता के गड्ढे में गिरने से बहुत कुछ रोक ले सकती है।

सामाजिक सम्भोग नीति

जैसे कि व्यक्तियों की समष्टि का नाम समाज है, ठीक उसी प्रकार व्यक्तिगत सम्भोग-नीति से ही सामाजिक सम्भोग-नीति पैदा होती है। दूसरे-शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि व्यक्तिगत सम्भोग-नीति में समाज कुछ वृद्धि करता है, कुछ मर्यादा जोड़ता है। इसका मुख्य उदाहरण विवाह-संस्था है। विद्वान् वैज्ञानिक ने विवाह के इतिहास पर बहुत कुछ लिखा है और इस सम्बन्ध में बहुत अधिक मसाला संग्रह किया गया है। इस-लिये आजकल विवाह-संस्था में जो परिवर्तन सुझाये जा रहे हैं, उनका उल्लेख कर सकने के लिये, उपर्युक्त विद्वानों के निष्कर्षों का केवल सारांश मात्र दिया जायगा।

मनुष्य-जाति में प्रजोत्पादन के सम्बन्ध में माता का महत्व पिता से अधिक है। माता को ही लेकर कुटुम्ब की रचना होती है। फलतः एक समय में मातृ-वंश अर्थात् माता के ही शासन की विधि प्रचलित थी और इसीलिये बहुपति-विवाह अथवा एक स्त्री के कई पति होने की प्रथा भी आरम्भ हुई थी। एशिया की कुछ आरम्भिक जातियों में अब भी इस प्रथा के अवशिष्ट चिह्न पाये जाते हैं। कई पतियों में से जो सबसे बलवान और रक्षा-

करने में समर्थ होता था, धीरे-धीरे उसका औरों से विशेष सम्मान होने लगता और समय पाकर वह जिस पद पर प्रतिष्ठित होता, उसीका विकास होकर पति का पद पाता था। माता के साथ जिन कई मनुष्यों का संबंध रहता था, उनमें जो सबसे अधिक बलशाली, सुन्दर और सशक्त होता उसे दूसरों से कुछ ऊँचा पद दिया जाता। अँग्रेजी भाषा में पति या गृहपति के लिये 'हसबैंड' (Husband) शब्द प्रचलित है। हसबैंड का मूल है Husbuendi, जिसका अर्थ होता है, घर में रहनेवाला। इसी एक शब्द में विवाह-संस्था का बहुत कुछ इतिहास भरा हुआ है। सभी पतियों में से जो पत्नी के साथ उसके घर पर रहता था, वह धीरे-धीरे गृहपति या हसबैंड कहलाने लगा। क्रमशः वह गृह का स्वामी बन गया और ऐसा ही कोई 'हसबैंड' जाति का सरदार और राजा बना। पुरुषों का शासन आरम्भ होते ही बहु-पत्नीत्व की प्रथा चल पड़ी, जैसे कि स्त्रियों के राज्य में बहु-पतित्व की चली थी।

इस कारण, यदि सामाजिक रूप में नहीं तो अपने स्वभाव से ही स्त्री बहुपतित्व की और पुरुष बहुपत्नीत्व की प्रथा को पसन्द करने-वाला होता है। पुरुष अपनी इच्छाएँ सभी ओर दौड़ाकर प्रायः अत्यन्त सुन्दरी स्त्री को ही पसन्द करता है। स्त्री भी यही करती है। किन्तु यदि स्त्री-पुरुषों की अनियमित, स्वाभाविक और मानसिक वासनाओं पर कोई लगाम न लगती, तो क्या प्राचीन और क्या आधुनिक, मनुष्य-समाज का नाश निश्चय ही हो जाता। मनुष्य से नीचे के और सभी पशुओं में इन सब इच्छाओं की अतिशयता है। समाज ने विवाह के रूप में यह नियंत्रण शोधा और अन्त में एक पुरुष के लिये एक ही स्त्री के साथ विवाह

का नियम प्रचलित हुआ। इसका एक ही विकल्प है और वह है स्त्री-पुरुषों का अनियमित मिलन। ऐसी अनियमितता के प्रचार से मनुष्य-समाज का और कम-से-कम आधुनिक समाज का नाश निश्चित है। इस विवाह-रूपी अंकुश और अनियमितता के बीच हम सरलता से ही संग्राम देख सकते हैं। वेश्या-गमन, और विधान-रहित मिलन, व्यभिचार और विच्छेदों से नित्य-प्रति यही सिद्ध होता है कि पुराने और आरंभिक सम्बन्धों से अधिक पक्की जड़, अभी तक विवाह-संस्था नहीं जमा सकी है। क्या कभी वह जमा सकेगी?

इसी बीच हमें एक और उपाय पर विचार करना आवश्यक है, जो कि गुप्तरूप से बहुत दिनों से प्रचलित रहा है, किन्तु थोड़े दिनों में ही जिसने निर्लज्जता से सिर उठाना आरम्भ किया है। यह है, संतति-निरोध। इसका ढंग है ऐसी औषधियों या यंत्रों का प्रयोग करना जिनसे गर्भाधान न होने पावे। गर्भाधान होने से स्त्री पर जो भार पड़ता है, उसके अतिरिक्त भी पुरुष को और विशेषकर दयालु पुरुष को पर्याप्त समय तक संयम रखना पड़ता है। संतति-निरोध से तो आत्मसंयम करने की कोई मसलहत ही नहीं रह जाती, और जब तक इच्छा ही कम न हो जाय या इन्द्रियाँ शिथिल न हो जायँ, तब तक कामवासना को तृप्त करते जाना संभव हो जाता है। अस्तु, इसके अतिरिक्त भी, पर-स्त्री के साथ सम्बन्ध पर इसका प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। अनियमित, अनियंत्रित, और सन्तान-हीन संभोग के लिये यह द्वार खोल देता है, जो कि आधुनिक उद्योगों, समाज-शास्त्र तथा राजनीति की दृष्टि से भयानक है। मैं इन बातों पर यहाँ विचार नहीं कर सकता। इतना ही कहना पर्याप्त है कि संतति-निरोध

के कृत्रिम उपायों से स्वपत्नी और पर-स्त्री, दोनों के ... शय संभोग की सुविधा हो जाती है और यदि मेरी ... सम्बन्धी युक्तियाँ ठीक हैं, तो इससे समाज और व्यक्ति का अकल्याण होना ध्रुव है।

उपसंहार

खेत में डाले हुए बीज के समान यह लेख भी कुछ लोगों के हाथ में पड़ेगा जो कि इससे घृणा करेंगे, और ऐसों की भी दृष्टि में पड़ेगा जो केवल आलस्य या ... कारण इसे समझ न सकेंगे। जो लोग इसमें बतलाये ... को पहले-पहल सुनेंगे उनमें इसके प्रति विरो... क्रोध तक भी उत्पन्न होगा; और बहुत ही थोड़े मनुष्यों को सच्चा और उपयोगी जान पड़ेगा। और उनके हृदयों में शंकाएँ तथा सन्देह उठेंगे। सबसे भोले-भाले व्यक्ति, ... "आपकी सम्मति में तो किसी दशा में विषयभोग करना ही ... चाहिए। अजी, तब तो सृष्टि का ही लय हो जायगा। आपके विचार अवश्य ही ठीक न होने चाहिएँ।" मेरा ... यह है कि मेरे पास कोई ऐसा भयानक रसायन है ही ... ब्रह्मचर्य का पालन करने के प्रयत्न से जितनी जल्दी ... होगा उससे कहीं अधिक तीव्रता से सन्तति-निरोध के ... पृथ्वी को मनुष्यों के भार से हलका कर देंगे। सन्तान को ... लेने से रोकने का सबसे शक्तिशाली यन्त्र सन्तति-निरोध का है। मेरा हेतु बहुत सीधा-सादा है। अज्ञान और स्वच्छन्दता के उत्तर के रूप में कुछ दार्शनिक और वैज्ञानिक सत्यों को रख कर मैं इस युग के लोगों में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को शुद्ध करने में सहायता देना चाहता हूँ।

मन्दिर-प्रवेश
और
अस्पृश्यता निवारण

लेखक
हात्मा गान्धी, डाक्टर भगवानदासजी, पं० देव-
नारायण द्विवेदी, पं० रुद्रदेवजी शास्त्री वेद-
शिरोमणि, आचार्य पं० इन्दिरारमणजी शास्त्री

प्रकाशक
एस० बी० सिंह ऐण्ड को
काशी-पुस्तक-भण्डार
बनारस सिटी

थम संस्करण]   १९३३   [मूल्य ।।।)

—/8/—

विषय-सूची

मन्दिर प्रवेश और अस्पृश्यता निवारण

प्रार्थना

हे अनाथों के नाथ !

जरा बता तो दो, भक्त की परिभाषा क्या है। हमारा मन-मयूर तुम्हारे पादपद्मों का भक्त बनने के लिए कई दिनों से नाच रहा है। सुनते हैं, भक्त से बढ़कर तुम्हें प्यारा कोई नहीं है। तब फिर बता दो नाथ, भक्त बनने का तरीका क्या है।

हमने तो जीवन भर में केवल एक ही भक्त को जाना है। उसकी जीवन पोथी का पन्ना पन्ना बतलाता है कि—

जिसका कोई न हो, गले से उसे लगावे;
प्राणिमात्र के लिए, प्रेम की ज्योति जगावे;
सब में विभु को व्याप्त जान, सबको अपनावे;
हो जो ऐसा वही, भक्त की पदवी पावे; !

उसने देश के दुख को अपना दुख बना लिया है और भारत के दीन-दलितों को अपनाकर उनके कष्टमोचन का अथक प्रयत्न किया है। हमारी दृष्टि में तो वही जागरुक तुम्हारा सच्चा भक्त है।

जो दलितातिदलित की निष्काम सेवा करे, वही तुम्हारे चरणों के सन्निकट है, वही तुम्हारा प्यारा है। यदि ऐसा न हो तो एक ही दो दिन के व्रत में तुम्हारा आसन क्यों डोल जाता। आप तो क्षीरसागर में, शेष-शय्या पर, भगवती लक्ष्मी के साथ, सुषुप्ति का आनन्द उठा रहे थे कि "जाग मुसाफिर जाग" की

ध्वनि प्रतिध्वनि सुनकर पांय पियादे धाये। एक ओर से तुम कहते हुए पधारे "हम भक्तन के, भक्त हमारे" और दूसरी ओर से, यरवदा-मन्दिर से वे आलाप उठे "भरोसे राम के-और नहीं कछु काम के" वाह! क्या अच्छी चढ़ा-ऊपरी है।

यह सब जानते हुए भी कि भक्तराज गान्धी पर तुम्हारे रक्षा का हाथ है, हमारा मन न जाने क्यों व्यथित और शंकित है। यह बात है कि उनसे हमें बड़ा प्रेम है, उनका हमें बड़ा सहारा है। सांसारिक प्रेम, में जानते तो हो कि मोह बहुत रहता है। हमारा मन-मानस भी उसी मोह-जाल से प्रसित है अतएव—

अन्तर मम विकसित कर—अन्तर तर हे,
निर्मल कर, उज्वल कर—सुन्दर कर हे;
जागृत कर, उद्यत कर, निर्भर कर हे;
नंदित कर, निरलस निः—संशय कर हे;
युक्त कर हे सवार संग मुक्ति कर हे बन्ध,
संचार कर सकल कर्म शान्त तोमार छन्द;
चरण पद्मे मम चित्त निष्पंदित कर हे;
मङ्गल कर, मङ्गल कर, मङ्गल कर हे! अंतर मम…

हमारा तो सबसे बड़ा मङ्गल तभी होगा जब गांधी अपने व्रत में सफल हो तुम्हारे युगल पाणि से दीर्घ-जीवन का आशीर्वाद पावेंगे।

—दैनिक प्रताप

हरिजन-स्तोत्र

हे परोपकारी हरिजनो ! आपको हमारा नमस्कार है ! हमारी तन्दुरुस्ती की चाबी आपके हाथों है।

हे महानुभावों ! हम खुल्लम खुल्ला आपका अपमान और तिरस्कार करते हैं, फिर भी आप हमारे हिन्दूधर्म का पालन करते हैं। आपको हमारा नमस्कार है !

हे दृढ़ जीवनशक्ति वाले हरिजनो ! आपको हमारा नमस्कार है, क्योंकि बड़ी कठिन परिस्थिति में आप जीवन धारण करके बिताते हैं। जैसी बदबूदार हवा में, जैसी खराब खुराक पर, और जिस भयङ्कर दरिद्रता में आप जी सकते हैं, वैसी अधम स्थिति में दुनियाँ की कोई भी प्रजा वंश-परम्परा तक जीवित नहीं रह सकती। इसलिये आपकी जीवनशक्ति वन्दनीय है !

हे हरिजनो ! आपमें से बहुतों के घरों के पास बदबू फैलानेवाले पाखाने की टोकनियाँ पड़ी हैं, आंगन में हड्डियों के टुकड़े बिखरे हैं, पास ही ढोरों का हाल ही खींचा गया कच्चा चमड़ा सूख रहा है, टूटी फूटी हाँड़ी के टोकरे में पड़े हुए भोजन पर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं, नये चमड़े की बदबू से खिंचकर आपके घरों के आस पास कुत्ते दौड़ दौड़ा मचा रहे हैं, और ऊपर चीलें, गिद्ध और कौवे मँड़रा रहे हैं। घर के अन्दर मच्छरों का मेहर है, पिस्सू और खटमलों का राज्य है, चूहों का जुल्म है, फूटे हुए बरतन में पोखरे का बदबूदार कीड़ों वाला गन्दा पानी आपने पीने के लिए भर रक्खा है, और खाने के लिए मरे हुए ढोरों का बासी मांस पड़ा है। ऐसे स्थान में ऐसी स्थिति में भी हमारे राम, हमारी पूजा, हमारी देवियाँ और

सोच रहा हूँ। साधारण हिंदू जनता के जीवन में मंदिरों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। और मैं, जिसने जन्मभर अपने को घोर निरक्षर तथा अत्यन्त दीन-हीन जनता से अपने को मिला देने की कोशिश की है, तब तक कदापि संतुष्ट नहीं हो सकता जब तक अन्त्यजों के लिये भी सारे हिंदू-मंदिर खुल नहीं जाते।

"पर इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं हरिजनों की और बाधाओं को कम महत्व देता हूँ। वे मुझे उतना ही साल रहे हैं जितना डाक्टर अम्बेडकर को। हाँ, मैं यह मानता हूँ कि इस बुराई की जड़ इतनी गहराई को पहुँच चुकी है कि भिन्न भिन्न बाधाओं में से कुछ को मुख्य और दूसरों को गौण मानना ठीक न होगा, किंतु सबको एक साथ ही दूर करने का यत्न होना चाहिये।

गुरुवयूर मंदिर का प्रश्न

गुरुवयूर मंदिर का प्रश्न संयोगवश ही मेरे कर्तव्यपथ में आ गया है, पर अब मेरे हाथ-पैर उसके संबंध में पूरी तरह बँध गये हैं। अन्ततः श्री केलप्पन मेरे विचार से देश की मौन सेवा करनेवालों की सबसे ऊँची श्रेणी में स्थान पाते हैं। वे जिस दिन चाहें सार्वजनिक क्षेत्र में गौरव का स्थान प्राप्त कर ले सकते हैं। वे मलाबार के एक प्रसिद्ध कार्यकर्त्ता हैं। पर उन्होंने सोच-विचारकर अपने को हरिजनों के काम के लिये अर्पण कर दिया है। वाइकोम सत्याग्रह के अवसर पर मुझे उनके साथ काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उसके बहुत पहले से वे दलितों, पीड़ितों के उद्धार के काम में लगे हुए हैं। सबको मालूम है कि बहुत दिनों तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने के

बाद अन्त में उन्होंने गुरुवयूर का मन्दिर हरिजनों के लिये खोलवाने के प्रयत्न में प्राण समर्पण का संकल्प किया था। तथापि मुझे उनके व्रत में एक दोष दिखाई दिया। मैंने तुरंत ही उसकी ओर उनका ध्यान दिलाया और, यद्यपि उनका विश्वास था कि उनके सामने विजय उपस्थित है, तथापि, उन्होंने मेरी सलाह मान ली, और हाथ में आयी सफलता के चले जाने की परवाह न कर अपना अनशन बंद कर दिया। उसी समय मैंने प्रतिज्ञा कर दी कि तीन महीने बाद फिर उपवास करने की आवश्यकता हुई तो उसमें मैं भी उनका साथ दूँगा। अब यदि मैं केलप्पन को उनके भाग्य पर छोड़ दूँ तो मैं अपने को भारत का अयोग्य सेवक और अयोग्य साथी साबित करूँगा।

अस्पृश्यता या हिन्दू-धर्म एक ही जी सकता है

पर एक साथी के प्राण और मेरे वचन से भी बड़ी एक वस्तु है। हर एक आदमी समझ रहा है कि दलितवर्ग का प्रश्न या तो अभी हल होगा या फिर कभी न होगा—कम-से-कम वर्तमान पीढ़ी के जीवनकाल में अथवा अनेक पीढ़ियों तक न होगा। आज मेरे जैसे हजारों स्त्री पुरुष हैं जो इस विश्वास के कारण हिंदू-धर्म को पकड़े हुए हैं कि उसमें व्यक्ति के मानसिक नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिये काफी मैदान है, पर लगभग ६ करोड़ मनुष्यों के लिये इस प्रकार की रुकावट के बने रहते हमारा दावा सच्चा साबित न किया जा सकेगा। मेरे जैसे विचार रखनेवालों का विश्वास है कि अस्पृश्यता हिंदू-धर्म का अंग नहीं है, बल्कि उसका अतिरिक्त अंश है जो रोग

रूप है; पर यदि यह धारणा गलत हो, हिंदू-जनता का मन वस्तुतः अस्पृश्यता को अपनाये रहना चाहता हो, तो मुझ जैसे सुधारकों के लिये इसके सिवा और कोई गति न होगी कि अपने विश्वास की वेदी पर अपने को बलि कर दें।

मैंने इस ताने को धैर्य के साथ सुना है कि इस प्रकार का उपवास आत्महत्या के समान है। मैं ऐसा नहीं मानता। उलटे गहरी धर्म-निष्ठावाले व्यक्तियों के लिये और सब उपायों का रास्ता बंद दिखाई देने पर, इस चरम बलिदान के सिवा और कोई मार्ग ही नहीं रह जाता।

हिन्दू धर्म की अग्निपरीक्षा

"अतः मेरे विचार से यह आन्दोलन हिन्दू-धर्म के सम्बन्ध में मेरे दावे की सचाई अग्नि-परीक्षा है। और मैंने जो बात गोलमेज में कही थी वही फिर कह सकता हूँ कि यदि अस्पृश्यता जीती रही तो हिन्दू-धर्म मर जायगा और यदि हिन्दू-धर्म को जीना है तो अस्पृश्यता को अवश्य मरना होगा। और मैं साहस के साथ कहता हूँ कि आज हजारों नहीं तो सैकड़ों स्त्री-पुरुष ऐसे अवश्य विद्यमान हैं जो मेरे और श्री केलप्पन की तरह ही हिन्दू धर्म के इस दावे को सच्चा साबित करने के लिये अपने प्राण अर्पण कर देंगे कि वह कोई संकीर्ण सम्प्रदाय या मत नहीं है, किन्तु एक जीवित धर्म है, जो [illegible] विवेकशील अंतःकरण, गम्भीर से गम्भीर . . . . . .
व्यक्ति को सन्तुष्ट कर सकता है।"

अस्पृश्यता निवारण

सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह

चिट्ठी लिखनेवालों ने पूछा है कि क्या सहभोज और अंतर्जातीय विवाह अस्पृश्यता विरोधी आंदोलन का अंग है। मेरी राय में नहीं है। इनका सवर्णों से उतना ही संबंध है जितना अवर्णों से। इसलिये अस्पृश्यता विरोधी कार्य करनेवाले के लिये यह आवश्यक नहीं कि सहभोज तथा अन्तर्जातीय विवाह के सुधारों में लग जाय व्यक्तिगत रूप से मेरी राय है कि यह सुधार अनुमान से पहले हो रहा है। सहभोज या अन्तर्जातीय विवाह का निर्वन्ध हिन्दू धर्म का अंग नहीं। यह एक खास प्रथा है जो हिन्दू धर्म में शायद उस समय घुस आयी जब उसका ह्रास हो रहा था और समाज को छिन्न-भिन्न होने से बचाने के लिये यह चलायी गयी। ये बंधन ढीले पड़ रहे हैं। इन पर जोर देने से जीवन की उन्नति के लिये आवश्यक मूल सिद्धांतों से जनता का ध्यान हट गया है।

इसलिये जहाँ कहीं लोग अपनी खुशी से ऐसे कार्यक्रम में भाग लेते हैं वहाँ स्पृश्यों और अस्पृश्यों, हिन्दुओं और अहिन्दुओं को भोजन पार्टियों के लिये निमंत्रण मिला हो तो मैं इसे अच्छा लक्षण समझ कर इसका स्वागत करता हूँ। पर यह कितना ही वांछनीय क्यों न हो, मैं इस सुधार को उस भारतव्यापी सुधार का अंग बनाने का कभी खयाल भी न करूँगा जो इसके पहले ही हो जाना चाहिये था। अस्पृश्यता, जिस रूप में हम उसे देखते हैं, वह घुन है जो हिन्दू

धर्म के प्राणों को ही खा रही है। खान-पान और विवाह के बंधनों से हिन्दू समाज की बाढ़ रुकती है। मैं समझता हूँ कि यह अंतर मौलिक है। आंदोलन के प्रचंड वेग में इसे बहुत अधिक महत्व देना और इस प्रकार मुख्य प्रश्न को ही बिगाड़ देना मूर्खता होगी। जनता से यकायक यह कहना कि अस्पृश्यता निवारण के कार्य को उससे भिन्न दृष्टि से देखो जिससे देखना उन्हें सिखाया गया है, जनता के साथ विश्वासघात भी हो सकता है। इसलिये जहाँ जनता तैयार हो वहाँ भले ही सहभोज हों पर इसे भारत व्यापी आंदोलन का अंग न बनाना चाहिये।

सनातनी होने का दावा

मुझे अपने को सनातनी कहनेवालों की ये चिट्ठियाँ मिली हैं। कुछ में क्रोध भरे शब्द हैं। इनके लिये अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म का सार है। कुछ मुझे धर्मत्यागी समझते हैं। कुछ का खयाल है कि मैंने क्रिश्चियन तथा इस्लाम धर्मों से अस्पृश्यता आदि के विरोधी विचार ग्रहण किये हैं। कुछ ने अस्पृश्यता का प्रतिवाद करते हुए वेदों के प्रमाण दिये हैं। इन सबको इस वक्तव्य में उत्तर देने का मैंने वचन दिया है। इसलिये चिट्ठी लिखनेवाले इन लोगों को यह बताने का साहस करता हूँ कि मैं सनातनी होने का दावा करता हूँ स्पष्ट ही सनातनियों की परिभाषा मेरी परिभाषा से भिन्न है। मेरे लिये सनातन धर्म वह प्रधान धर्म है जो पीढ़ियों से चला आ रहा है, जिसका अस्तित्व इतिहास काल के भी पूर्व था और जिसका आधार वेद तथा उसके बाद लिखे गये ग्रंथ हैं। मेरे लिये वेद, ईश्वर और हिन्दू-धर्म समान अनिर्वचनीय है।

यह कहना केवल आंशिक सत्य है कि वे वेद चार ग्रंथ हैं जो छपे हुए मिलते हैं, ये ग्रन्थ अज्ञात द्रष्टाओं के उपदेशों के अवशेष हैं। इन मूल निधियों को बाद की पीढ़ियों ने अपनी बुद्धि के अनुसार बनाया। फिर उस महान तथा उद्यमना पुरुष गीता के निर्माता का जन्म हुआ। उन्होंने हिन्दू-धर्म का समन्वय करके हिन्दू संसार के सामने उपस्थित किया। यह अत्यन्त गम्भीर दार्शनिक भाव से भरा हुआ होने पर भी एक सरल जिज्ञासु इसे आसानी से समझ सकता है। अध्ययन करने की इच्छा रखनेवाले हर हिन्दू के लिये यह पुस्तक खुली है। यदि अन्य सब धर्म-ग्रंथों की राख हो जाय तो भी इस अमूल्य पुस्तिका के ७०० श्लोक यह बताने के लिये काफी हैं कि हिन्दू-धर्म क्या है और उसके अनुसार किस प्रकार रहना चाहिये। मैं सनातनी होने का दावा करता हूँ क्योंकि ४० वर्षों से मैं इस ग्रंथ के उपदेशों के अनुसार रहने का प्रयत्न करता आया हूँ। इसके प्रधान विषय से जो बातें विपरीत हैं उन्हें मैं छोड़ देता हूँ किसी धर्म या उपदेशक से उसका विरोध नहीं। मैं बड़ी प्रसन्नता के साथ यह कह सकता हूँ कि मैंने बाइबिल, कुरान, जिंद अवस्ता, तथा संसार के अन्य धर्म-ग्रन्थों का उतनी ही भक्ति के साथ अध्ययन किया है जितना गीता का। इस भक्ति-पाठ से मेरा गीता पर का विश्वास दृढ़ हो गया है। इनसे मेरा दृष्टिकोण और साथ ही मेरा हिन्दू धर्म भी व्यापक हो गया है। जोरोस्टर, जीसस और महम्मद के जीवन-चरित्रों को मैंने जैसा समझा है उससे गीता के कितने ही अंशों पर प्रकाश पड़ा है। इसलिये इन सनातनी मित्रों ने मुझे ताना देने के लिये जो कुछ

कहा है वह मेरे लिये संतोष की सामग्री बन गयी है। मैं हिन्दू कहाने में गर्व करता हूँ क्योंकि मुझे यह शब्द इतना व्यापक जान पड़ता है कि यह समस्त भूमण्डल के पैगम्बरों के पैगामों के प्रति न केवल सहिष्णुता का भाव प्रकट करता है वरंच इन्हें अपने अंदर शामिल भी करता है। जीवनशक्ति देनेवाले इस ग्रन्थ में मुझे अस्पृश्यता के लिये कहीं प्रमाण नहीं मिलता। इसके विपरीत यह मेरी बुद्धि को अपील करके तथा मेरे हृदय को इससे भी गंभीर अपील करके तथा अपनी आकर्षण शक्ति तथा भाषा से यह मुझे विश्वास करने को लाचार करता है कि प्राणिमात्र एक हैं, सब ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं तथा उसीके पास जावेंगे। उस आदरणीय माता ने जिस सनातन धर्म की शिक्षा दी है उसके अनुसार जीवन बाह्य विधि-विधानों से बना हुआ नहीं है पर आत्यंतिक शुद्धता और अपने आपको शरीर, आत्मा और मन से परब्रह्म में मिला देना ही जीवन है। मैं गीता का यह संदेश लेकर लाखों की संख्या में एकत्र जनता के पास गया हूँ और उन्होंने मेरी बात सुनी। मुझे पूरा विश्वास है कि उन्होंने मेरी राजनीतिक बुद्धिमानी या भाषण-चातुर्य के कारण मेरी बात नहीं सुनी पर उन्होंने इसलिये मेरी बात सुनी कि उन्होंने सहज ही पहचाना कि मैं उन्हीं में से एक हूँ, उन्हीं के धर्म का आदमी हूँ। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये मेरा यह विश्वास दृढ़ होता गया कि सनातन धर्म का दावा करने में मैं भूल नहीं कर सकता और यदि ईश्वर की इच्छा हुई तो वह मुझे इस दावे पर अपनी मृत्यु से मुहर लगाने देगा।

एक पत्र-प्रेषक, यद्यपि वे सुशिक्षित हैं, लिखते हैं कि हरि-

जनों के सवर्ण हिन्दुओं की बराबरी का दरजा पाने के पहले उन्हें इसकी पात्रता प्राप्त करनी होगी, अपनी गन्दी आदतें, और मुरदार खाना छोड़ना होगा। एक दूसरे सज्जन यहाँ तक फरमाते हैं कि जो भंगी चमार गंदे माने हुए धन्धों से जीविका कमाते हैं उन्हें वे धन्धे छोड़ देने चाहिये। ये आलोचक इस बात को भूल जाते हैं कि हरिजनों में जो बुरी आदतें दिखाई पड़ती हैं, सवर्ण हिन्दू ही उनके लिये जिम्मेदार हैं। उच्च कहाने वाली जातियों ने उन्हें साफ-सुथरे रहने की सुविधाओं से वंचित कर दिया तथा इसके लिये कोई प्रोत्साहन भी न रहने दिया।

भंगी और चमार का काम अन्य बहुतेरे धन्धों से अधिक गन्दा नहीं है, अलबत्ता ये धन्धे गन्दे तरीके से किये जा रहे हैं पर यह भी तो उच्च जातियों की घमण्ड भरी उपेक्षा और अपराध के दरजे तक पहुँच जानेवाली लापरवाही का ही परिणाम है। प्रत्येक माता अपने बच्चे की मेहतरानी होती है और आधुनिक चिकित्साशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी चमार का काम करता है, इसलिये कि उसे आदमी की लाश चीरनी और उसकी खाल उतारनी पड़ती है। पर उनके धंधों को हम पवित्र कार्य मानते हैं। मेरा कहना है कि साधारण भंगी और चमार का धंधा भी माताओं और डाक्टरों के कार्यों से कम पवित्र और कम उपयोगी नहीं है।

हरिजनों को इसी रूप में अपनाओ

सवर्ण हिन्दुओं का यह समझना अनुचित होगा कि वे हरिजनों पर अनुग्रह कर रहे हैं जो कुछ भी वे इस समय हरि-

जनों के लिये कर रहे हैं वह उनके प्रति पीढ़ियों से किये हुए पापों का बहुत देर से किया हुआ स्वल्प प्रायश्चित्तमात्र है। हमें उन्हें वर्तमान रूप में ही स्वीकार करना होगा और यह हमारे पूर्वकृत पापों का समुचित दण्ड होगा। पर निश्चय जानिये कि हमारा निस्संकोच भाव से आलिंगन के लिये उनकी ओर अपने हाथ बढ़ाना ही उन्हें साफ-सुथरा रहने की प्रेरणा करने को काफी होगा और सवर्ण हिन्दू अपनी ही सुख सुविधा के विचार से साफ रहने की सुविधाएँ उनके लिये प्रस्तुत कर देंगे।

हरिजनों पर हमारे अन्याय

हरिजनों पर हमने कैसे-कैसे अन्याय कर रखे हैं, इसे याद कर लेना अच्छा होगा। सामाजिक दृष्टि से हरिजनों की हैसियत वही है जो कोढ़ी की है। आर्थिक दृष्टि से उनकी स्थिति गुलामों से बदतर है। धर्माचरण के सम्बन्ध में यह हाल है कि उनका उन स्थानों में प्रवेश तक निषिद्ध है जो व्यर्थ ही भगवान के स्थान कहे जाते हैं। सड़क, पाठशाला, कुँआ, अस्पताल, धम्बा, सार्वजनिक बाग-बगीचों आदि का उपयोग वे उसी तरह नहीं कर सकते जिस तरह सवर्ण हिन्दू कर सकते हैं। कहीं कहीं तो सवर्ण हिन्दू से कुछ नियत फ़ासले पर उनका पहुँच जाना भी अपराध है! रहने के लिये उन्हें नगर और गाँव के सबसे खराब हिस्से में जगह दी जाती है, जहाँ वे एक प्रकार से नाई धोबी आदि की सुविधा से सर्वथा वंचित होते हैं। ऊँची जाति का वकील अथवा डाक्टर वैद्य उसी तरह उनकी सहायता न करेगा जिस तरह समाज के अन्य लोगों की करता है। आश्चर्य तो

यह है कि इतना सब होते हुए भी वे जीवित हैं और हिन्दू धर्म के नाम लेवा बने हुए हैं। वे इस तरह कुचल दये गये हैं कि कुचलने वालों के साथ लड़ने के लिये उठ नहीं सकते। इन दुःखद और लज्जाजनक बातों को दुहराने का मतलब यह है कि कार्यकर्ता पूना के समझौते का अर्थ साफ तौर से समझ लें। लगातार प्रयत्न करके ही इन दलित भाइयों को ऊपर उठाना, हिन्दू-धर्म को शुद्ध करना और फिर संपूर्ण हिन्दू-जाति तथा उसके साथ संपूर्ण भारत को ऊपर उठाने का काम किया जा सकता है, और किसी तरह ये बात होने की नहीं।

अन्यायों की इस साधारण उद्धरणी से हमें स्तब्ध न हो जाना चाहिये। यदि उपवासवाले सप्ताह में किये गये प्रदर्शन सवर्ण हिंदुओं के सच्चे पश्चात्ताप के निदर्शन थे तो सब अच्छा ही होगा और शीघ्र ही हरएक हरिजन स्वतंत्रता के सुखद स्पर्श का अनुभव कर लेगा। पर इस परम अभीष्ट फल की प्राप्ति होने के पूर्व स्वतंत्रता का संदेश दूर से दूर बसे हुए गाँवों तक पहुँचाना होगा। वस्तुतः गाँवों का काम नगरों की अपेक्षा, जहाँ लोकमत शीघ्र संघटित कर लिया जा सकता है, कहीं अधिक कठिन है।

कार्यकर्ताओं के प्रति

अब अखिल भारत अस्पृश्यतानिवारण संघ बन चुका है और कार्यकर्ताओं को चाहिये कि संघ से मिलकर कार्य करें। यहाँ मैं उस बात को दुहराना चाहता हूँ जो डाक्टर अम्बेडकर ने मुझसे कही थी। उन्होंने कहा था—"अब उस पुराने ढंग से

कदापि काम न होना चाहिये जिसमें सुधारक यह माना करते थे कि पीड़ित वर्ग की आवश्यकताओं को जितना हम समझते हैं उतना वह स्वयं नहीं समझता"। और फलतः उन्होंने और कहा—"अपने कार्यकर्ताओं को ताकीद कर दीजिये कि हरिजनों की सबसे बड़ी आवश्यकता क्या है और यह किस तरह पूरी की जा सकती है, इसको उन्हीं के प्रतिनिधियों से पूछ कर मालूम करें। साथ बैठकर मिठाई खाना अच्छा प्रदर्शन है, पर उसका अतिरेक हो सकता है। इसमें कुछ अनुग्रह करने का भाव है। मुझे खुद कोई इसके लिये बुलावे तो मैं कदापि न जाऊँगा, इससे कहीं अधिक गौरवयुक्त प्रकार यह होगा कि बिना किसी तरह का हो-हल्ला मचाये हमलोग साधारण सामाजिक अवसरों पर निमंत्रित किये जायँ। मंदिर प्रवेश का कार्य भी, यद्यपि वह अच्छा और आवश्यक कार्य है, पीछे के लिये छोड़ा जा सकता है। सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हरिजनों की आर्थिक स्थिति सुधारी जाय और नित्य के संबंध में उनके साथ भद्रता का व्यवहार किया जाय।" उन्होंने अपने निज के अनुभव से जो कतिपय हृदयविदारक बातें सुनायीं थीं उनको मैं यहाँ न दुहराऊँगा। मेरे मन ने उनके तर्क का बल स्वीकार कर लिया और मुझे आशा है कि इस वक्तव्य को पढ़नेवाला प्रत्येक व्यक्ति उसे स्वीकार करेगा।

कुछ सलाहें

सुधारकों ने मुझे कितनी ही सलाहें दी हैं। एक यह है कि प्रत्येक हिन्दू अपने घर में एक हरिजन को रखे और वह सब

प्रकार घर का एक आदमी माना जाय। यह सलाह स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द की है। दूसरी सलाह एक अहिन्दू सज्जन ने भेजी है जिन्हें इस देश के हित की गहरी चिन्ता रहती है। उनकी राय है कि प्रत्येक सम्पन्न हिन्दू गृहस्थ एक हरिजन लड़के या लड़की को, सम्भव हो तो अपनी ही देखरेख में, उच्च शिक्षा दिलाने का खर्च उठावे और ये शिक्षित युवक-युवतियाँ अन्य हरिजनों के उद्धार कार्य करें। दोनों ही सलाहें विचारणीय और स्वीकार्य हैं। जिन सज्जनों के पास ऐसी कोई उत्तम सलाह हो उनसे मेरा अनुरोध है कि वे उसे नवस्थापित संघ के पास भेज दें। पत्र-लेखकों को मेरी मजबूरियों का ध्यान रखना चाहिये। जेल की चहारदीवारी के भीतर से मैं संघ और जनता को सलाहें देने के सिवा और क्या कर सकता हूँ। योजनाओं को कार्यान्वित करने के काम में मैं शामिल नहीं हो सकता। उन्हें यह भी जानना चाहिये कि मेरी रायें अधूरी और अकसर दूसरों से सुनी सुनायी बातों के सहारे ही कायम की जाती हैं और नयी बातें मालूम होने पर उनमें संशोधन होना सम्भव है, इसलिये उन्हें सावधानी के साथ ही ग्रहण करना चाहिये।

पूने के समझौते के लाभ

यद्यपि पूने का समझौता एक बीती बात है—जो होना था हो चुका—फिर भी मैं उस आपत्ति के विषय में कुछ कहना चाहता हूँ जो एक लेखक ने उसके विषय में उठायी है और समाचार-पत्रों में भी जो बात दबी जबान से कही गयी थी। समझौते के राजनीतिक भाग के विषय में पूछा गया है कि उससे

आपको क्या मिला ? अवश्य ही हरिजनों को उससे बहुत अधिक मिल गया जितना प्रधान मन्त्री ने उन्हें दिया था। निस्सन्देह, ठीक यही इस समझौते का लाभ है। ब्रिटिश सरकार के निश्चय का विरोध मैं इस कारण करता था कि वह हरिजनों को रोटी के बदले ईंट पत्थर देता था। इस समझौते ने उन्हें रोटी के टुकड़े दिये हैं। मुझे तो खुद डाक्टर मुंजे की तरह तब प्रसन्नता होती जब हिन्दुओं के हिस्से की सारी जगहें हरिजनों को मिल जातीं। सवर्ण हिन्दू धर्म के लिये इससे बड़ा लाभ और कोई नहीं हो सकता। मेरा यह सुनिश्चित मत है, नयी बातें मालूम होने से जिसके बदलने की संभावना नहीं, कि दलनकर्ता दलित को जितना ही देते हैं उतना ही लाभ में रहते हैं। उसी अनुपात में उनके सिर से ऋण का भार उतर जाता है, यही उनका लाभ है। सवर्ण हिन्दू जब तक इस प्रश्न को इस विनीत, पश्चात्तापमय और धार्मिक भाव से न देखेंगे, समझौते के शेष अंश का पालन उस भाव से कदापि न हो सकेगा जो उपवास-सप्ताह में हिन्दू समाज में *व्याप्त दिखाई* देता था।

राजाओं को बधाई

मैं उन राजाओं को बधाई देना चाहता हूँ जिन्होंने अपने राज्य के मन्दिरों के द्वार हरिजनों के लिये खोल दिये हैं और अन्य प्रकारों से भी अस्पृश्यता को अपने राज्यों से निकाल बाहर किया है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि ऐसा करके उन्होंने अपनी और अपनी प्रजा की ओर से थोड़ा प्रायश्चित्त कर दिया है। मैं आशा करता हूँ कि उन राज्यों के हिन्दू इन घोष-

शास्त्रों के वचनों का पालन करेंगे और हरिजनों को इस प्रकार अपना लेंगे कि वे भूल जायँगे कि किसी समय हिन्दू समाज ने उन्हें घृणा के साथ अपने से दूर कर रखा था।

अति सामीप्य के कारण हमारे लिये यह समझना कठिन है कि यह अस्पृश्यता का विष अपनी निर्धारित सीमा से वहुत आगे तक पहुँच गया है और सम्पूर्ण राष्ट्र की जड़ को खोखली बना दिया है। "छुओ।मत" का भाव सारे वायुमंडल में व्याप्त है। अतः यदि इस बुराई की जड़पर कुल्हाड़ी छुला दी गयी तो मुझे विश्वास है कि शीघ्र ही हम जाति-जाति और मजहब के भेद भावों को भूल जायँगे और यह मानने लगेंगे कि जिस तरह समस्त हिन्दू एक हैं उसी तरह सब हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, यहूदी और ईसाई भी एक ही मूल वृक्ष की भिन्न भिन्न शाखाएँ हैं। धर्माचारी वहुत हैं, पर धर्म एक ही है। यही वह शिक्षा है जो मैं चाहता हूँ कि अस्पृश्यता निवारण के आंदोलन से हम सब लोग ग्रहण करें। और यदि हम उसे धर्म भाव तथा अटूट संकल्पपूर्वक चलाते गये तो यह शिक्षा हमें अवश्य प्राप्त होगी।

अस्पृश्यता-निवारण के लिये व्यापक कार्यक्रम

सवर्णों को अनुकूल करने के लिये प्रचंड वेग से प्रचार किया जाय

प्रत्येक परिवार एक एक हरिजन को अपने यहाँ रख ले

मेरे एक मित्र ने मुझे कितने ही प्रश्नों की एक सूची दी है

जिनके साथ उनके तर्क भी मिले हुए हैं। ये सज्जन एक अस्पृश्यता-निवारक संघ की एक बैठक में शामिल हुए थे। चूँकि श्री वी० आर० शन्दे ने प्रायः इसी नाम की संस्था इसके पहले ही स्थापित की थी इसलिये उसका नाम अधिक सार्थक है—अस्पृश्य-सेवक-संघ रहेगा। मैं उनके महत्व के प्रश्नों को यहाँ देता हूँ।

अछूतों का उद्धार या अपना ?

संस्था आपकी स्वीकृत और अस्पृश्यता निवारण के लिये कार्य करने के उद्देश्य से स्थापित की गयी है। स्वभावतः ही संस्था के कार्यकर्ता आपकी सलाह की आशा रखते हैं। अतः मेरे मन में पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है—क्या कार्यकर्ताओं को सुधारक बनकर अछूतों के उद्धार के लिये कार्य करना चाहिए या स्वयं अपने उद्धार के लिये ? यदि अपने उद्धार के लिये काम करना हो तो क्या उन्हें स्वयं वर्णाश्रमी हिन्दुओं में ही कार्य करने पर सबसे ज्यादा ज़ोर नहीं देना चाहिये ? यदि देना चाहिये तो यह कार्य किस प्रकार किया जाय।

उत्तर—यह एक व्यापक प्रश्न है और मुझे आशा है कि मित्र की मुख्य-मुख्य बातों का जवाब मेरे उत्तर में आ जायगा। मैंने बराबर स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि वर्णाश्रमी हिन्दू ही दोषी हैं और वे अस्पृश्य कहे जानेवालों के प्रति दोषी हैं।

वर्णाश्रमी हिन्दू अछूतों की वर्तमान दशा के लिये दायी हैं। इसलिये ज्योंही वे अपने पाप के लिये पश्चात्ताप करेंगे और अस्पृश्यों के कंधों पर से अस्पृश्यता का बोझ दूर कर देंगे त्योंही हमें अछूतों में पूर्ण परिवर्तन दिखाई देगा। मैं यह नहीं कहता

कि वे अपनी पुरानी आदतों को एकदम छोड़ने का यत्न करने लगेंगे और जहाँ तहाँ सैकड़ों वर्णाश्रमी हिन्दू इन आदतों को छुड़ाने में उनकी मदद करेंगे यह उस प्रकार है जैसे किसी परिवार के दलित सदस्य दलन करनेवाले सम्बन्धियों से फिर मिल जाते हैं और ऐसा करते समय उन्हें पुनर्मिलन का आनन्द होता है तथा दलन करनेवालों को उन्हें अपनाते समय जान पड़ता है मानों वे कभी उनसे अलहदा नहीं हुए थे।

मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि ऐसा पुनर्मिलन होने के लिये कुछ समय लग जायगा पर जब तक हममें से उदारमना कार्य-कर्ताओं में से भी कुछ लोग ठीक-ठीक भाव को समझकर ग्रहण नहीं कर लेते तब तक यह मिलन कभी न होगा।

मैंने यह मत प्रकट किये जाते हुए अकसर सुना है कि अस्पृश्यता तभी दूर करनी चाहिये जब हरिजन अपनी बुरी आदतें छोड़ दें, स्वयं शिक्षित हो जायँ, साफ-सुथरा रहने लगें पर वे बिलकुल भूल जाते हैं कि जब तक वे अस्पृश्य बने हुये हैं तब तक उनकी इच्छा होते हुए भी हरिजन ये बातें कर नहीं सकते। वे यह भी भूल जाते हैं कि कुछ हरिजनों से जो अच्छे ढंग से रहते हैं, वर्णाश्रमी हिन्दू बराबरी के नाते नहीं मिलते और उनमें जो श्रेष्ठ व्यक्ति हैं उनका वर्णाश्रमी हिन्दुओं के साथ जो रोज सम्बन्ध होता है उसमें वे जीवन के सामान्य सुखों से वंचित किये जाते हैं। कठोर सेवा करने का दंड आजीवन भोगते रहने का कारण स्वयं उनका जन्म है और रहन-सहन बदलने से या किसी दूसरे कारण से वे इससे छुटकारा नहीं पा सकते। इसलिये अधिक अच्छे ढंग से जीवन बिताने के लिये

न कोई प्रेरणा मिलती है, न मिल सकती है। इस भाव ने उनके मन में जड़ जमा ली है कि कम-से-कम वर्तमान जन्म में मुक्ति की आशा नहीं कर सकते।

सर्व-प्रथम कार्य

इसलिये यह बुराई दूर करने का एकमात्र उपाय यह है कि मनुष्य के नाते अपने पद का गौरव उन्हें समझा दिया जाय। वर्णाश्रमी हिन्दुओं का यह पहला कर्तव्य है कि वे उन्हें अपना समझकर उठावें और तब ही व्यापक रूप से उनकी अवस्था में कोई परिवर्तन हो सकता है। इसलिये सबसे पहला कार्यक्रम यह होना चाहिये कि सवर्णों को अनुकूल और शिक्षित करने के लिये प्रचण्ड वेग से प्रचार किया जाय। यह कार्य प्रत्येक स्थान में बराबर जाकर और देश को इस विषय के साहित्य से भर देकर किया जा सकता है।

मेरी राय से असत्य के समान अस्पृश्यता भी स्वयं-सिद्ध पाप है। इस कथन का समर्थन करने के लिये शास्त्रों की आवश्यकता नहीं। तथापि ऐसे पंडितों का भी एक दल है जो केवल जन्म के ही कारण अस्पृश्यता को उचित सिद्ध करने के लिये शास्त्रों की शरण लेते हैं, इसलिये उचित साहित्य से लैस रहना कार्यकर्ताओं के लिये लाभदायक ही होगा। शास्त्रों में पारंगत ऐसे लोगों का दल बढ़ता ही जा रहा है जिसका दृढ़ मत है कि आज अस्पृश्यता के सम्बन्ध में जो विश्वास है और जिस प्रकार उसका पालन किया जाता है उसके लिये शास्त्रों में कुछ आधार नहीं।

इस प्रकार का प्रचार-कार्य केवल ऐसे ही कार्यकर्ताओं को सौंपा जा सकता है जो अपनी शांति खो नहीं देते, जो अपमानों से शीघ्र उत्तेजित नहीं हो जाते, जो विरुद्ध पक्ष के तर्कों को धीरज से सुन लेते हैं और जिनको इनका उत्तर देने के लिये काफी बुद्धि है।

धार्मिक सुधार के आन्दोलन में किसी भी रूप में बल-प्रयोग के लिये कुछ भी स्थान नहीं। यदि स्वयं जाकर समझाने बुझाने से यह पता लगे कि अधिकांश हिन्दू अस्पृश्यता को पाप नहीं समझते या उनका ऐसा खयाल न होने पर भी वे इसे दूर करने तथा हरिजनों के पद को ऊँचा उठाने के विरोधी हैं तो सुधारकों को निरुपाय होकर चुपचाप बैठ जाना होगा। ऐसी दशा में बहुमत पर क्रोध किये बिना उन्हें स्वयं कष्ट उठाकर यह बता देना होगा कि वे ही ठीक मार्ग पर हैं और बहुमत गलत मार्ग पर। हरिजनों का पक्ष ग्रहण कर तथा अपनी इच्छा से उन अधिकारों और सुविधाओं को ठुकराकर जिनसे आज हरिजन वंचित हैं, वे यह कार्य अच्छी तरह कर सकते हैं। अनेक पुरुषों और महिलाओं के आत्मत्याग-पूर्ण ऐसे कार्य से ही हरिजनों में आशा संचरित होगी और वे अपनी ही दृष्टि में ऊँचे उठ जायँगे तथा आत्मसुधार का यत्न करने के लिये उन्हें प्रोत्साहन मिलेगा।

प्रत्येक घर में एक एक हरिजन

अत्यन्त प्रभावकारी कार्य जो सवर्णों में किया जा सकता है यह है कि वे इस बात के लिये राजी किये जायँ कि कम-से-

कम प्रत्येक परिवार में एक-एक हरिजन कुटुम्ब के आदमी की तरह या कम-से-कम घर के नौकर की तरह रख लिया जाय। यह प्राचीन हिन्दू-प्रथा है कि सम्पन्न परिवार कम-से-कम एक मेहमान को खिलाये बिना कभी भोजन नहीं करता। आजकल इसका पालन तो बहुत कम होता है, उल्लंघन ही अधिक होता है। यह कार्य पंच यज्ञों में से एक यज्ञ कहा गया है। यह यज्ञ करने के लिये मैं इससे अच्छा उपाय नहीं सोच सकता कि हम एक हरिजन को अपने साथ भोजन करावें। इससे सहभोज का भ्रम न होना चाहिये। मेरे लिये सहभोज का अर्थ यह है कि उनके साथ खाना जो आपके भोजन को छू सकता हो या जिसके भोजन को आप छू सकते हों। पर एक ही मकान के अन्दर एक दूसरे को छुए बिना साथ बैठकर खाना सहभोजन नहीं।

यदि हरिजनों की अस्पृश्यता दूर हो जायगी तो जिस प्रकार अन्य जातियों के साथ भोजन किया जाता है ठीक उसी प्रकार अपने घर में उनके साथ भोजन करने में कुछ आपत्ति नहीं हो सकती। इसके सिवा ऐसे सैकड़ों सामाजिक कार्य और विधियाँ हैं जिनमें सवर्ण हरिजनों को कभी निमन्त्रण नहीं देते। उनके ढोर और अन्य पालतू जानवर इनके सुख-दुःखों का साथ दे सकते हैं पर हरिजन नहीं या यदि वे भाग लेते हैं तो ये ऐसे ही अवसर होते हैं जब उन्हें खास तौर से याद दिलायी जाती है कि वे उस कोटि के मानव प्राणी ही हैं जिस कोटि के वर्णाश्रमी हिंदू हैं।

उपकार करना नहीं ऋण चुकाना है

अपना पाप धोने के लिये सवर्णों में किस प्रकार कार्य और

प्रचार करना चाहिये और किया जा सकता है इसके मैंने सिर्फ़ कुछ उदाहरण दिखा दिये हैं। पर जिस प्रकार किसी परिवार के बहिष्कृत सदस्य की उसके वापस बुलाये जाने के बाद हिफ़ाज़त और विशेष रूप से सेवा की जाती है उसी प्रकार सवर्णों को हरिजनों में कार्य करना चाहिये। जब पाप के भाव का उनके मन में वस्तुतः उदय होगा तब वे हरिजनों के पास शिक्षक या दाता के नाते न जायँगे वरंच इस प्रकार जायँगे जैसे कर्जदार अपना ऋण चुकाने के लिये महाजन के पास जाता है और वे इस भाव से उनको और उनके बालकों को पढ़ावेंगे तथा यथासम्भव अन्य उपायों से उनकी मदद करेंगे।

किसी ने मुझे बताया कि यदि यह रचनात्मक कार्यक्रम हाथ में लिया जायगा तो यह बहुत खर्चीला होगा और इसको बहुत अधिक समय लग जायगा जिससे शीघ्र सेवा न हो पावेगी। यदि मुट्ठी भर सुधारक इस कार्यक्रम को हाथ में लेंगे तो ऐसा अवश्य होगा। पर जब यह आत्मशुद्धि के कार्यक्रम का अंग माना जायगा तब इसका स्वरूप ही बदल जायगा। वृक्ष की परीक्षा उसके फल से की जाती है। इसी प्रकार सवर्णों के बदले हुए भाव की परीक्षा भी उसके फल से ही की जायगी। इसलिये यह कह सकना ही उनके लिये काफी नहीं कि हमने दिन भर में आधे दर्जन हरिजनों को स्पर्श किया या हमने एक हरिजन को खिलाया। पर मनुष्य-समाज के इस उपेक्षित अंग की अपनी शक्ति भर सब तरह से मदद करने के लिये उन्हें (हरिजनों के प्रति) अपने नवजात प्रेम के कारण बेचैन हो जाना चाहिये। हिन्दू धर्म की होनेवाली नूतन जागृति के प्रभाव का अनुभव

स्वयं हरिजनों को भी तो होना चाहिये और उन्हें यह अनुभव तब तक नहीं हो सकता जब तक सवर्ण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और कार्य में उनके साथ नहीं मिलते। यदि सम्पूर्ण हिन्दू-समाज में जागृति हो जाय तो यह रचनात्मक कार्यक्रम खर्चीला न होगा। स्थानीय स्वयंसेवक अपने अपने स्थान में कार्य करेंगे जिन्हें वेतन की आवश्यकता न होगी। और यदि पूर्णरूप से जागृति न हुई तो इस रचनात्मक कार्यक्रम को सफल बनाना कार्यकर्ताओं का दुहरा कर्तव्य हो जाता है। इसलिए यह कार्यक्रम मंद हो या वेगवान, खर्चीला हो या किफायत का, मुझे सन्देह नहीं कि यह समाज का अंगभूत कार्य होना चाहिये। सब हरिजन बालकों या सब हरिजन रोगियों की, जिन्हें दवा की जरूरत हो, देखभाल करने में समाज समर्थ न हो सके, पर इस दशा में जो कुछ किया जायगा वह फलप्रद होगा और आगे और कार्य होने का विश्वास हो जायगा। इसके सिवा धन की सहायता से यह सूचित होगा कि अपने जमाने की पुकार की ओर वर्णाश्रमी हिन्दुओं ने कहाँ तक ध्यान दिया है।

मन्दिर-प्रवेश का महत्त्व

इस कार्यक्रम में मन्दिर-प्रवेश सबसे अधिक महत्व की वस्तु है। जब हरिजनों के लिये अगणित मन्दिर खुल जायँगे, तब वे तुरत नवयुग के आरम्भ का अनुभव करने लगेंगे वे इस बात को भूल जायँगे कि किसी समय वे समाज से बाहर कर रखे गये थे। मन्दिरों में जाकर अन्य जातिवालों के साथ मिलने जुलने से अपने आप ही उनकी दृष्टि और रहन-सहन बदल जायँगी। अपनी गंदी आदतों को वे छोड़ देंगे।

पर मुझसे पत्र लिखनेवाले कुछ सज्जन पूछते हैं—"आज इन मन्दिरों का महत्व क्या रहा है ? वे अनाचार के अड्डे हैं और उनकी आड़ में सब तरह की बुराइयों का बाजार गर्म रहता है।" मेरे सामने एक कतरन पड़ी हुई है जिसमें एक महिला का पत्र है, जिसमें एक प्रसिद्ध मन्दिर में होनेवाली बातों का बीभत्स चित्र खींचा गया है। मैं नहीं जानता कि कुछ प्रसिद्ध मन्दिरों के विषय में कही जानेवाली इसे तरह की बातें कहाँ तक सही हैं। इसमें संदेह नहीं कि इन मन्दिरों की आज वह स्थिति नहीं है जो उनके निर्माण के समय रही होगी। पर मन्दिरों का सुधार एक स्वतन्त्र प्रश्न है और उनकी गिरावट का नाम लेकर हरिजनों के लिये उनके दरवाजे बन्द रखना उचित नहीं हो सकता। और मैं जानता हूँ कि इन मन्दिरों में जाने-वाली गरीब जनता के बहुत बड़े भाग को उनके भीतर होनेवाली बुराइयाँ स्पर्श नहीं कर पातीं। इसके सिवा कुछ बड़े-बड़े मन्दिरों के विषय में जो कुछ भी कह लीजिये, गाँवों के मन्दिरों की निश्चय ही यह स्थिति नहीं है। गाँव के मन्दिर ग्रामवासियों के आश्रयस्थान रहे हैं और आज भी हैं। मन्दिर के बिना किसी हिन्दू गाँव का काम चल जाय, इसकी कल्पना करना कठिन है। जन्म, मृत्यु, व्याह, बरात सभी कामों में मन्दिर एक अत्यावश्यक वस्तु है। अतः मन्दिरों का वर्तमान रूप चाहे जो कुछ भी हो, हरिजनों को उनमें प्रवेशाधिकार अवश्य मिलना चाहिये।

सफाई की पख

पर एक दूसरे सज्जन लिखते हैं कि आपने हरिजनों के

लिये सफाई आदि को कोई शर्त न रखी तो मंदिरों की यों ही गिरती हुई प्रतिष्ठा और भी गिर जायगी। मुझे ऐसी किसी विपद की आशंका नहीं, मैंने इतना ही कहा है कि हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश के लिये कोई ऐसी शर्त न रखी जाय जो दूसरे हिन्दुओं के लिये न हो। मैं श्री भगवानदासजी की इस सलाह का हृदय से समर्थन करता हूँ कि स्पृश्यता का आधार जन्म और जाति को न मान कर व्यक्तियों के वाह्य आचरण को मानना चाहिये। भीतरी शौच का नियम न नहीं किया जा सकता, पर वाहरी आचरण का किया जा सकता है। अतः जो लोग गन्दे, असभ्य, या शराब आदि पीकर बदमस्त हों, वे जब तक साफ सुथरे न हो जायें तब तक अस्पृश्य माने जायँ। जैसा कि सारी दुनिया के सभ्य-समाज में हरएक आदमी किसी तरह का गंदा काम करते समय अस्पृश्य रहा करता है। पर सफ़ाई और उसी प्रकार की दूसरी चौड़ी दलीलों की आड़ लेकर हरिजनों को मन्दिर में जाने से नहीं रोका जा सकता। वर्णाश्रमी हिन्दुओं पर हरिजनों का जो ऋण चढ़ रहा है वह उन्हें अब अवश्य मिल जाना चाहिये।

अतः सबसे पहला काम यह है कि वे जिस हालत में हैं उसी में अपनाये जायँ, इस विषय में इस सुधार के पहले से जो नियम आमतौर पर सबके लिये हों वही उनके लिये भी रहें, कोई नया नियम न गढ़ा जाय। नये नियम बनायें जा सकते हैं पर हरिजनों का अधिकार इमानदारी के साथ उन्हें दे दिये जाने और उसके सुरक्षित हो जाने के बाद इसके पहले नहीं।

दलित जाति

[एक अन्त्यज का क्या कर्त्तव्य है, इसकी व्याख्या करते हुए महात्माजी ने बड़े प्रेम से एक दलित भाई को समझाया है। यह व्याख्या बड़ी ही मनोरंजक और शिक्षाप्रद है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि महात्माजी को अछूत भाइयों की कितनी फिक्र रहती है]

एक अन्त्यज क्या करे ?

एक अन्त्यज सेवक लिखते हैं।

"आपके असहयोग आन्दोलन से, पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी के दलितोद्धार से, भारत-केसरी लालाजी के अछूतोद्धार से, आर्य-समाज के सुसंगठित प्रचार-कार्य से और हिन्दू महासभा के शुद्धि-संगठन से आज अछूत कहे जानेवाले अन्त्यजों में जागृति पैदा हुई है। बहुत से जगे हैं। उन्हें अपने उद्धार का भान हुआ है। अपने पैर पर खड़े होने के लिये वे तैयार हुए हैं। उनमें स्वाभिमान की भावना पैदा हुई है, नवजीवन आया है। लेकिन फिर भी देहात में आज खुले आम उनका अपमान होता है, उन्हें फिजूल दुःख पहुँचाया जाता है। उनका खादी के कपड़े पहन कर सफाई से रहना तक लोगों की आँखों में खटकता है। ऐसी हालत में वे क्या करें, कोई मार्ग बतलाइयेगा ?"

"मैं एक गाँव में गया था। मैं सोलहो आना खादी-भक्त और अन्त्यजों का हितेच्छु ठहरा, इस कारण सीधा अन्त्यजों के मुहल्ले में ही पहुँचा। मुझे वहाँ का वायुमण्डल सुन्दर जान पड़ा। वहाँ के लोग अच्छे दीख पड़े। वहाँ मैंने एक युवक को

शुद्ध खादी की पोशाक में देखा। इस कारण मैंने उसको बुलाया और कहा, 'भाई, मुझे अपने घर ले चलो'। वह मुझे ले गया, लेकिन रास्ते में उसने मुझसे कहा 'आपको मेरे घर पर चलते, वहाँ रहते, संकोच तो नहीं होगा न? मैंने साफ इनकार किया। मैं उसके घर गया। जाते ही पानी मिला। मैंने पानी पिया। देखकर उस युवक के आश्चर्य का पार नहीं रहा। उसने मुझसे कई सवाल पूछे। मैंने उनके जवाब दिये।

'उस युवक ने मुझसे कहा,' मैं हमेशा मन, वचन और कर्म से शुद्ध रहता हूँ। ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त का पालन करता हूँ। उनके सिद्धान्त को ही मैं अपना प्राण समझता हूँ। इसके सिवा खादी मेरी अत्यंत प्रिय वस्तु है। चर्खे को तो मैं अपनी 'माया' (धन-दौलत) समझता हूँ। हर रोज सवेरे चार बजे उठता हूँ। शौचादि से निपट कर ऋषि दयानन्द की बतलाई हुई दिनचर्या पर अमल करता हूँ। अपनी जाति के किसी भी आदमी के साथ रहना मुझे नापसन्द है। क्योंकि बारबार हर तरह समझाने पर भी उन पर उसका उतना ही असर होता है जितना पत्थर पर पानी डालने का। इससे मैं ऊब गया हूँ और अब इच्छा नहीं होती कि उनके साथ रहूँ। मेरी अन्तरात्मा मुझसे कहती है कि इन लोगों से दूर रहने में ही मेरे जीवन की सार्थकता है। यह सवाल बार बार मुझे उलझन में डालता है। आर्य-समाज एक महान् संस्था है। वहाँ बिना किसी रुकावट के मेरा स्वागत किया जाता है, हम अपनाए जाते हैं। लेकिन हमारे गाँवों में हमारी क्या हालत है? आजकल तो गाँधीजी भी नरम पड़ गये मालूम होते हैं।"

मैं तनिक भी नरम नहीं हुआ हूँ। मैं अपने विचार में जिस मार्ग से अस्पृश्यता को दूर करने की सम्भावना देखता हूँ उस मार्ग से मिटाने में कोई बात उठा नहीं रख रहा हूँ। मैं देख रहा हूँ कि देश में से अस्पृयता की भावना घोड़े के वेग से भागी जा रही है। मैं रात-दिन कामना तो यह करता हूँ कि वह वायुवेग से चली जाय। और मुझे विश्वास है कि किसी दिन जरूर ही वह वायुवेग से निकल भागेगी। लेकिन तब तक के लिए धीरज की जरूरत है। उक्त पत्र में जिन अंत्यज भाई के उद्गार दिये गये हैं, वे समझ में आवें कैसे हैं, लेकिन फिर भी उन्हें शान्ति से काम लेना चाहिये। इस संसार में सुधारक को सदा से शुरुआत में अकेला रहना पड़ता है। अगर सुधारक को इच्छा करते ही साथी मिल जायँ तो उसके सुधार की ज्यादा कीमत नहीं रह जाय। अस्पृश्यता हमारे देश की एक बहुत पुरानी बुराई है। और फिर इसे धर्म का चोगा पहना दिया गया है। ऐसी बुराई का नाश करनेवाले को शीघ्र ही साथी के मिलने की आशा नहीं रखनी चाहिये। इस दिशा में आज तक जो काम हो सका है, और जितने साथी इसके लिए मिल सके हैं, सो तो केवल प्रभु की कृपा का ही फल है। प्रस्तुत अन्त्यज युवक को इतनी बात ध्यान में रखनी चाहिये कि जो शुद्धि उन्होंने कष्ट द्वारा प्राप्त की है, वह लोगों के लिये नहीं बल्कि उनके अपने लिये है। इस कारण इस शुद्धि में से ही उन्हें शान्ति प्राप्त करनी चाहिये। जो यह मानता है कि लोग उसकी शुद्धि की कद्र करें, वह सचा शुद्ध नहीं हुआ है। शुद्धि तो सदा स्वावलम्बिनी होती

है। दूसरे, इस युवक को चाहिये कि वह निराश होकर अन्य अन्त्यज भाइयों को छोड़ न दें। जो लोग सदियों से कुचले जाते रहे हैं। उन्हें तेजस्वी बनते, जागृत होते थोड़ा समय जरूर लगेगा। उनके प्रति तो धीरज और प्रेम की भावना बढ़ाने की जरूरत है। जो शिक्षा और सुविधायें प्रस्तुत अन्त्यज भाई को मिली हैं वही सारे अन्त्यज-समाज के लिये भी सम्भव हैं। अतः हमें चाहिये कि हम उनकी उदासीनता को समझ लें। पत्थर के बारे में इन भाई ने एक बात कही है, दूसरी मैं उन्हें याद दिला देता हूँ 'रसरी आवत जात ते, सिल पर होत निशान।' इस पंक्ति में पहली बात से ज्यादा सत्य है। जब हिमाचल का पानी पत्थरों से टकराता हुआ नीचे आता है तो वे पत्थर सूखे ही नहीं बने रहते बल्कि चूर-चूर हो जाते हैं। प्रेम रूपी पानी से तो पाषाण-हृदय भी पिघल जाता है।

हमारा और उनका कलंक

उड़ीसा की मुसाफिरी बहुत दिनों से मुलतवी चली आती थी, और जब वह आयी भी तो मेरे सन्ताप और जिल्लत को बेहद बढ़ा देने के लिए ही। नजदीक से नजदीक के रेलवे स्टेशन से ३१ मील दूर, चोलगढ़ में मैं दीनबंधु एन्ड्रयूज के साथ बैठा बातें कर रहा था। उसी समय सिर्फ एक मैली लँगोटी पहने कमर झुकाए एक आदमी झुकता हुआ मेरे सामने आया। उसने जमीन पर से एक तिनका उठाकर मुँह में डाल लिया, और मेरे सामने साष्टांग लोट गया, फिर उठकर प्रणाम किया, तिनका निकाल कर भाल में रख लिया और जाने लगा। वह

दृश्य देखते हुए मैं तकलीफ से ऐंठ रहा था। यह खत्म होते ही मैंने किसी दुभाषिए को पुकारा और इस भाई को बुलाकर बातें करने लगा। यह बेचारा अछूत था। बोलगढ़ से ६ मील पर रहता था। बोलगढ़ में लकड़ी बेंचने आया था। वहाँ आने पर मेरे बारे में सुनकर मुझे देखने आया था। मेरे पूछने पर कि मुँह में तिनका क्यों लिया था उसने कहा 'कि आपका आदर करने के लिये।' शर्म से मैंने सिर झुका लिया। इस आदर की कीमत मुझे बहुत भारी असह्य जान पड़ी। मेरी हिन्दू भावना को गहरी चोट लगी थी। मैंने कहा, 'मुझे कुछ दोगे?' वह बेचारा एक पैसे के लिए कमर टटोलने लगा। मैंने कहा, 'मुझे तुम्हारे पैसे नहीं चाहिये पर मैं उससे भी अच्छी चीज माँगता हूँ।' उसने कहा 'दूँगा' मैंने उससे पूछ लिया था कि वह शराब पीता था, मुरदार मांस खाता था—बल्कि यह तो रिवाज था।

'मैं तुमसे यह माँगता हूँ कि जबान दो कि दुनियाँ में किसी आदमी के लिये आगे से मुँह में तिनका नहीं लूँगा, यह तो आदमी के लायक काम नहीं है; फिर कभी शराब नहीं पीऊँगा, क्योंकि वह आदमी को पशु बना देती है; मुरदार मांस नहीं खाऊँगा क्योंकि वह हिन्दू धर्म के विरुद्ध है। और कभी कोई सभ्य आदमी मुरदार मांस नहीं खायेगा।'

उस गरीब ने जवाब दिया, 'अगर मैं शराब न पीऊँ और मुरदार मांस न खाऊँ तो बिरादरीवाले मुझे जाति से निकाल देंगे।'

'तब अजाब होने की तकलीफ सहो, और जरूरत पड़े तो गाँव छोड़ दो।'

इस पददलित गरीब आदमी ने वचन दिया। अगर यह

अपनी बात पर अटल रह गया तो उसकी यह भेंट मेरे धनी देशवासियों के दिये धन से अधिक बहुमूल्य होगी।

यह अस्पृश्यता हमारा सबसे बड़ा कलंक है। इसकी जलालत दिनों दिन बढ़ती जाती है।

मगर यह अविस्मरणीय घटना तो उस बड़े भारी शर्म और दुःख का एक अंश भर थी।

अछूतों को याद रक्खो

कोयम्बटूर की आदि द्राविड़ सभा के दिये मान-पत्र के निम्नलिखित अंश को पढ़ते समय मेरे मन में सन् १९२१ के उसी जमाने की याद हो आती है:—

'जब राष्ट्रीय महासभा ने अस्पृश्यता-निवारण को भी अपने मन्तव्यों में शामिल किया, तब हमें आशा हुई थी कि हमारे समाज के ६ करोड़ (अछूत) हिन्दुओं की उन्नति के रास्ते में के सभी रोड़े बात की बात में दूर हो जायँगे। मगर साल के बाद साल बीतते चले गये और इस बात में हमें आशा की एक किरण भी नहीं मिली। शायद इससे लाभ इतना ही हुआ है कि दयावंत सरकार ने सामान्य हुक्म निकाल कर हमारे लिये सभी सार्वजनिक रास्ते, कुएँ और संस्थाएँ खुली कर दीं। मगर पुरानी हालत जरा भी नहीं बदली है। दूसरे हिन्दू हमारी आत्मा से भी घृणा करते हैं। हमलोग मनुष्य और राष्ट्रों के भाग्य-नियंता, परमपिता की पूजा भी मन्दिरों में नहीं करने पाते। हमारे लिये गिर्जाघरों और मसजिदों के दरवाजे बराबर खुले हैं और उनके धर्म-प्रचारक हमारा स्वागत हमेशा करते हैं। हमारे

समाज की बस्ती, चोटियों के भीतर ही या उनके निकट शराब की दूकानें खोलकर सरकार हमारे नवयुवकों को प्रलोभन में डालती है। अगर इन दूकानों के बदले उद्योगशालाएँ खुल जायँ और आबकारी ठेकेदारों के बदले समाज-सेवक लोग हम पर कृपा-दृष्टि डालें, तो हमें जरा भी शक नहीं है कि हमारी दशा बात-की-बात में सुधर जायगी। इसलिये हम आपसे हार्दिक आग्रह करते हैं कि आप हमारी जाति की सर्वनाश से रक्षा के लिये हमारी चेरियों के भीतर या उनके निकट औद्योगिक शालायें खुलवाने में मदद करें।'

राष्ट्रीय सप्ताह में हमें यह देखने की जरूरत नहीं है कि सरकार ने क्या किया और क्या न किया है। किन्तु यह सोचना अनिवार्य है कि हमने क्या किया या नहीं किया है। इसमें तो कोई शक नहीं है कि गोकि अस्पृश्यता के विरुद्ध लोकमत दिनों दिन बढ़ता जा रहा है, सार्वजनिक पुजारियों को अछूतों के लिये सार्वजनिक मन्दिर के दरवाजे खोलने के लिये राजी नहीं कर सके हैं, और न एक भी शराब या ताड़ी की दूकान के बदले औद्योगिक-शाला या विश्रामगृह खोल सके हैं, जहाँ पर उन्हें उस आग भरी शराब के बदले पौष्टिक पेय या स्वच्छ परिस्थिति में स्वास्थ्यकर वस्तुयें खाने को मिल सकें।

अन्त्यजों के लिए क्या किया है ?

'नवजीवन' के एक पाठक पूछते हैं:—'दलितोद्धार और अन्त्यजोद्धार का कार्य किन किन दिशाओं में हो रहा है, कृपा कर अगले 'नवजीवन' में लिखेंगे तो उपकार मानूँगा।

आपसे यह छिपा नहीं है कि अन्त्यजोद्धार की समस्या कितनी जटिल हो रही है। छूआछूत के नाम पर कहे जानेवाले अन्त्यजों की कई तरह बरबादी हुई है, उन्हें तरह तरह के शारीरिक कष्ट सहने पड़ते हैं, उन पर कई अमानुषिक अत्याचार होते हैं, यही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय उन्नति के तत्व को समझ कर अगर कोई अन्त्यज-सेवक की दृष्टि से स्वदेशी खादी के कपड़े पहन कर निकलता है, तो इसी में वह कही जानेवाली उच्च जातियों का अपराधी बनता है, और उसे मार भी खानी पड़ती है। राजनैतिक क्षेत्र में जिस तरह आपने हरि ॐ करके कदम बढ़ाये हैं, उसी तरह उस क्षेत्र में काम करने के लिए भी अगर आप अपने कार्यकर्त्ताओं को नियुक्त कर दें तो मेरी तुच्छ राय में राजनैतिक क्षेत्र में कामयाबी हासिल करने के लिये या सुलझी हुई समस्या भी एक बड़ी उपयोगी चीज बन जायगी।

फिल हाल आर्य समाज और हिन्दू महासभा इस दिशा में काम कर रही हैं। मगर मैं जानता हूँ कि इनके सिवा अगर आपके कार्यकर्त्ता भी इस काम में जुट जायँ तो काम ज्यादा तेजी के साथ हो सकेगा। अगर आर्य-समाज, हिन्दू-महासभा और आपका मण्डल, जहाँ तक हो सके, परस्पर मिलकर, आपस में संगठित होकर, काम करेंगे तो इस क्षेत्र में सफलता मिलना आसान है।'

अन्त्यजों के लिये मैं क्या करता हूँ, इस सवाल का जवाब देना मुश्किल है। इस बात का कोई हिसाब तो दे नहीं सकता। अतएव जवाब यही दिया जा सकता है कि मैंने कुछ भी नहीं किया। किन्तु यदि यह जवाब ऊटपटांग-सा लगे तो, यों कह

सकते हैं कि अन्त्यज भाई-बहन जितना कहें उतना किया; बात तो यह है कि अन्त्यज-सेवा के नाम पर मैं अपनी शक्ति भर जो कुछ करता हूँ, वह स्वयं अपने लिये कर लेता हूँ। यह कहना कि कोई अन्त्यजों का उद्धार करता है, दूषित है। अस्पृश्यता को मिटाकर उच्च कहे जानेवाले स्वयं अपना उद्धार करते हैं, हिन्दू-धर्म की रक्षा करते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर तो प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर देने की ज़रूरत ही नहीं रहती। जिस हद तक यह सवाल सिर्फ मुझे लक्ष्य करके पूछा गया है, उसका जवाब यह है कि मैं स्वयं तो स्वतंत्र-रूप से कुछ करता नहीं हूँ, न कर ही सकता हूँ। भारत-भर में असंख्य साथी इस काम में जुटे पड़े हैं। उनके कार्य में मेरा जितना भाग हो सकता है, उसकी गणना किसी को करना हो तो भले ही कर ले।

ये भाई मानते हैं कि मैं खादी का काम ज्यादातर करता हूँ, मगर यह उनकी भूल है। मैं स्वयं कोई खादी का काम करता हूँ, यह तो बता नहीं सकता, हाँ, प्रतिदिन नियमानुसार यज्ञ के लिये जो कातता हूँ। उतना-मात्र बता सकता हूँ। और तो जो कुछ होता है, सो साथियों द्वारा ही।

साथ ही खादी के काम में सैकड़ों या हजारों अन्त्यजों की जो सेवा हो जाती है, सो तो है ही। दूसरे अन्त्यजों की सेवा का काम ऐसा नहीं कि फ़ी गज खादी की कीमत के समान उसकी कीमत का अन्दाज़ा हम लगा सकें। अगर कोई पूछे कि अन्त्यज-शालायें कितनी खोली गयीं, उनके लिये कुएँ कितने खोले गये मन्दिर कितने बांधे गये, तो इन सबके जवाब से मुझे संतोष तो नहीं हो सकता। अगर कोई कह सके कि अस्पृश्यता का

पारा इतना कम हुआ है तो, अवश्य कुछ पता चले। मगर ऐसा यन्त्र हमारे पास है नहीं। अन्त्यजों के लिये हजारों शालाओं, उतने ही मन्दिर और उतने ही कुओं के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि अस्पृश्यता रूपी दीवार में से एक ईंट भी हिली नहीं है। जब अस्पृश्यता निवारण का काम शुरू हुआ तब कट्टर वैष्णव-धर्म माननेवाले मित्रों ने कहा था 'अगर आप अस्पृश्यता-निवारण की धुन को छोड़ दें तो शालायें वगैरः बनवाने के काम में आप जितना कहें उतनी मदद दे सकते हैं। अस्पृश्यता मिटाकर आपको क्या करना है?' ऐसी मदद से मुझे जरा भी सन्तोष नहीं हो सकता था। मुझे अन्त्यजों के लिये जुदी संस्थायें चाहिये थीं मुझे तो वर्तमान सार्वजनिक संस्थाओं में उनके लिये प्रवेशाधिकार की जरूरत थी। जुदी संस्थायें हिन्दुओं के भूषण की नहीं, बल्कि उनके दूषण की सूचक हैं। आजकल अन्त्यजों के लिये जुदी शालायें, मन्दिर वगैरः बनवाने के झंझट में मैं पड़ता भी हूँ, सो सिर्फ विवश होकर, अपाद्-धर्म में समझ कर, और यह आशा रख कर कि आखिरकार इन संस्थाओं और दूसरी संस्थाओं के बीच का भेद मिट जायगा।

मैं स्वयं तो अस्पृश्यता को हवा होते देख रहा हूँ, मगर यह साबित करने के लिए मेरे पास कोई यंत्र नहीं है।

प्रेम पंथ पावकनी ज्वाला, भाळी पाछा भागे जोने;
माँही पड्या ते महासुख माणे, देखनारा दाझे जोने।

आर्य-समाज और हिन्दू-महासभा अपनी अन्त्यज-सेवा के लिये धन्यवाद की पात्र हैं। मैं जहाँ थोड़ा बहुत कर सकता हूँ, करता हूँ। लेकिन मैं कबूल करता हूँ कि कई बार काम करने के

तरीके में भेद होने की वजह से मैं अपनी सेवायें समर्पित नहीं कर सकता। मुझे इस बात का लोभ नहीं है कि हर एक कार्य में मेरा हाथ होना ही चाहिए, न हर एक काम करने की मुझमें शक्ति ही है। मुझे अपनी शक्ति का भान है, उस मर्यादा में रह कर मुझसे जो कुछ हो सकता है, करके कृतार्थ होता हूँ।

अस्पृश्यता

मेरे लिए अस्पृश्यता के विषय में कुछ कहना फजूल है। मैं बार बार कह चुका हूँ कि यदि इस जन्म में मुझे मोक्ष न मिले तो मेरी आकांक्षा है कि अगले जन्म में भंगी के घर मेरा जन्म हो। मैं वर्णाश्रम को मानता हूँ और उसके विषय में जन्म और कर्म दोनों को मानता हूँ। पर मैं इस बात को नहीं मानता कि भंगी कोई पतित योनि है। ऐसे कितने ही भंगी देखे हैं जो पूज्य हैं और ऐसे कितने ही ब्राह्मण को देखे हैं जिनकी पूजा करना मुश्किल पड़ता है। ब्राह्मण के घर में जन्म लेकर ब्राह्मणों की या भंगी की सेवा कर सकने के बजाय मैं भंगी के घर पैदा होकर भंगी की सेवा ज्यादह कर सकूँगा और दूसरी जातियों को भी समझा सकूँगा। मैं भंगियों की अनेक तरह से सेवा करना चाहता हूँ। मैं उन्हें यह सीख देना नहीं चाहता कि वे ब्राह्मण से घृणा करें। घृणा से मुझे अत्यंत दुःख होता है। भंगियों का मैं उत्कर्ष चाहता हूँ; पर मैं अपना यह धर्म नहीं समझता कि उन्हें पश्चिमी तरीकों से हक माँगने की सलाह दूँ। इस तरह कुछ भी हासिल करना हमारा धर्म नहीं। मार-पीट से प्राप्त की हुई चीज दुनियाँ में

माना है वह केवल राजनैतिक हेतु पूरा करने के लिए नहीं है। यह हेतु तो तुच्छ है, स्थायी नहीं। स्थायी बात तो है हिन्दू-धर्म में, जिसे कि मैं सर्वोपरि मानता हूँ, अस्पृश्यता का कलंक न रहे। स्थूल स्वराज्य के लिये मैं अन्त्यजों को फुसलाना नहीं चाहता। इस लालच में उन्हें फँसाना नहीं चाहता। मैं तो मानता हूँ कि हिन्दुओं ने अस्पृश्यता को अंगीकार करके भारी पाप किया है। उसका प्रायश्चित्त उन्हें करना चाहिये। मैं अस्पृश्यों की 'शुद्धि' जैसी किसी चीज को नहीं मानता। मैं तो अपनी ही शुद्धि का कायल हूँ।

जब मैं स्वयं ही अशुद्ध हूँ तो दूसरे की शुद्धि क्या करूँगा जब कि मैंने अस्पृश्यता का पाप किया है तो शुद्ध भी मुझे ही होना चाहिये। इसलिये हम जो अस्पृश्यता-निवारण कर रहे हैं वह केवल आत्म-शुद्धि है, अस्पृश्यों की शुद्धि नहीं मैं तो हिन्दू-धर्म की इस शैतानियत को निर्मूल करने की बात कर रहा हूँ, अस्पृश्यों को फुसलाने की बात मेरे पास नहीं है।

परन्तु हिन्दू-जाति के लिये खान-पान का सवाल जुदा है। मेरे कुटुम्ब में ऐसे लोग हैं जो मर्यादा-धर्म का पालन करते हैं। वे और किसी के साथ भोजन नहीं करते। उनके लिये खाने-पीने के बरतन और चूल्हा भी अलाहदा होता है। मैं नहीं मानता कि इस मर्यादा में अज्ञान, अन्धकार, या हिन्दू-धर्म का क्षय है। मैं खुद इन बाहरी आचारों का पालन नहीं करता। मुझसे यदि कोई कहे कि हिन्दू-संसार को इसका अनुकरण करने की सलाह दो, तो मैं इनकार करूँगा। मालवीयजी मुझे पूज्य हैं, मैं उनका पाद-प्रक्षालन भी करूँ। पर वे मेरे साथ खाना नहीं खाते।

ऐसा करके वे मेरे साथ घृणा नहीं करते हैं। हिन्दू-धर्म में इस मर्यादा को अटल स्थान नहीं है, परन्तु एक खास स्थिति में वह स्तुत्य मानी गई है। रोटी-बेटी के व्यवहार का सम्बन्ध जिस दरजे तक संयम से है उस दरजे तक वे भले ही रहें। पर यह बात सब जगह सच नहीं है कि किसी के साथ भोजन करने से मनुष्य का पतन होता है। मैं नहीं चाहता कि मेरा लड़का जहाँ चाहे और जो चाहे खाना खाता फिरे, क्योंकि आहार का असर आत्मा पर पड़ता है। पर यदि संयम या सेवा की सुविधा के लिये वह किसी के यहाँ कुछ खास चीजें खाय तो मैं नहीं समझता कि वह हिन्दू-धर्म का त्याग करता है। मैं नहीं चाहता कि खान-पान की जो मर्यादा हिन्दू-धर्म में है उसका क्षय हो। संभव है कि इस मर्यादा को भी छोड़ देने का युग आ जाय। ऐसा होने से हमारा विनाश नहीं हो जायगा। आज तो मैं वहीं तक जाने के लिये तैयार हूँ जहाँ तक मेरा दिल मानता है। मेरी विचार-श्रेणी में इस युग में रोटी-बेटी के व्यवहार की मर्यादा का लोप नहीं आ सकता। मेरी इस वृत्ति के कारण मेरे कितने ही मित्र मुझे दम्भी मानते हैं, पर इसमें किसी तरह का ढोंग नहीं है। स्वामी सत्यदेव और मैं अलीगढ़ जा रहे थे। उन्होंने मुझसे कहा—'आप यह क्या करते हैं? ख्वाजा साहब के यहाँ खावेंगे? मैंने कहा, मैं खाऊँगा, आपके लिये मर्यादा है तो आप न खावें। मेरे लिये ख्वाजा साहब के यहाँ खाद्य वस्तुयें न खाना पतितता है। पर यदि आप खायँगे तो पतन होगा, क्योंकि आप मर्यादा का पालन करते हैं। स्वामी सत्यदेव के लिये ब्राह्मण बुलाया गया उसने उनके लिये रसोई बनाई। मौलाना अब्दुल

बातें आती हैं, उन्हें अज्ञान समझना चाहिए। वह बात शुद्ध शास्त्रों में पीछे से भी जोड़ी जा सकना सम्भव है। परन्तु आत्मार्थी को यह सब खोज करने की जरूरत नहीं। यह तो इतिहासज्ञ के काम की बात है। हमें तो हरएक लेख या उपदेश में से उसका तत्त्व ग्रहण करना चाहिए। सभी शास्त्रों को शास्त्र मानकर उनमें के अनर्थ को ही अर्थ सिद्ध करने के बखेड़े में हम क्यों पड़ें? हिन्दुस्थान और अन्य देशों में, ज्ञान और अज्ञान तो सभी जगह साथ-साथ रहे हैं; अतएव काली को भोग (बलि) आदि अन्याय हमारे धर्म के नाम पर होते रहना स्वाभाविक ही है। हमारा प्रथम मूल-मन्त्र तो है आत्मा को जानना। इसने यह पाठ पढ़-समझ लिया, तहाँ और सब तो स्वयं ही समझ में आ सकता है।

२—यह जो कहा जाता है कि शास्त्र-निर्णय में बुद्धि को स्थान नहीं, इससे मेरा मतभेद है। मेरा तो यह विश्वास है कि जिसे न बुद्धि समझ सके और न हृदय स्वीकार करे, वह शास्त्र नहीं; और मैं समझता हूँ कि जिसे केवल धर्माचरण करना हो उसे इस सिद्धान्त को मानना ही चाहिए। ऐसा न हो तो हमारे धर्मच्युत होने का डर रहता है। बुद्धि के विपरीत जो हो उसे यदि शास्त्र की तरह माना भी जाता हो तो भी वह शास्त्र तो नहीं हो सकता। अनीति सीखना शास्त्र नहीं हो सकता। गीता का अर्थ मैंने ऐसा सुना है कि दुष्ट अपना सगा-सम्बन्धी भी हो तो उसे भी हम पशुबल से हटा सकते हैं—हटाना ही धर्म है पर राम ने रावण का संहार किया था इसलिए जिसे हम रावण समझते हों, क्या उसका संहार [illegible] हमारा धर्म है? मनुस्मृति

में मांसाहार के लिए लिखा है; इसलिए क्या वैष्णव मांसाहार कर सकता है ? बड़े-बड़े शास्त्रवेत्ताओं और संन्यासियों के मुख से मैंने सुना है कि रोग होने पर उसके निवारण के लिए गो-मांस तक खाया जा सकता है। इन सब शास्त्रार्थों को स्वीकार कर मैंने यदि अपने सगे-सम्बन्धियों का संहार किया होता, अँग्रेज़ों को मार डालने की लोगों को सलाह दी होती, और बीमारी में गो-मांस खाया होता, तो आज मेरी क्या दशा होती ? परन्तु नहीं ऐसे वक्त मैंने अपनी बुद्धि पर विश्वास किया और अन्तःकरण की बात को ही धर्म माना। इसीसे मैं इन बातों से बच सका हूँ और आप सबको भी ऐसा करने की सलाह देता हूँ।

३—हमारे निर्मल तपस्वियों ने इसीलिए हमें यह शिक्षा दी है कि जो वेदादि का पाठ तो करे किन्तु धर्म पर आचरण न करे वह 'वेदिया' कहलाता है; वह न तो खुद ही भवसागर को पार कर सकता है, और न किसी को पार करा ही सकता है। यही कारण है कि वेदादि को कण्ठाग्र करनेवाले अथवा उनकी टीकाएँ याद रखनेवालों को देखकर मैं चकित नहीं हो जाता; यही नहीं, मैं उनके ज्ञान को देखकर केवल चकित ही नहीं होता प्रत्युत अपने अल्पज्ञान को उससे कहीं मूल्यवान समझता हूँ।

४—मैं नम्रता के साथ यह कहना चाहता हूँ कि सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का धर्म यह नहीं कि जिधर लोक-प्रवाह की गति हो उधर ही वह जायँ; किन्तु उन्हें तो यदि वह गति ग़लत हो तो उसे सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये।

५—मुझे शास्त्र का ज्ञान नहीं, अनुभव नहीं, और मैं ज़िद्दी हूँ, यह कहकर कोई मुझे हिन्दूपन से अलग नहीं कर सकता।

खोज में हूँ। गुरु की आवश्यकता मैं मानता हूँ। परन्तु जबतक मुझे योग्य गुरु नहीं दीखता तबतक मैं खुद ही अपना गुरु बन बैठा हूँ। यह मार्ग निकट है, सही, तथापि इस विषम समय में तो यही ठीक मालूम होता है।

१०—अपनी धार्मिक जिम्मेदारी को पूरी तरह समझकर ही मैं इस आंदोलन में भाग ले रहा हूँ। कालान्तर में जिस तरह नर्मदाशंकर के विचार बदल गये थे, एक समालोचक ने मेरा भविष्य भी वैसा ही बताया है। अगर वैसा समय आवे तो यही समझियेगा कि मैंने हिन्दू-धर्म को—नहीं धर्म-मात्र को ही, तिलांजलि दे दी। और अगर हिन्दू-धर्म को इस कलंक से छुड़ाते हुए मेरी मौत हो जाय, तो भी मैं समझता हूँ कि उसमें कोई खास बात नहीं। जिस धर्म में नरसिंह महता-सरीखे लोग हुए हैं उसमें अस्पृश्यता को कोई ठिकाना नहीं हो सकता।

११—अस्पृश्यता को पाप मानने को पाश्चात्य विचार बतलाना, पाप को पुण्य मानने की चेष्टा के समान है। अखो भगत ने कहीं पाश्चात्य शिक्षा नहीं पाई थी; पर उसने ही यह गाया है—'आभड़छेट अदकेरूँ अंग'। अपने धर्म के दोषों को निकालने के प्रयत्न को अन्य धर्मों की बात मान कर उन दोषों पर ही अड़े रहना धर्मान्धता है, और इससे धर्म की अवनति ही होती है।

१२—क्या अन्त्यजों का अन्तःकरण मैला है? क्या अन्त्यज जन्म से ही मनुष्य नहीं? क्या वे पशुओं से भी गये-बीते हैं?

१३—अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म की बुराई है। यह तो सम्भव

है कि गिरते जमाने (पतनकाल) में आपद्धर्म के रूप उस समय के लिए यह व्यवस्था जारी की गई हो। परन्तु यह व्यापक नहीं-अव्यापक है; और शास्त्रों में इसकी गुञ्जाइश नहीं है। जिन लोकों को इसके समर्थन में पेश किया जाता है वे या तो क्षेपक हैं, अथवा उनका अर्थ ठीक नहीं किया जा रहा है। वैष्णवों ने अस्पृश्यता का धर्म-रूप में कभी वर्णन नहीं किया। फिर जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, अस्पृश्यता का भी नाश होता जाता है। रेलों, सरकारी स्कूलों, तीर्थस्थानों, और अदालतों में इसकी गुञ्जाइश नहीं है और मिलों तथा दूसरे बड़े-बड़े कारखानों में अन्त्यजों से कोई परहेज़ नहीं रक्खा जाता। इस प्रकार पाप मानते हुए भी वैष्णव लोग उनका जो स्पर्श करते हैं, मैं चाहता हूँ कि वे इस पर विचार कर और पुण्य मान करके ऐसा करें। गीता में भी यही कहा गया है; समदर्शी के लिए ब्राह्मण, श्वान, अन्त्यज सब एक-से हैं। नरसिंह महता यही गाते थे कि वैष्णवों में समदृष्टि होनी चाहिए। पर अन्त्यजों को सर्वथा अस्पृश्य मानते हुए समदर्शी नहीं रहा जा सकता—कम-से-कम वैष्णव तो ऐसा दावा कर ही नहीं सकते।

१४—मैंने अन्त्यजों में बहुतों को सरलचित्त, प्रामाणिक, ज्ञानी एवं ईश्वर-भक्त पाया है। उन्हें मैं सब तरह से वन्दनीय मानता हूँ। उपाधि-रहित हमारे वे पढ़े जो डाक्टर हैं उनकी बेइज्ज़ती करने से हम पाप करते हैं ऐसा करके और वैष्णव धर्म पर कलंक लगाते हैं।

१५—परंतु कुछ लोग अस्पृश्यता और वर्णाश्रम इन दोनों को एक ही चीज़ समझते मालूम होते हैं। मेरी अल्प बुद्धि के

अनुसार वर्णाश्रम धर्म है, शाश्वत है, व्यापक है, प्रकृति के अनुकूल है और व्यवहार की व्यवस्था है। हिन्दू-धर्म का यह एक शुद्ध वाह्य स्वरूप है।

वैष्णव-धर्म और अस्पृश्यता

जो मनुष्य हिन्दुस्थान में हिन्दूकुल में पैदा होकर वेद, उपनिषद् पुराणादि ग्रन्थों को धर्मग्रन्थ की तरह मानते हैं; जो मनुष्य सत्य, अहिंसा आदि पाँच यमों के सम्बन्ध में श्रद्धा रखते हैं और उनका यथाशक्ति पालन करते हैं; जो मनुष्य यह मानता है कि आत्मा है, परमात्मा है, आत्मा अजर और अमर होने पर भी देहाभ्यास से अनेक योनियों में आती जाती रहती है, वह मोक्ष को प्राप्त होती है और मोक्ष परमपुरुषार्थ है, और जो वर्णाश्रम और गोरक्षा धर्म को मानता है, वह हिन्दू है। जो व्यक्ति उक्त सब बातों को मानने के सिवा वैष्णव सम्प्रदाय के माननेवाले कुटुम्ब में पैदा हुआ हो और जिसने उस सम्प्रदाय का त्याग न किया हो, जिसमें नरसिंह मेहता के 'वैष्णवजन' नाम के निम्नलिखित भजन में वर्णित गुण थोड़े बहुत अंश में भी मौजूद हों और जो उन गुणों को पूर्णरूप से प्राप्त करने का प्रयत्न करता हो, वह वैष्णव है।

२—नरसिंह मेहता का वह भजन इस प्रकार है—

वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड़ पराई जाणे रे,
पर दुःखे उपकार करे तो ये, मन अभिमान न आणे रे।
सकल लोक माँ सहुने वन्दे, निन्दा न करे केनी रे,
वाच, काछ, मन निश्चल राखे, धन-धन जननी तेनी रे।

समदृष्टी ने तृष्णा त्यागी, पर स्त्री जेने मात रे,
जिह्वा थकी असत्य न बोले, पर धन नव झाले हाथ रे।
मोह माया व्यापे नहीं जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे,
रामनाम शूँ ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे।
वण लोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवारया रे,
भणे नरसैंयो तेनुँ दरशन करतां, कुल एकोत्तेर तार्यां रे।

३—नरसिंह मेहता ने वैष्णव के जो लक्षण बताये हैं; उससे हम देखते हैं कि वह—

(१) दूसरों के दुःख का निवारण करनेवाला होता है,
(२) ऐसा करते हुए निरभिमानी होता है,
(३) सबकी स्तुति करता है,
(४) किसी की निन्दा नहीं करता,
(५) वचन का पूरा होता है
(६) लंगोट का पक्का होता है
(७) मन को दृढ़ रखता है
(८) समदृष्टि होता है
(९) तृष्णा-रहित होता है
(१०) एक पत्नीव्रत का पालन करता है
(११) सत्यव्रत पालता है,
(१२) अस्तेय का पालन करता है,
(१३) मायातीत होता है,
(१४) इससे वीतराग होता है,
(१५) राम-नाम में तल्लीन होता है,
(१६) इससे वह पवित्र होता है,

(१७) लोभ-रहित होता है,
(१८) कपट-रहित होता है,
(१९) काम-रहित होता है और
(२०) क्रोध-रहित होता है।

४—इनमें वैष्णव-शिरोमणि नरसिंह मेहता ने अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है, अर्थात् उनके मत से जिनके हृदय में प्रेम नहीं है वह वैष्णव नहीं है। जो सत्य का पालन नहीं करता जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं की, वह वैष्णव नहीं है। अपनी प्रभाती में उन्होंने सिखाया है कि वेद पढ़ने से, वर्णाश्रम का पालन करने से और कण्ठी बाँधने अथवा तिलक लगाने से कोई वैष्णव नहीं हो जाता ये सभी पापमूल हो सकते हैं। पाखण्डी माला पहन सकता है, तिलक लगा सकता है। किन्तु पाखण्डी रहकर सत्याचरणी नहीं हो सकता; पाखण्डी होते हुए दूसरों का दुःख निवारण नहीं कर सकता, और पाखण्डी बने रहते वचन, लंगोट और मन को पक्का नहीं रक्खा जा सकता।

५—इन सिद्धान्तों की ओर मैं सबका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, क्योंकि अन्त्यजों के सम्बन्ध में मेरे जैसे विचार तो बहुत से लोगों के हैं; उन्हें अनेक लोग छूते भी हैं; किन्तु मुझ पर कई लोगों को रोष आता है। उसका कारण तो मैं यह समझता हूँ कि वे मुझे दूसरी तरह से मर्यादा धर्म का पालन करनेवाला और अच्छा समझते हैं, और इसलिए मैं अन्त्यजों के सम्बन्ध में जो विचार रखता हूँ, वे उन्हें भूल मान कर उन्हें बर्दाश्त नहीं कर सकते। उनकी यह धारणा है कि

मेरे ये विचार स्वराज्य सम्बन्धी अपनी गति को रोकते हैं। कोई-कोई तो यह भी मानते हैं कि मैंने अपने हाथों आपत्ति मोल लेकर अपनी हठ से स्वराज्य की नाव को तूफ़ान में डाल दिया है।

६—इसके सिवा बहुत से लोगों की यह धारणा है कि यदि मैं राष्ट्रीय पाठशालाओं में से अन्त्यजों का बहिष्कार न करूँगा, तो स्वराज्य-आन्दोलन की गति उलटे रास्ते चली जायगी। किंतु मैं मानता हूँ कि यदि मुझमें जरा भी वैष्णवपन शेष होगा, तो अन्त्यजों का त्याग न करके मिलनेवाले स्वराज्य को त्याग करने की शक्ति भी ईश्वर मुझे देगा।

७—जब कि रेलगाड़ी में, होटल में, अदालतों में, मिलों में अस्पृश्यता बाधक नहीं होती, तब पाठशालाओं में, जहां कि शिक्षक की निगरानी में, स्वच्छता के नियमों का पालन करके ही बैठा जा सकता है, अस्पृश्यता किस प्रकार क़ायम रक्खी जा सकती है? मुसलमान, पारसी, ईसाई, यहूदी आदि को हम अस्पृश्य नहीं मानते, अस्पृश्य मानकर हम उन्हें भाई नहीं बना सकते; तब फिर जो हिन्दू-धर्म का ही एक अंग हैं, उन राष्ट्रीय पाठशालाओं में जिनमें कि अन्य जातियाँ आ सकती हैं, अन्त्यजों को अस्पृश्य किस प्रकार माना जा सकता है?

८—सच्ची हक़ीक़त होने के कारण ही मुझे यह प्रस्ताव पसन्द है कि जिन पाठशालाओं में अन्य वर्ण और वर्णों के बालक आते हैं, उनमें अन्त्यजों का बहिष्कार न होना चाहिए।

९—वैष्णव धर्म का मूल दया है। अन्त्यजों के प्रति हमारा जो बरताव है, उसमें तो मैं दया की एक बूँद तक नहीं देखता।

हममें से कई तो अन्त्यजों को गाली दिये बिना बुलाते ही नहीं भूले-चूके यदि अन्त्यज अपने डिब्बे में आ बैठता है, तो उस पर गालियों की बौछार होने लगती है। उन्हें हम पशुओं के तरह जूठा अन्न देते हैं। यदि उन्हें बुखार चढ़े या सांप काट खाय तो हमारे वैद्य-डाक्टर उनके इलाज के लिये नहीं जाते। यदि कोई जाने भी लगे, तो हमसे जहां तक हो सकता है, हम उसे रोकते हैं! अन्त्यज के रहने के लिये खराब से खराब मकान दिये जाते हैं। न उनके लिए रोशनी की सुविधा होती है न रास्तों की। उनके लिये कुँए नहीं होते और सार्वजनिक कुओं, धर्मशालाओं और विद्यालयों का वे उपयोग नहीं कर सकते। उनसे कठिन से कठिन सेवा लेकर हम उन्हें कम से कम मजदूरी देते हैं। उनके लिये तो सिर पर आसमान और पैरों तले धरती है। क्या यह वैष्णव धर्म की निशानी है? इसे दया-धर्म कहा जाय अथवा क्रूरता धर्म? जिस अंग्रेजी सरकार के साथ हमने असहयोग-युद्ध छेड़ रखा है, वह भी इस हद तक हमारा तिरस्कार नहीं करती। किन्तु हम तो अन्त्यजों के सम्बन्ध में प्रचलित अपनी डायरशाही को धर्म मानकर उसका पोषण करते हैं।

१०—अस्पृश्यता को बुद्धि ग्रहण कर नहीं सकती। वह सत्य का, अहिंसा का विरोधी धर्म है, इसलिए धर्म ही नहीं। हम उच्च और दूसरे नीच हैं यह विचार ही नीच है। जिस ब्राह्मण में शूद्र का—सेवा का—गुण नहीं वह ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण तो वही है, जिसमें क्षत्रिय के, वैश्य के और शूद्र के सब गुण हों और इनके सिवा ज्ञान हो। शूद्र कोई ज्ञान से सर्वथा

रहित अथवा विमुख नहीं होते। उनमें सेवा प्रधान है। वर्णाश्रम धर्म में ऊँच-नीच की भावना के लिए अवकाश ही नहीं। वैष्णव सम्प्रदाय में तो भंगी, चाण्डाल आदि तर गये हैं। जो धर्म संसार मात्र को विष्णु समान जानता है, वह अन्त्यज को विष्णु से रहित किस प्रकार मान सकता है ?

११—मेरा नम्र विश्वास है कि अन्त्यजों के सम्बन्ध का मेरा भाव मेरे वैष्णव-धर्म को दीप्त करता है; उसमें मेरी शुद्ध दया व्यापक है; उससे मेरी मर्यादा की शुद्धता सिद्ध होती है।

१२—कई वैष्णव यह समझते हैं कि मैं तो वर्णाश्रम धर्म का लोप कर रहा हूँ। किन्तु मेरा तो विश्वास है कि मैं वर्णाश्रम धर्म को मलिनता में से निकालकर उसका सच्चा स्वरूप प्रकट कर रहा हूँ। मैं कुछ रोटी-पानी अथवा बेटी-व्यवहार की हिमायत नहीं कर रहा हूँ। मैं तो इतना ही कहता हूँ किसी भी मनुष्य को छूने से हम पाप करते हैं, इस भावना में ही पाप भरा हुआ है।

१३—रजस्वला स्त्री की अस्पृश्यता का उदाहरण देकर जो अन्त्यजों की अस्पृश्यता का औचित्य सिद्ध किया जाता है उसे मेरी बुद्धि तो अज्ञानता ही मानती है। रजस्वला बहिन को छू जाने में हम पाप नहीं मानते; वरन उसे शारीरिक शौच का भंग मान कर स्नान कर लेने से शुद्ध हो जाते हैं। यदि अस्पृश्य भाई ने गन्दा काम किया हो, उसे, जबतक वह स्नान न कर ले अथवा दूसरी तरह स्वच्छ-शुद्ध न हो ले, तब तक स्पर्श न करना अथवा यदि छू लिया तो स्नान कर लेना यह बात तो मैं समझ सकता हूँ; किन्तु अन्त्यज-कुल में पैदा हुए का सर्वथा त्याग करना

धर्म है यह बात मेरी आत्मा स्वीकार कर ही नहीं सकती।

१४—मैं तो मानता हूँ कि हमने जैसा बोया है, वैसा ही फल पा रहे हैं। अन्त्यजों का तिरस्कार कर हम सारे संसार के तिरस्कार के पात्र बने हैं।

१५—फिर अन्त्यज किसे कहेंगे ? क्या बुनकर अर्थात् जुलाहे अछूत हैं ? क्या चमड़े के जो लखपती व्यापारी हैं वे अछूत हैं ? जिसने चमार का काम छोड़ दिया है, जो भंगी मोटर चलाता है, मिल में काम करता है, सदैव नहाता-धोता है, क्या वह भी अस्पृश्य है ?

१६—लेकिन मैं बहस क्यों करूँ ? जिसे आप अस्पृश्य मानते हैं, उसे छूने में आप जबतक पाप मानते हैं तब तक नहाना हो तो नहा लें; किन्तु मेरी विनय तो यह है कि जिस प्रकार रजस्वला धर्म में आई हुई माता का आप तिरस्कार नहीं करते, वरन् उसकी सेवा करते हैं, उसी प्रकार अन्त्यज का तिरस्कार न करके उसकी सेवा करिये। उनके लिए कुएँ खुदाइए, पाठशालायें खुलवाए, वैद्य भेजिए, दवा दिलाइए, और उनके दुःख-दर्द में शरीक होकर उनकी आत्मा की आशीष लीजिए। उन्हें अच्छी जगह रखिए, अच्छी मजदूरी दीजिए, उनका सम्मान कर, उन्हें समझाकर अपना छोटा भाई समझकर उनसे मद्यपान, गो-मांसा हार इत्यादि छुड़वाइए। जो छोड़ दें उन्हें प्रोत्साहन दीजिए। उनमें जो कुटेव अर्थात् बुरी आदतें पड़ी हों, उन्हें प्रेम-पूर्वक छुड़वाइए, उन्हें स्नानादि के नियम बताइए; मांसाहार छोड़ने के लिए समझाइए, गो-रक्षा-धर्म बताइए और इन सब पापों के लिए उनके जितने स्पर्श की आवश्यकता है, उतना ही आवश्यक है।

१७—कई लोग यह प्रश्न करते हैं कि यदि ढेड़-भंगी पढ़ने-लिखने लगेंगे तो नौकरी अथवा व्यवसाय में शामिल होना चाहेंगे, तब उनका काम कौन करेगा ? यह प्रश्न ही अस्पृश्यता को हम इस समय जिस तरह समझते हैं, उसकी भयंकरता को प्रकट करता है। मैं यह नहीं चाहता कि भंगी अपना धन्धा छोड़ दे। वरन् मेरा आशय तो यह है कि मैला उठाने का धन्धा वैष्णव को शोभा देने जैसा पवित्र और आवश्यक है। इस धन्धे के करनेवाले हल्के अथवा नीचे दर्जे के नहीं, वरन् दूसरा धन्धा करने वालों के बराबर के अधिकारी हैं और उनकी प्रवृत्ति से देश रोग से बचता है, इसलिए वे वैद्य-डाक्टरों की तरह सम्माननीय हैं।

१८—अन्त्यजों के प्रति सामान्य बर्ताव में केवल द्वेष ही भरा है। वे पढ़-लिख लेंगे, तो भंगीपना न करेंगे, यह कल्पना ही मुझे तो अनुचित प्रतीत होती है। किन्तु ऐसी कल्पना के कारण भी हम ही हैं। भंगी के धन्धे को हम नीच मानते हैं किन्तु सच पूछिए तो यह तो शौच का कार्य होने के कारण पवित्र है। माँ बच्चे का मैला उठाती है, इसलिए वह अधिक पवित्र मानी गई है। रोगी की साध-सम्भाल करने वाली जो बहिन अत्यन्त दुर्गन्धवाली वस्तुएँ उठाती है, उसका हम सम्मान करते हैं। तब, जो सदैव हमारे पाखाने साफ़ रखकर हमें निरोगी रहने में सहायता करते हैं, उनकी हम कैसे पूजा न करें ? उन्हें नीचा बनाकर हम स्वयं नीच बने हैं। किसी को कुएँ में डालने वाला स्वयं भी कुएँ में गिरता है। इसलिए हमें भंगी इत्यादि जातियों को नीच समझने का अधिकार ही नहीं है।

१९—भोजा भगत मोची थे, फिर भी हम उनके भजन आदरपूर्वक गाते हैं और उनकी पूजा करते हैं। रामायण का कौन-सा पढ़नेवाला निषाद की रामभक्ति देखकर उसकी पूजा नहीं करता? फिर भंगी इत्यादि यदि अपना धन्धा छोड़ें तो हमें उनका विरोध करने अथवा घबराने का कोई कारण नहीं। जब तक हम किसीसे बलपूर्वक कोई काम करवाते रहेंगे, तब तक हम स्वराज्य के योग्य बन नहीं सकते। हमें अपने पाखाने साफ़ करना सीख लेना चाहिए। जब हम अपने पाखाने मैले रखने में शर्मावेंगे, तब वे हमारे पठन-गृह की तरह साफ़ रहेंगे। पाखाने में रहनेवाली मैल, उसकी दुर्गन्ध, और उससे उत्पन्न होने वाली दूषित वायु हमारी सभ्यता को कलङ्कित और आरोग्यता-सम्बन्धी हमारे अज्ञान को सूचित करती है। हमारे पाखानों की हालत, अन्त्यजों के प्रति हमारी मलिन प्रवृत्ति का प्रमाण है और अपने में पैदा होनेवाले अनेक रोगों का कारण है। दूसरी जाति वालों के संसर्ग से हम ख़राब अथवा अपवित्र हो जायँगे, यह बात हमारी निर्बलता की सूचक है। संसार में संसर्ग तो होता ही रहा है, फिर भी हम निर्दोष बने रहें, इसी में धर्म की परीक्षा है। भंगी इत्यादि जातियों को स्वच्छ बनाना, उन्हें आगे लाना, उनका सम्मान करना दया-धर्म है। ऐसा करने में उनके किसी के साथ खाने-पीने की आवश्यकता नहीं, वरन् हृदय का भाव शुद्ध करने की ही ज़रूरत है।

२०—अन्त्यजों को हमने बहिष्कृत किया, उन्हें अपना जूठा-सड़ा-गला अन्न खाने को दिया और ऊपर से यह माना कि ऐसा करके हमने पुण्य-कार्य किया है। हमने कम-से-कम

मजदूरी देकर उन्हें भिखमंगा बनाया। उनसे अपना कचरा उठवाया ही नहीं, वरन् खुलवाया भी। अपना उतार उनका शृङ्गार बनाया। परिणाम यह हुआ है कि अब अन्त्यजवर्ग भीख मांगकर खुश होते हैं, जूठन लाकर गर्व करते हैं। सड़ा हुआ अन्न जब उनके घर में पहुँचता है तो उनके बच्चे खुशी से नाचते हैं। जिसके गुलाम अपनी गुलामी में पनपते हों, समझना चाहिये कि उसके पाप की पराकाष्ठा हो गई। यही बात हिन्दुओं के लिए हुई है।

२१—एक अन्त्यज बालक पर अच्छा बनने के लिए, जूठा खाना खाने से इन्कार करने पर मार पड़ी। वह अपना बालक था और वह कितना पवित्र था! मार खाने पर भी उसने मांस खाने से इन्कार किया। ऐसे बालक को जो अस्पृश्य मानता हो, उसे क्या कहा जाय? वह स्वराज्य किस प्रकार भोग सकता है? वह किसकी रक्षा करेगा?

२२—किन्तु इस समय मैं अन्त्यजेतर माता-पिताओं को अस्पृश्यता के विषय में कुछ नहीं कहना चाहता। क्या वे अंत्यज बन्धुओं पर समान दया नहीं करेंगे? क्या उन्हें सड़ा-गला, मैला-जूठा अन्न देने का भी कोई शास्त्र है? क्या उन्हें कम-से-कम मजदूरी देने का भी कोई शास्त्र है? प्रत्येक माता-पिता से मेरी प्रार्थना है कि वह—

(१) पकाया हुआ अन्न न दें।
(२) केवल सूखा, बिना पकाया हुआ अनाज दें।
(३) उन्हें विदेशी अथवा मैले, सड़े-गले कपड़े न दें।
(४) उनका वेतन कम हो तो बढ़ावें।
(५) जो कुछ भी दें प्रेम-पूर्वक दें।

हमारी मलिनता

धर्म के लिए मैं देश को भी बलि कर सकूँ, ऐसी मेरी भावना है। मेरा स्वदेशाभिमान धर्माभिमान से मर्यादित है। अतः देशहित यदि धर्महित का विरोधी हो, तो मैं उसे त्याग देने को तैयार हूँगा। अन्त्यज को अछूत समझना मैं अधर्म मानता हूँ। और धर्म छोड़कर देशहित करने की मेरी किञ्चित इच्छा नहीं है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जब देश में सच्ची धार्मिक जागृति होगी तभी स्वराज्य मिलेगा। ऐसी जागृति का समय आ रहा है, ऐसा मालूम होता है।

२—अस्पृश्यता का विषय ऐसा है कि जिसके सम्बन्ध में अनेक व्यक्तियों को अनेक प्रकार की शंकाएँ हैं। एक एक तरह से तो दूसरी दूसरी तरह से इसकी रक्षा करने में संलग्न है।

३—निर्णय करने में शान्ति रखने की पूर्ण आवश्यकता है। हम धार्मिक या दूसरे किसी शुद्ध निर्णय को अशान्तिपूर्ण नहीं कर सकते। विनययुक्त दलीलों से ही हम सत्यासत्य का निर्णय कर सकते हैं। सब धर्म-सङ्कटों का निपटारा हम अपने विचारों को व्यवहार में लाकर ही कर सकते हैं—व्यवहार में आनेवाला सत्य ऊपर आ ही जाता है। सूर्य पर धूल फेंकने से अपनी ही आँखों में पड़ती है इसकी दलील क्या? जिसको ऐसी 'धूल' फेंकने में ही मजा आता है, वह फेंक कर अच्छे-बुरे का अनुभव करेगा। अस्पृश्यता-रूपी पाप को साथ लेकर स्वराज्य लेने का प्रयत्न आकाश में धूल फेंकने के समान है। ऐसी ही शङ्काएँ कितने ही रिवाजों के सम्बन्ध में हैं कोई भी

रिवाज, जब तक उसका विरोध नहीं किया गया, दूर नहीं हुआ है शराब आदि पीने की प्रवृत्ति से बचाव का उपाय भी हमें सोचना पड़ेगा। कितने ही तो शराब पीने को धर्म माननेवाले भी हैं। इसके बाद स्पृश्यता की तो बात ही क्या ? निम्नलिखित तीन प्रश्नों का उत्तर देने की मैं कोशिश करता हूँ।

(१) भंगी-चमार का कार्य ही मैला है। और जिसका यह धन्धा ही हो जाता है उसपर उसका ऐसा सूक्ष्म प्रभाव पड़ता है कि वह फिर नहा-धोकर साफ़ हो तो भी उसकी हड्डियाँ तक मैली हो जाती हैं इसलिए उसको छूना सर्वथा वर्जित है।

(२) डाक्टर आदि जो गन्दे कार्य करते हैं उनका काम भंगी का नहीं। वे सदा ऐसा काम नहीं करते और करते भी हैं तो कार्य करने के बाद साफ़ हो जाते हैं।

(३) भङ्गी-चमार जब तक अपना धन्धा नहीं छोड़ देते तब तक उनको छूना नहीं चाहिए।

४—ऊपर की दलीलें कई तरह की हैं। एक पक्ष यह कहता है कि जो 'स्पृश्य' नहाने-धोने लग जायँ तो फिर कुछ कहने योग्य नहीं रहता। अब ऊपर की दलील के पक्षपाती कहते हैं कि भंगी की हड्डियों में ही मैला घुस गया है, उसे फिर कितना ही धोओ, साफ़ करो, स्पर्श नहीं कर सकते।

५—दोनों ओर की भूलों को मैं अच्छी तरह देख सकता हूँ। हमको भंगी आदि से स्पर्श न करने की आदत पड़ी हुई है, और फिर उसने धर्म का रूप पा लिया है। इसलिए अब जो उसे स्पर्श करने की इच्छा नहीं रखता है, वह हर प्रकार से अपनी आदत का ही समर्थन करता है।

६—हिन्दूधर्म के शरीर पर कितनी ही प्रथाएँ सवार हैं। उनमें कितनी ही मान्य हैं, कितनी ही निंद्य। अस्पृश्यता निन्दा के योग्य है। धर्म के नाम पर उसका पाप हिन्दूधर्म पर दो हजार वर्षों से चढ़ा है और चढ़ता जा रहा है। इस प्रथा को मैं पाखंड कहता हूँ और इस पाखण्ड में से हमें निकलना पड़ेगा—इसका प्रायश्चित हमें करना ही होगा।

७—सनातन धर्म की रक्षा शास्त्रों में छपे हुए श्लोकों को सच्चे बताने से न होगी प्रत्युत उन शास्त्रों में जो महान् सिद्धान्त हैं उनके अनुसार आचरण करने से होगी। जिन-जिन धर्म-प्रचारकों के साथ मुझे बातचीत करने का अवसर मिला है उन्होंने यह बात मंजूर की है। कितने ही विद्वान् गिने जाने और लोगों में पूजे जानेवाले धर्म-प्रचारकों से पूछने पर मालूम हुआ है कि भंगी आदि के व्यवहार का समर्थन पुरानी चली आनेवाली प्रथा के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

८—यह देश जिस प्रकार तपस्या, पवित्रता, दया आदि से भरा हुआ है उसी प्रकार स्वच्छन्दता, पाप, क्रूरता आदि से भी परिपूर्ण है। ऐसे समय में सबका कर्त्तव्य है कि इस पाखण्ड के विरुद्ध तैयार हों और ऐसे पवित्र कार्य को बढ़ाकर पुण्य के हिस्सेदार बनें एवं छः करोड़ का समुदाय जो हिन्दूधर्म से निराश होकर उसे त्याग न करे, ऐसा करने में सहायता करें।

९—कोई-प्राणी जन्म से ही अस्पृश्य है और उसे अस्पृश्य अवस्था में ही मरना पड़ेगा, ऐसा हिन्दूधर्म में नहीं है यह मेरा विश्वास है। ऐसे अधर्म को धर्म का नाम देना अधर्म करने के

समान है। जो अस्पृश्यता आज व्यवहार्य नहीं है उसे त्याग करने का मैं हिन्दुओं से आग्रह कर रहा हूँ।

१०—मेरी अल्पबुद्धि के अनुसार तो भङ्गी को जो मैल चढ़ता है वह शारीरिक है और वह मैल तुरन्त दूर हो सकता है। किन्तु जिन पर असत्य पाखण्ड का मैल चढ़ गया है वह इतना सूक्ष्म है कि उसको दूर करना बड़ा कठिन है। किसी को अस्पृश्य यदि गिन सकते हैं तो असत्य और पाखण्ड से भरे हुए लोगों को। इस वास्तविक मलीनता के लिए हमारे पास धैर्य और आन्तरिक स्वच्छता के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है, किन्तु भङ्गी की मलीनता गहरी नहीं है प्रत्युत उसका उपाय भी सरल है। जिन्होंने अपने आप काम किया है वे जरूर साफ़ रहेंगे।

११—एक विचारशील विवेकी हिन्दू ने मेरे साथ बातें करते हुए कहा है कि हिन्दूधर्म में स्पर्श से–निकलते हुए श्वास से–भी सामने वाले पर असर पड़ता है इसलिए उससे दूर रहने की सूचना दी गई है। ऐसे सूक्ष्म परिणामों को समझकर, उससे बचकर, हिन्दू हजारों वर्ष तक टिक सके हैं और सुन्दर शास्त्रों की रचना कर सके हैं।

१२—यह बात मुझे तो इस प्रकार सच्ची मालूम होती है कि स्पर्श से–दुर्जन के सहवास से हम मैले हो सकते हैं और सत्सङ्ग से शुद्ध हो जाते हैं किन्तु यह सब तिरस्कार का समर्थन करने के लिए नहीं लिखा गया है और न समाज में विशृङ्खलता फैलाने के लिए, यह तो केवल एकान्त सेवा और संयम के लिए लिखा गया है। यह अन्त्यज के लिए नहीं प्रत्युत सब संसर्गों के लिए लिखा गया है हमें अपनी आत्मा को शुद्ध करना है

और यह स्वच्छता हम अन्त्यज बन्धुओं की सेवा कर, उनकी उन्नति कर सब प्रकार से पा सकते हैं। जो सदा दूसरे के दोषों का विचार कर उससे अलग रहते हैं वे तो पूरे पाखण्डी हैं क्योंकि दूसरे के दोषों का अवलोकन करते हुए वे अपने-आपको इतना पूर्ण मान लेते हैं कि हमारे लिए करने को कुछ भी नहीं रखते अर्थात् नीचातिनीच बन जाते हैं। भंगी-चमार तो अपने अन्दर ही बैठे हुए हैं, उनका बहिष्कार करना है, उनसे छूकर हमें नहाना है। दूसरे भंगी-चमार तो मैला काम करते हुए भी ऐसे अच्छे, ऐसे सरल, और ऐसे नीतिज्ञ हैं कि वे पूजा करने योग्य हैं। भंगी-चमारों ने दुर्गुणों और दूसरे वर्णों ने सद्गुणों का पट्टा नहीं लिखा लिया है।

१३—डाक्टर का कार्य सदा गन्दगी साफ़ करने का ही है। उसे कभी चौबीसों घण्टे काट-फांस का काम मिले तो उसे करने के लिए वह कभी इन्कार नहीं करेगा। अन्त में वह भी तो अपने निर्वाह के लिए मैल साफ़ करने का कार्य करता है। उस कार्य को हम परोपकार समझते हैं और उस डाक्टर का आदर करते हैं। मेरी दलील यह है कि डाक्टर का कार्य तो केवल बीमार का उपकार करना है किन्तु भंगी के कार्य से संसार का उपकार होता है और वह डाक्टर के कार्य से बहुत अधिक आवश्यक और पवित्र है। डाक्टर यदि अपना धन्धा छोड़ दे तो बीमारों को हानि पहुँचे किन्तु भङ्गी अपना कार्य छोड़ दे तो जगत् का नाश ही हो जाय इसलिए आवश्यक कार्य करनेवाले को अपवित्र गिनकर उसे दूर रखना बहुत बड़ा पाप है ऐसा समझना कुछ बुरा नहीं।

१४—भङ्गी-चमार का कार्य छोड़ने की प्रवृत्ति को मैं संसार के लिए बहुत हानिकर मानता हूँ।

१५—हमारे पास एक ही उपाय शेष है। जिस प्रकार डाक्टर के काम को हमने पवित्र समझा है उसी प्रकार भङ्गी के कार्य को भी पवित्र मानना चाहिए। हमको उन्हें अच्छे ढंग से रहने को प्रेरित करना चाहिए, उन्हें दूर रखने के बजाय पास रखना और उनकी सेवा करनी चाहिए। अपने पायखाने को अच्छा रखने की आदत डालनी और यदि खुद को भी साफ़ करने की आवश्यता मालूम पड़े तो उसके लिए तैयार रहना एवं सीखना चाहिए। जब हम भङ्गी के कार्य की पवित्रता को समझ जायँगे तो हमारे जो पायखाने आज नरक के सदृश हो रहे हैं रसोईघर के अथवा अपने बैठकघर के समान शुद्ध हो जायँगे। मेरा दृढ़-विश्वास है कि भङ्गी और उसके कार्य को तुच्छ गिनकर हमने अनेक रोगों को स्थान दिया है। ब्राह्मणों के घर मैंने भङ्गी के घर से भी मैले देखे हैं। भंगी के घर के पास पायखाना नहीं होता इसलिए वे स्वच्छ होते हैं। अपने पायखाने की गन्दगी और अपनी उस सम्बन्ध की बुरी आदतों से हममें प्लेग, हैजा आदि रोग घुस गये हैं और ये छूत से फैलते हैं ऐसा बहुत से विद्वान् डाक्टरों का निर्णय है। मुझे इस बात का खुद अनुभव है। अपने पायखाने को हम ऐसी स्थिति में ला सकते हैं कि उसे साफ़ करने में किञ्चित भी घृणा न हो और जो उसमें घुसे उसे स्वच्छ और बिना दुर्गन्ध मालूम हो। अस्पृश्य के पाप से हम साम्राज्य के अस्पृश्य एवं भङ्गी ही नहीं बने प्रत्युत इस पाप के फल-स्वरूप हम रोगी भी बने एवं हमारे शरीर दुर्बल और तेजहीन हो गये हैं।

सवर्ण हिन्दुओं से विनय

'किलोन के भाषण में से'

"जिस प्रकार एक रत्ती संखिया से लोटा-भर दूध बिगड़ जाता है उसी प्रकार अस्पृश्यता से हिन्दू धर्म चौपट हो रहा है।"

"दूध का गुण और इस्तेमाल और संखिया का गुण जानते हुए हम जिस प्रकार एक आदमी को दूध के लोटे के पास बैठे हुए संखिया तोड़ते देखकर घबरायेंगे और दूध फेंक देंगे उसी तरह मैं बतौर हिन्दू के अनुभव करता हूँ कि अस्पृश्यता का अभिशाप हिन्दू-धर्म के दूध को जहरीला और अशुद्ध बना रहा है। इसलिए मैं मानता हूँ कि ऐसे मामले में धैर्य के लिए तारीफ नहीं की जा सकती। ऐसे मामलों में अपने को रोक रखना असंभव है। बुराई के साथ धैर्य रखने के मानी हैं, बुराई के और अपने साथ खिलवाड़ करना। इसलिए यह कहने में मैं झिझका नहीं हूँ कि ट्रावनकोर राज्य को इस सुधार के मामले में सबसे आगे रहना चाहिए और एक बारगी ही इस बुराई को नष्ट कर देना चाहिए। मगर मैं जानता हूँ कि जब तक हिन्दू जनता इसमें पूरी सहायता न देवे, किसी हिन्दू-राज्य के लिए भी इस बुराई को दूर करना असंभव है। और इसलिए मेरी विनय महारानी साहिबा के बदले खासकर आप लोगों से होगी और इस सभा में बैठे हुए हर एक हिन्दू से मैं व्यक्तिगत विनय करना चाहता हूँ। आपने और मैंने, अछूतों के प्रति अपने कर्त्तव्य से बहुत दिनों तक लापरवाही दिखाई है और इस हद तक हम और आप हिन्दू-धर्म के झूठे प्रतिनिधि रहे हैं।

मैं बिना किसी हिचक के आपको सलाह देता हूँ कि जो कोई अस्पृश्यता का समर्थन करने आवे, आप उसकी बात तुरंत इन्कार कर दें। आप याद रखिए कि इस युग में एक आदमी या कई आदमियों की कोई मंडली कोई काम करती है तो वह काम अधिक दिनों तक छिपा नहीं रहता। हमारी जाँच रोज़ ही होती रहती है और जब तक हम अस्पृश्यता को रखे हुए हैं, हममें कमी बनी हुई है। संसार के सभी धर्मों की जाँच आज हो रही है। हमीं लोग शुतुरमुर्ग़ जैसे अपने अज्ञान में ख़तरे की ओर आँखें मूँद लेते हैं। मुझे इसमें ज़रा भी शक नहीं है कि आज के इस झगड़े में या तो अस्पृश्यता का नाश हो जायगा या हिन्दू-धर्म ही ग़ायब हो जायगा। मगर मैं जानता हूँ हिन्दू-धर्म नष्ट नहीं हो रहा है, मरने भी नहीं जा रहा है क्योंकि मैं देखता हूँ कि अस्पृश्यता तो एक मुर्दा है, जो अपनी आख़िरी साँस से थोड़ी देर और रहने के लिए लड़ रहा है।"

दो में से एक रहेगा

महात्मा गांधी या अस्पृश्यता

एक ही क्षेत्र के दो बलवान प्रतिस्पर्धी

"मैं इसी अवस्था में जीवित रह सकता हूँ—मेरे रहते अस्पृश्यता न रहेगी या अस्पृश्यता के रहते मैं न रहूँगा। हम इस क्षेत्र के दो प्रतिस्पर्धी हैं।"

तारीख़ दो दिसम्बर को तीसरे पहर 'फ़्री प्रेस' के प्रतिनिधि ने भावी अनशन के सम्बन्धन में महात्मा गांधी से बातचीत

की। उसी समय आपने ये वाक्य कहे। प्रतिनिधि और गांधी जी में हुए प्रश्नोत्तर नीचे दिये जाते हैं—

प्रश्न—दलितवर्ग के उद्धार में गुरुवयूर एक छोटा प्रश्न है। राष्ट्र के वर्तमान पुनर्जीवन से उसे अधिक महत्व देना चाहिये ?

गांधी जी—वर्णाश्रमी हिन्दुओं के कर्तव्य के विचार से गुरुवयूर छोटा प्रश्न नहीं है। इस सम्बन्ध में 'हरिजनों का उद्धार' ये शब्द बिलकुल भ्रमपूर्ण हैं। मेरे विचार में अस्पृश्यता के सम्बन्ध में हिन्दुओं का मुख्य कर्तव्य उनके लिए मन्दिर खोल देना है। इस दृष्टि से गुरुवयूर छोटा प्रश्न नहीं।

प्रश्न—अस्पृश्यता-निवारण संघ ने अभी अभी अपना कार्य शुरू किया है। क्या यह न्याय है कि देश में अपना प्रभाव जमाने के लिये समय मिलने के पहले ही संघ को गुरुवयूर प्रश्न पर लड़ाई छेड़नी पड़े ?

गांधीजी—मैं संघ पर यह बोझ नहीं डालता और संघ का जन्म होने के पहले ही गुरुवयूर का प्रश्न जनता के सामने था। संघ से यही आशा की जायगी कि यह जो कुछ कर सकता हो, करे। पर यदि निश्चित समय के अन्दर मंदिर खोला न गया तो न संघ को दोष दिया जायगा, न इस कार्य में दिलचस्पी रखनेवाली किसी दूसरी संस्था को।"

प्रश्न—यदि यह सिद्ध हो जाय कि गुरुवयूर पूजा का निजी स्थान है तो क्या होगा ? क्या इससे वर्तमान स्थिति में कुछ फरक पड़ेगा ?

गांधीजी—हाँ, पूरा फरक हो जायगा। यदि यह सिद्ध हो हो जाय कि यह पूजा का निजी स्थान है तो अनशन न होगा।

प्रश्न—दक्षिण भारत के कट्टर लोगों के हृदय बदलने के लिये अब आपके विचार से क्या करना आवश्यक है ?

गांधीजी—सुधारकों को स्वयं ईमानदार होना चाहिये, कट्टर लोगों के साथ पूर्ण रूप से शिष्ट व्यवहार करना चाहिये और उन्हें याद रखना चाहिये कि वे सुधारक बनने के पहले कट्टर लोगों के ही समान थे।

प्रश्न—शंकराचार्य और अन्य धार्मिक गुरुओं का, जो अस्पृश्यता के पक्ष में हैं, कट्टर लोगों पर प्रभाव है। उनके बारे में क्या करना चाहिये।

गांधीजी—सुधारक जनता का मन बदलने के लिये कार्य कर रहे हैं और मैं स्वयं सुधारक की हैसियत से विश्वास करता हूँ कि लोकमत सुधारों की ओर झुक गया है। मैं इस बात पर एक क्षण भी विश्वास नहीं करता कि इस समय अधिकांश हिन्दुओं पर धार्मिक गुरुओं का प्रभाव है। यही बात गांवों के भी सम्बन्ध में है। जब लाभ-हानि की बात होती है तब गांववाले उनकी बातें सुन लेते हैं और जब यह प्रश्न नहीं होता तब वे अपने अंध विश्वास के अनुसार काम करते हैं।

प्रश्न—मान लीजिये कि शंकराचार्य यह 'फतवा' निकालें कि किसी हिन्दू को शराब न पीना चाहिये। तब ?

गांधीजी—तब वह 'फतवा' महज कागज का टुकड़ा ही रह जायगा। आत्म संयम के नियमों का स्वयं पालन करके और उनका प्रचार करके ही धार्मिक गुरु अपने पद को उचित सिद्ध कर सकते हैं।

प्रश्न—आपका स्वास्थ्य इस समय बहुत कमजोर है।

सुधारक या उनके विरोधी ऐसे उपायों का सहारा लेते हैं जो न्याय्य और निष्पक्ष नहीं।

शास्त्र और अन्तर्ध्वनि का अर्थ

अनेक पत्र लेखकों ने मुझसे पूछा है—आप कहते हैं कि मैं शास्त्रों को मानता हूँ, पर हम इसका अर्थ नहीं समझ पाते, कारण आप ऐसी बहुत सी बातों को अमान्य करते हुए दिखाई देते हैं, शास्त्र जिनका समर्थन करता है। जिस गीता की आप दुहाई दिया करते हैं, वह भी शास्त्रों का अनुसरण करने का आदेश करती है।

शास्त्रत्व की कसौटी

जो कुछ गीता के मुख्य सिद्धान्त से असंगत हैं वह मेरी दृष्टि में शास्त्र नहीं है। अपने आशय को और स्पष्ट करने के लिये मैं कहना चाहता हूँ कि सदाचार के सर्व-स्वीकृत, सर्वदेशीय मूल सिद्धांतों से जिसका मेल नहीं है वह मेरे लिये शास्त्रवत् प्रमाण नहीं हो सकता शास्त्र उन मूलतत्वों को पदच्युत करने के लिये नहीं, किन्तु उनका पोषण करने के लिये ही बनाये गये हैं। गीता से इसीलिये मेरी सम्पूर्ण धर्म-जिज्ञासा की तृप्ति हो जाती है कि वह उन सिद्धान्तों को पोषक ही नहीं करती, उनका अनुसरण क्यों कर्तव्य है, इसका हेतु भी देती है। इस कसौटी के बिना मुझ जैसे साधारण मनुष्य बहुसंख्यक संस्कृत ग्रंथों के परस्पर विरोधी वचनों के जंगल से कभी पार ही न पा सकेंगे। स्मृतियाँ अनेक हैं। कुछ का, उन सौ दो सौ मनुष्यों की मंडली को छोड़कर जो उसमें श्रद्धा रखते हैं, नाम तक लोग नहीं जानते। कब कहाँ उनकी रचना हुई, कोई नहीं बता सकता।

दक्षिण में मुझे ऐसे एक ग्रंथ के दर्शन हुए थे। अपने विद्वान् मित्रों से मैंने उसके विषय में पूछा तो उन्होंने कहा कि हम इसके विषय में कुछ नहीं जानते। इसी प्रकार बहुसंख्यक ग्रंथ हैं जिनके वचन एक दूसरे का खण्डन करते हैं और कुछ विशेष स्थानों को छोड़कर अन्यत्र कोई उनके पालन की परवाह नहीं करता।

यदि ये सभी ग्रन्थ हिन्दुओं के लिये शास्त्रवत् मान्य हों तो फिर शायद ही कोई ऐसा पाप हो जिसके लिये किसी न किसी शास्त्रीय वचन की अनुमति न हो। यहाँ तक कि मनुस्मृति में भी, यदि उसके संदिग्ध वचन अलग न कर दिये जायँ तो, ऐसे कितने ही वचन मिलेंगे जो उन धर्मों और सदाचारों का भी खण्डन करते हैं जो इस ग्रंथ के अनुसार सर्वोच्च धर्म और सदाचार है और जिनका उपदेश संपूर्ण ग्रंथ में स्थल स्थलपर किया गया है।

अतः गीता में प्रयुक्त शास्त्र शब्द का, मैं जो अर्थ करता हूँ उसके अनुसार शास्त्र माने कोई ग्रन्थ गीता से बाहर के आचार नियमों का कोई समुदाय नहीं है, किन्तु वह सदाचार है जिसकी शिक्षा हमें किसी जीवित अधिकारी पुरुष के चरित्र से मिलती हो।

मैं जानता हूँ कि मेरी इस व्याख्या से टीकाकारों को संतोष नहीं हो सकता, और मुझको शास्त्रों की विशेष जानकारी न रखनेवाला व्यक्ति इस विषय में किसी को रास्ता दिखाने की योग्यता नहीं रखता, पर शास्त्र शब्द का अर्थ मैं क्या करता हूँ यह बताकर मैं अपने टीकाकारों का कुतूहल अवश्य तृप्त कर सकता हूँ।

अन्तर्ध्वनि का अर्थ

दूसरा प्रश्न यह है और यह भी उतने ही आग्रह के साथ पूछा जा रहा है कि ईश्वरीय संकेत अथवा अन्तर्ध्वनि शब्दों से आपका क्या अभिप्राय होता है और यदि हर एक आदमी अपने पड़ोसियों से सर्वथा भिन्न रूप में यह संकेत पाने का दावा करने लगे तो आपकी और दुनिया की क्या स्थिति होगी?

यह प्रश्न उचित है। निश्चय ही यदि ईश्वर ने इसका उपाय न कर रखा हो तो हम बड़ी कठिनाई में पड़ जाते। अतएव यद्यपि सब लोग ऐसा संकेत वा आदेश पाने का दावा कर सकते हैं, पर उसकी सत्यता का प्रमाण बहुत थोड़े ही दे पावेंगे। जो आदमी झूठमूठ ईश्वरीय संकेत अथवा अन्तरात्मा का आदेश पाने का ढोंग करेगा उसकी गति उससे भी बुरी होगी जो किसी पार्थिव शक्ति या सम्राट के आदेश पर काम करने का झूठा दावा करता है। भंडाफोड़ होने पर जहाँ इसकी केवल शारीरिक क्षति ही होकर रह जायगी, ईश्वर के नाम पर ढोंग रचनेवाला देह और आत्मा दोनों से नष्ट हो जायगा।

उदार आलोचकों ने मुझपर मक्कारी का इलजाम तो नहीं लगाया है पर कहते हैं कि बहुत सम्भव है कि आपको भ्रांति हुआ करती हो। पर भ्रांति और ढोंग दोनों दशाओं में मेरे लिये परिणाम प्रायः एक सा ही रहेगा। मुझ जैसे विनीत जिज्ञासु को बहुत सतर्क रहना पड़ता है और चित्त को साम्य बनाये रखना पड़ता है। जब तक मनुष्य अपने आपको मिटाकर शून्यवत् न कर देगा तब तक ईश्वर उसका पथप्रदर्शक न बनेगा।

इस बात को अधिक विस्तार देने की आवश्यकता नहीं। मैंने जिस बात का दावा किया है वह कोई असाधारण बात नहीं है, और न यह बात है कि वह केवल मुझी तक परिमित हो। ईश्वर उन सभी स्त्री-पुरुषों के जीवन का नियमन और संचालन करेगा जो पूर्ण रूप से उसे आत्मसमर्पण कर देंगे। गीता के शब्दों में भगवान उन्हीं को अपना निमित्त बनाते हैं जिन्होंने पूर्ण अनासक्ति प्राप्त कर ली हो अर्थात् अपने अहंकार को पूरी तरह मिटा दिया हो। इसमें भ्रांति होने न होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। मैंने एक सरल वैज्ञानिक सत्य कहा है जिसकी जांच हर एक आदमी कर सकता है, बशर्ते कि उसमें आवश्यक अधिकार-सम्पादन के लिये दृढ़ संकल्प तथा धैर्य हो।

अन्त में मुझे यह कहना है कि मेरे दावे को लेकर किसी को परेशान न होना चाहिये। मैं जनता से जो कुछ करने को कह रहा हूँ उसका समर्थन युक्ति और बुद्धि से भी किया जा सकता है। मेरे इस कार्यक्षेत्र में न रह जाने पर भी अस्पृश्यता को तो हटाना ही होगा। मेरा अनशन ईश्वर-द्वारा प्रेरित है या नहीं, इसकी उलझन मेरे घनिष्ठ मित्रों को भी न होनी चाहिये। वे मेरे प्रति अपनी ममता के कारण इस कार्य में द्विगुणित शक्ति से उद्योग कर सकते हैं। यदि अन्त में यही साबित हुआ कि मेरा अनशन एक हठी मनुष्य की नासमझी का नतीजा था, तो भी यह कोई विपत्ति न होगी। जिनके हृदय में न मेरे लिये ममता है और न श्रद्धा, उनपर इसका कुछ भी असर न होगा। अतः मेरे संकल्पित अनशन अथवा उसके ईश्वरादिष्ट होने के मेरे दावे की बहस बार बार उठाने से जनता के दुविधा में पड़ जाने

और उसका ध्यान उस महान कार्य की ओर से हट जाने की सम्भावना है, जो राष्ट्र के सामने उपस्थित है।

गांधीजी का अनशन

श्रद्धेय भगवान्‌दासजी के विचार

आज से ढाई हजार वर्ष पहिले इस भारत-भूमि में बुद्धदेव ने जन्म लिया और अपनी घोर तपस्या के बल से, अपने जीवन-काल में, गंगा के किनारे किनारे घूमकर, उत्तर भारत के मानव संसार की प्रवृत्ति को अनाचार, दुराचार, भेदभाव, हिंसा, असत्य, आदि आसुर भावों से फेरकर, अहिंसा, सत्य अस्तेय, सदाचार आदि की ओर लगाया, जिसका फल यह हुआ कि प्रायः एक सहस्र वर्ष तक भारतवर्ष का इतिहास, अंधकार से निकलकर उज्ज्वल प्रकाश में रहा। आज, ढाई हजार वर्ष के बाद फिर एक ऐसे उत्कृष्ट जीव ने यहाँ जन्म लिया है जिसने, अपने जीवन-काल में, न केवल उत्तर या पश्चिम या दक्षिण या पूर्व भारत का, न केवल समस्त भारत का, बल्कि पृथ्वी-तल के सभी महाद्वीपों और सभी वर्षों का, सभी सभ्य देशों और जातियों का ध्यान, व्यक्ति और जाति के उद्धार के उन्हीं एकमात्र शाश्वतिक उपायों की ओर, अहिंसा और सत्य आदि की ओर, अपने घोर सत्याग्रह और अहिंसाग्रह से, अपनी उग्र तपस्या और स्वार्थ-त्याग से, खींचा है। बुद्धदेव के समय में, वार्ता के प्रचार की सामग्री वैसी न थी, जैसी आज रेल, तार, जहाज, विमान, छापा प्रभृति से है। इस हेतु से महात्मा गांधी की

तपस्या और सद्भाव और शुभ ध्यान का प्रसार प्रचार बहुत अधिक व्यापक और थोड़े ही काल में हुआ।

यह त्यागविभूतिमत्, तपःश्रीमत्, सत्य के बल से ऊर्जित, तेजोंऽशसंभव ईश्वर की कला भारत-भूमि पर इसीलिये भेजी गयी है कि सब मानव-संसार का भला करे, दंभ, दर्प, अभिमान, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या आदि अधर्ममय आसुर भावों से ग्लानि, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रहरूपी मूल धर्म का, अपने अद्भुत तपस्यामय आचरण से, जीवन से, मानवसंसार के चित्त में पुनर्व्यवस्थापन करे, जिस मूलधर्म के पालन से ही मनुष्यों का कल्याण हो सकता है। मनु की आज्ञा है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात्, भारतवर्ष में जन्म लिये अग्रजन्मा ज्येष्ठ सत्पुरुष महापुरुष से, समस्त पृथिवी के सब मानव सच्चरित्र सीखें, अपना अपना कर्तव्य सीखें। मनु की यह आज्ञा महात्मा गांधी के शरीर से आज यथाकथंचित् चरितार्थ हो रही है।

ऐसे उत्कृष्ट जीव ने प्रायोपवेशन की, आमरण अनशन की, भीष्म-प्रतिज्ञा इस संकेत से की है, कि भावी स्वराज्यविधान में, अछूत हिन्दू और छूत हिन्दू का नाम देकर, दो पृथक् पृथक् निर्वाचनक्षेत्र बनाकर, हिंदू-समाज के परस्पर विवदमान दो खंड सदा के लिये न हो जाने पावें—यह सुनकर सभी भारत के शुभचिन्तक सज्जनों का हृदय कम्पमान हो रहा है। ऐसे निस्स्वार्थी परमार्थी महापुरुष की कृतियों का अर्थ, मेरे ऐसे तपस्याहीन स्वार्थी जीवन बितानेवाले जीव के लिये, समझना कठिन है। बहुधा शंका में पड़

जाता हूँ, और अपनी शंकाओं को असमय कुसमय कहता रह
हूँ। तौ भी, हृदय में दृढ़ विश्वास है कि महात्माजी के परम शु
हृदय में जो कुछ प्रेरणा उठेगी वह परमात्मा की ओर से
आई होगी, और ऋतसत्य ही होगी, लोकोपकारी ही होग
और इस श्रद्धा को मन में बाँधकर सब भारतवासी बंधुओं
साथ-साथ मैं भी उनके पीछे पीछे-पीछे चलने का यत्न कर
हूँ। जब से इस प्रतिज्ञा का हाल सुना तब से इस विचार
पड़ा हूँ कि इसी छूत-अछूत के प्रश्न पर क्यों ऐसी भीष
प्रतिज्ञा बाँध ली। इससे तो, सरसरी निगाह से देखने में अ
भी बड़े बड़े प्रश्न पड़े हैं, और इस प्रश्न का निपटारा इ
प्रतिज्ञा से कैसे होगा, इत्यादि व्यर्थ शंका मन में उत्पन्न हो
रहीं। अन्त में यही भाव मन में उदय हुआ कि नहीं, यह प्रश्
देखने में चाहे अन्य प्रश्नों से कम गंभीर जान पड़ता हो, पर
सबसे बड़ा। प्राचीनकाल में इस देश में अभेद बुद्धि क
अद्वैत भाव का, सब ही जीवात्मा एक परमात्मा के अंश
इसका, डिंडिम था, और विश्वास भी था। और जब तक य
विश्वास सचमुच था तब तक देश में सब प्रकार का परस्प
सहयोग, स्वातंत्र्य, समृद्धि सुख था। जब से यह अभेद बुि
घटी और परस्पर भेदभाव और परस्पर असहयोग बढ़ा, तभ
से इस देश का पतन हुआ, अनन्त आपत्तियाँ आईं, सुख समृि
का नाश हुआ, और दुर्बल निर्बल होकर दूसरे देशों के पद
दलित हुआ।

पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।

ऐसे उदाहरणों को देखकर आज हिन्दू-समाज का सबसे बड़ा कृत्य यह हो गया है कि जैसे हो तैसे छूत अछूत का दुराव गराव भेदभाव मिटा दें।

पुरानी पुस्तकों में लिखा है—

धर्म एव हतो हंति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हंतव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत॥

धर्म यदि मरा तो मनुष्य व्यक्ति मनुष्य जाति भी मरी। धर्म की रक्षा हुई तो मनुष्य व्यक्ति जाति की भी रक्षा हुई। धर्म का नाश न होने पावे, नहीं तो हमारा भी नाश हो जायगा। ऐसी बातों को सुनकर हम लोगों को धर्म धर्म धर्म पुकारने का अभ्यास तो पड़ गया है, पर धर्म का सच्चा स्वरूप सर्वथा भूल गये हैं। जिन मनुजी ने उक्त श्लोक कहा उन्होंने यह भी कहा है—

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः।

जो तर्क से, हेतु से, धर्म का अनुसन्धान कर लेता है, जान लेता है कि इस हेतु से यह धर्म बनाया गया है, वही तो धर्म को ठीक ठीक जानता है, दूसरा नहीं जानता। व्यास महर्षि ने भी शांतिपर्व में इसका अनुवाद किया है।

कारणैर्धर्मन्विच्छेन्न लोकं विरसं चरेत्।
कारणैर्धर्मन्विच्छन्स लोकानाप्नु ते शुभान्।
अकारणो हि नैवास्ति धर्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले॥

कोई भी सच्चा धर्म विना कारण के नहीं होता। प्रत्येक धर्म के हेतु को जानकर आचरण करना, तभी शुभ लोकों की प्राप्ति होती है।

अँग्रेजी में कहावत है, 'दि रीज़न्स गोइँग दि ला गोज' अर्थात् जब किसी कानून के हेतु उठ जाते हैं तो कानून भी उठ जाता है।

तो, भाइयों, बहिनो, अस्पृश्यता, अछूतपन, के कारणों को विचारिये। हिन्दुओं में वयःप्राप्त सभी स्त्रियाँ, सभी वर्णों जातियों की, महीने में तीन दिन अछूत हो जाती हैं। गमी हो जाने से, सभी जातियों में, मृत मनुष्य के रिश्तेदार दस दिन को अछूत हो जाते हैं। किसी का हाथ पैर, अथवा सर्व शरीर, किसी विशेष मलस्पर्श से, मैला हो जाय; तो सभी जातियों में नहा-धोकर स्वच्छ शुचि होने तक वह अछूत हो जाता है। अपने को पवित्र से पवित्र माननेवाले हिन्दू नित्य सवेरे उठते ही अपने लिये मेहतर का काम करते ही हैं, और स्वयं अछूत हो जाते हैं, फिर नहा-धोकर छूत बनते हैं। निष्कर्ष यह कि गन्दगी से परहेज़ करना चाहिये, आदमी से नहीं।

हिन्दुओं के विश्वास से भी ब्रह्मदेव के शरीर से निकले चार पुत्र, चार सगे भाई ही न होंगे। अग्रजन्मा, अनुजन्मा बड़े और छोटे भाई, कहलाते ही हैं। फिर किस भाई-को अधिकार है कि किसी भाई को अछूत कहे, और ब्रह्मदेव के, पिता पितामह के, दर्शन के लिये उनके मन्दिर में जाने से वर्जन करे? यह सब केवल अहंकार-तिरस्कारजनित दुराव घराव है, और इसने सारे हिन्दू-समाज के शरीर में जहर भीन दिया है। यदि सबे सहेतुक सिद्धान्तभूत धर्म के हम लोग पक्षपाती हों तो हमको चाहिये कि सब मन्दिरों और तीर्थ-स्थानों पर ये दो श्लोक मोटे-मोटे अक्षरों में लिखकर लगा दें।

स्पृश्यास्पृश्यविवेके तु जातिनाम न कारणम् ।
किंत्ववस्था मनुष्याणां निर्मला समलाऽथवा ॥
भक्त्या पूतं मनो येषां देहःस्नानादिभिस्तथा ।
ते सर्वे स्वागताह्यत्र देवदर्शनकांक्षिणः ॥

अर्थात्

छूत अछूत विवेक में जातिनाम नहिं केतु ।
निर्मलता वा मलिनता मनुजन को ही हेतु ॥
चित्त शुद्ध है भक्ति से स्नानादिक से देह ।
जिनको वे स्वागत सभी वन्धु देव के गेह ॥

जिनको कोई संक्रामक रोग हो, जिनका शरीर और वस्त्र स्वच्छ न हो, नहाया-धोया न हो, उनको तो चाहे उनकी जाति कुछ भी हो, देव-मन्दिर और तीर्थ-स्थानों में जाने से रोकना, और तभी तक रोकना जब तक वे निर्मल न हो जायँ उचित है, क्योंकि दूसरों को प्रत्यक्ष क्लेश पहुँचने का भय है। अन्यथा एक भाई को दूसरे भाई के रोकने का, या उससे पूछने का कि तुम कौन जाति हो, कोई अधिकार नहीं। इस हेतुमान् युक्तियुक्त सद्धर्म के भाव के फैलने से इस प्रश्न का आत्यंतिक निपटारा हो सकता है। और आशा है कि महात्माजी की दारुण प्रतिज्ञा से हिन्दू जनता का हृदय बदल जाय और यह कार्य सिद्ध हो जाय। अवान्तर कार्य, उन सज्जनों को समझा लेना जिनके बल पर मैकडोनल्ड महाशय ने वह निर्णय किया जिसके हेतु से महात्माजी को यह भीषण व्रत धारण करना पड़ा—यह कार्य अन्य सज्जन, हिन्दुओं के छूत तथा अछूत समुदायों के नेता, कर लेने का प्रयत्न कर रहे हैं, और हम सबको एक चित्त

असपृश्यता-निवारण

पर

श्री भगवानदासजी की सिंह-गर्जना

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ॐ॥

प्रिय बन्धुबान्धव सज्जन,

वृद्धों से हम लोगों को यह शिक्षा मिली है कि,

यं तु रक्षितुमिच्छन्ति न देवा पशुपालवत्।
दंडमादाय रक्षंति सद्बुद्ध्या योजयंति तम्॥

तथा,

यं तु हिंसितुमिच्छन्ति न देवा पशुमारवत्।
दंडमादाय हिंसन्ति, दुर्बुद्ध्या योजयंति तम्॥

देवता जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, अपने हाथ में स्वयं दंड लेकर, उसकी रखवाली नहीं करते, उसको सद्बुद्धि, उत्तम बुद्धि, देते हैं, जिसके बल पर वह आप अपनी सब प्रकार की भलाई सहज में कर लेता है। ऐसे ही, जिसकी देवता हिंसा करना चाहते हैं उसको स्वयं अस्त्रशस्त्र से, दंड से, नहीं मारते, उसकी बुद्धि बिगाड़ देते हैं, उसको दुर्बुद्धि देते हैं, जिससे वह आप अपना नाश कर डालता है।

भारत सैकड़ों वर्ष से नीचे गिरता ही चला जा रहा है, और इस अवनति अधोगति का मूल कारण आपस के भेद-भाव, फूट, और बैर की दुर्बुद्धि, है—यह सबको अब प्रत्यक्ष के ऐसा है। इसको सिद्ध करने के लिये इतिहास की उद्धरणी

करके प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। यदि यह दुर्बुद्धि बढ़ती ही जाती तो भारत-जनता का नाश निश्चयेन हो जाता। पर ऐसा जान पड़ता है कि अन्तरात्मा परमात्मा को इस देश और इस जनता का नाश इष्ट नहीं है, प्रत्युत फिर से इसकी उन्नति, इसका उत्कर्ष, इष्ट है। क्योंकि साठ सत्तर वर्ष से सद्बुद्धि देने का यत्न कर रहा है।

वेदों में 'सहस्रशीर्षापुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' की चर्चा है। यहाँ सहस्र शब्द का अर्थ असंख्य है। भारत का जन-समुदाय द्वात्रिंशत्कोटिशीर्षा, बत्तीस करोड़ सिरवाला, विराट् पुरुष है। इसको सद्बुद्धि देने का क्या उपाय है? तो सच्चे, अच्छे, सात्त्विक बुद्धिवाले, तपस्वी, विद्वान्, निःस्वार्थी, अनुभवी, परार्थी, देशहितैषी, देश का भला चाहनेवाले जो नेता हैं वे ही सद्बुद्धि रूप हैं। इधर साठ सत्तर वर्ष से भारत का भला चाहनेवाले नेताओं को इस देश में उत्पन्न कर रहा है। यदि आपलोग सूक्ष्म दृष्टि से देखोगे तो प्रायः आपको यही देख पड़ेगा कि जितना ही अधिक भेदभाव मिटाने का और एकता, एकबुद्धिता, बढ़ाने का प्रयत्न जिसने किया उतना ही बड़ा और माननीय नेता वह हुआ। आज बारह पन्द्रह वर्ष से प्रधान नेता का स्थान और परमात्मा का पद भारत के हृदय ने महात्मा गान्धीजी को दे रक्खा है। इसका हेतु यही है कि ये नितान्त सच्चे हृदय से सबका मेल चाहते हैं, सच्चे अजातशत्रु हैं, किसीको अपना शत्रु नहीं समझते, न कोई इनको अपना शत्रु जानता है, भारत में क्यों सब पृथ्वीतल के रहनेवाले सब वर्गों का, सब धर्म मजहबवालों का, एका और सौमनस्य चाहते हैं,

सबका भला मनाते हैं, इसके लिए दिन-रात अन्तरात्मा से प्रार्थना करते हैं। और, बीच-बीच में अनशन रूप घोर तपस्या करते हैं। भीष्म ने महाभारत में कई बार कहा है।

तपो नानशनात् परम्।
तपःपरं नानशनान्मतं मे।

जिसने आहार त्यागा उसने सर्वस्व त्यागा। इससे बढ़कर तपस् हो नहीं सकता।

ऐसे प्रधान नेता का मुख्य काम, उनकी इन सब घोर तपस्याओं का एक मात्र उद्देश्य, यदि आप जाँचोगे तो यही जान पड़ेगा कि फूट-वर मिटाकर, भारत के परस्पर विवदमान कलहायमान वर्गों में, एका, स्नेह प्रेम सौमनस्य बुद्धिसाम्य स्थापित हो जाय। भारतीय समाज के सब अंगों में, अर्थात् हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख, पारसी, जैन, बौद्ध आदि में, हृदय की एकता हो जाय, इसका आपने भारी यत्न किया। और उसमें बहुत कृतार्थ भी हुए। पुरानी पुश्त पर चाहे प्रभाव कम पड़ा हो, पर तौ भी पड़ा, और नयी पुश्त पर तो बहुत पड़ा है।

सच्चा महापुरुष वह है जिसके दर्शन स्पर्शन से, क्षुद्र पुरुष भी महापुरुष नहीं तो पुरुषार्थी पुरुष तो हो जायँ। सोना से बहुत बढ़कर वह पारस पत्थर है जिसके परस से लोहा ताम्बा सीसा रांगा भी सोना हो जाय।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

जो महापुरुष अहिंसा के [illegible] में प्रतिष्ठित परिनि-

तो भी उसकी मनोवृत्ति बदल जाती है, और वह भी वैर-भाव को त्याग देता है। सो महात्माजी ने इस योगसूत्र को प्रत्यक्ष कर दिया है। जैसा शिष्ट सद्ज्ञानी तपस्वी के लिये मनु ने लिखा है, 'श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः'। हजारों मनुष्य आज उनके अनुव्रत हो रहे हैं, तरह-तरह की तपस्या का अभ्यास कर रहे हैं, देशोन्नति में तत्पर हैं।

'आचारेण शिक्षयति इति आचार्यः। जो अपने सदाचरण के उदाहरण से दूसरों को सदाचार की शिक्षा दे वही सच्चा आचार्य। केवल मुख से दूसरों को उपदेश दे और आप न करे उसको कोई नहीं मानता, प्रत्युत झूठा जानता है। ऐसी सच्ची तपस्या के ही बल से, भारतमाता के चिरकाल से धूल में लोटते हुए सिर को, महात्माजी ने कुछ उठाकर धोया-पोंछा है, और निरन्तर ऊँचा उठाने, स्वच्छ करने, तथा भारतमाता को अपने पैरों पर खड़ा कर देने के यत्न में लगे हैं। इसीलिये धार्मिक विवादों के, विशेषकर हिन्दू-मुसलमानों के, विवादों को मिटाने का आपने यत्न किया है। दोनों धर्मों में केवल शब्दों का भेद है, मूल सिद्धान्त एक ही है, यह इस यत्न की पूर्ति के लिये—आवश्यक काम यह विशेष रूप से दिखा देने का दूसरों के करने का है। इस महायत्न के साथ-साथ आपका भारी यत्न सदा से हिन्दू कहलानेवाले समाज के सब अंगों में परस्पर दुराव-चराव के भेदभाव और द्रोहभाव को दूर करने का होता रहा है। इन भेदभावों को हटाने में पुराने दूरदर्शी नेता भी श्रम करते ही रहे। पर महात्माजी ने अद्भुत लगन और दारुण तपस्या से इस काम को उठाया है। और कुछ दिनों से अपनी

सारी शक्ति, कारावास के भीतर से वर्तमान शासकवर्ग की अनुमति से, इसी कार्य में लगा रहे हैं। बीते आश्विन के महीने में सौर तिथि ४ आश्विन से १० आश्विन तक जो अनशन व्रत आपने किया उसका फल यह हुआ कि सैकड़ों मन्दिरों के द्वार सारे देश में हरिजनों के लिये खुल गये।

पर मुख्य कर्तव्य तो यह है कि त्रैवर्णिक कहलानेवाले सज्जनों के हृदय के द्वार हरिजनों के लिये खुल जायँ। अभी तक तो महात्माजी पर भक्ति-श्रद्धा-प्रेम के कारण, व्रत से उनके शरीर का त्याग हो जाने की सम्भावना के भय के कारण, बहुतेरे मंदिरों के किवाड़ खुले। अवश्य कुछ के कपाट सच्चे सिद्धान्त के ग्रहण से भी खुले पर सारे देश में भाव के ठीक-ठीक परिवर्तन हो जाने की बड़ी आवश्यकता है। तभी यह कार्य बद्ध-मूल होगा। ऐसा होने के लिये आवश्यक है कि देश का जो महात्माजी पर घनिष्ठ प्रेम और भक्ति है, उसके साथ साथ देश की बुद्धि को भी यह निश्चय हो जाय कि यह रीति, जो महात्माजी चलाना चाहते हैं, वह ज्ञान-सम्मत भी है, केवल हृदयसम्मत ही नहीं है। ज्ञानियों की दृष्टि से सब प्रकार से उचित भी है, केवल भावुकों का भाव ही नहीं है। धर्म के अनुकूल है, धर्म का अंग है, धर्म है, धर्म के विरुद्ध नहीं है। धर्म तब तक सम्पन्न नहीं होता जब तक ज्ञान और भक्ति और कर्म समन्वय सम्वाद, न हो। मंदिर-प्रवेश और देवदर्शन के धर्मांग के विषय में भी ज्ञान और भक्ति और क्रिया का मेल हो जाना चाहिये।

अभी भी इस देश में बहुत सज्जन, सत्स्त्री, सत्पुरुष, ऐसे

हैं जिनका आजन्म का संस्कार यह है कि हरिजनों मन्दिरों में प्रवेश करना उचित नहीं है, धर्म-विरुद्ध है, शास्त्र-विरुद्ध है। ये लोग ऐसे सच्चे हृदय से मानते हैं। ऐसे सज्जनों पर क्रोध करना, या उनसे बलात् मंदिर खुलवाने का यत्न करना, या उनके साथ किसी प्रकार की उद्धतता, उद्दंडता, परुषता करना, यह घोर अन्याय है, यह महात्माजी के साथ द्रोह करना है, क्योंकि यह सब भाव हिंसा के अवान्तर भाव हैं, और महात्माजी को सर्वथा हिंसा त्यजनीय वर्जनीय है। जो लोग महात्माजी के सच्चे भक्त और अनुयायी हैं, उनका कर्तव्य यह है कि प्रेम से, मृदुता से, और लगन से, समझा बुझाकर, उभय पक्ष के गुणदोष दिखाकर, दूसरे प्रकार के संस्कारवालों को अपने पक्ष में ले आवें। तभी उनका कार्य स्थिर होगा। अन्यथा केवल भावुक क्षोभ की आँधी से किया हुआ आज का कार्य, दूसरी आँधी से कल फिर बदल जा सकता है। अभी १२ दिसम्बर को महात्मा-जी ने पूना से एक सज्जन के प्रश्नों का उत्तर देते हुए लिखा है:—"जबर्दस्ती किसी भी मन्दिर को हरिजनों के लिये न खुल-वाना चाहिये। लोकमत को हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश के अनु-कूल बनाने का उपाय ढूँढ़ निकालना चाहिये।"

तो अब प्रधान कर्तव्य यह है कि जनता के सामने यह सिद्ध किया जाय कि जिस रीति का महात्माजी उपदेश कर रहे हैं वह धर्म है, सनातन-वैदिक-आर्य-मानवधर्म है, धर्म के विरुद्ध नहीं है।

आदिस्मृति, आदिधर्मशास्त्र, मनुस्मृति का यह आदेश है, और इसमें किसी सनातनी हिन्दू को विवाद नहीं है, कि,

श्रुतिः स्मृतिःसदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥
विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥

श्रुति अर्थात् सुना हुआ वेद, तथा मनु की आदिस्मृति तथा पीछे से देश-काल-अवस्था के भेदों के अनुकूल ऋषि महर्षियों ने उस आदिस्मृति में समय समय पर चढ़ाव बढ़ाव करके दूसरी स्मृतियाँ, अपनी याद के अनुसार, जो बनाईं, तथा शिष्ट साधु विद्वान् और रागद्वेषरहित तपस्वी सत्पुरुषों का सदाचार, और अंततः अपनी आत्मा को जो प्रिय हो, जिससे अपनी आत्मा को सन्तोष हो, जिसको अपना हृदय कहे कि यह अच्छा है— यह चार धर्म के मूल हैं।

इन चारों का क्या तारतम्य है इस पर आगे कहा जायगा।

धर्म की महिमा और धर्म शब्द के अर्थ पर दो शब्द पहिले कहना उचित जान पड़ता है। मनु का आदेश,

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥

धर्म की रक्षा से समाज की रक्षा, धर्म के नाश से समाज का नाश।

आजकल की पच्छिम की बोली में 'धर्म' शब्द के स्थान पर 'ला ऐंड आर्डर' शब्द कहते हैं। पर 'धर्म' शब्द का अर्थ बहुत अधिक विस्तृत है। इसमें इहलोक के सुखसाधक और

और परलोक के सुखसाधक भी, मनुष्यों के परस्पर वर्त्ताव के भी, और मनुष्यों के, एक ओर देवताओं के, और दूसरी ओर पशुओं के, साथ वर्त्ताव के भी, नियम, क़ायदे क़ानून, सब शामिल हैं। 'ला ऐंड आर्डर' की दृष्टि केवल मनुष्यों के इह-लोक के वर्ताव के ऊपर रहती है, इसलिये उसमें अक्सर बहुत कर्थोपत रहता है, बहुत भूल होती है, और सुख के स्थान में दुःख उत्पन्न होने लगता है। पर 'धर्म' का भी यही हाल देखा जाता है। कभी कभी तो और भी भयंकर दोष धर्म में आ जाते हैं। स्वयं कृष्ण भगवान् ने सात्विकी, राजसी, तामसी बुद्धि का वर्णन करते हुए कहा है—

> अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽवृता।
> सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
> यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
> अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
> प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
> बन्धं मोक्षं च यं वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी॥

मनुष्य की प्रकृति में सत्व रजस् तमस् तीनों सदा मिले रहते हैं, नेकी भी और बदी भी। जब रजस्, तमस्, रागद्वेष, स्वार्थ, लोभ, लालच, काम, क्रोध का अधिक प्रभाव होता है तब उसकी बुद्धि बिगड़ जाती है, वह धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझने लगता है। जब यह दारुण भाव मानव-संसार में अधिक बढ़ जाता है और सज्जनों को, दीन जनों को, बहुत अधिक पीड़ा पहुँचने लगती है, तब अन्तरात्मा प्रायः उसी समाज में अपने को किसी श्रेष्ठ शरीर में विशेष रूप से प्रकट करके, सच्चे

धर्म का फिर से संस्थापन व्यवस्थापन करता है यह घटना पुनः पुनः मानव-इतिहास में होती रही है और होती रहेगी। जैसा स्वयं कृष्ण भगवान् ने फर्माया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽत्मानं सृजाम्यहं॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

क्योंकि विना सच्चे 'धर्म' के समाज की स्थिति ही नहीं हो सकती। यदि पुराण-काल को छोड़ भी दें, तो भी आधुनिक इतिहास से भी जान पड़ता है कि बुद्धदेव के जन्म के पहिले भारतवर्ष में मिथ्याधर्मों, असद्धर्मों, धर्माभासों का बहुत प्रचार हो गया था बुद्धदेव ने, जिनको सभी सनातनी नवम अवतार मानते हैं, सद्धर्म का जीर्णोद्धार किया, धर्म का संस्थापन किया, पंचशील की शिक्षा-दीक्षा से और अपने आचरण से, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अशुद्ध भोज्य पदार्थ मद्यमांसादि का वर्जन, और इंद्रियनिग्रह का प्रचार भारतवर्ष में किया, जो ही आज पुनः महात्माजी कर रहे हैं, जो ही आदिधर्म व्यवस्थापक आदिराज, महाराज, परमर्षि मनु भगवान् ने आदेश किया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एवं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन् मनुः॥

बुद्धदेव ने एक शिष्य के उत्तर में कहा था कि इस पुनर्व्यवस्थापित धर्म का प्रभाव प्रायः एक सहस्र वर्ष तक रहेगा। सो ही हुआ। राजस-तामस बुद्धि का देश में पुनर्वार सात्त्विक बुद्धि पर विजय हुआ, तंत्र-मंत्र वाममार्ग आदि के भयंकर दोष उत्पन्न

हुए, तरह तरह का अनाचार दुराचार फैलने लगा। फलतः पुनर्वार जीर्णोद्धार की आवश्यकता हुई; और पुनः-पुनः होती रही, और उसको शंकर, रामानुज, मध्व, चैतन्य, रामानन्द, कबीर, नानक आदि अपनी-अपनी तपस्या, विद्या और परिस्थिति के अनुसार करते रहे। आज इनके अनुयायियों के भी, उसी राजस-तामस भेदभाव की वृद्धि के ज़ोर के हेतु से, छोटे-छोटे परस्पर कलहायमान पंथ बन गये हैं। और इस अभागे देश की फूट-वैर, परस्पर भेद, तिरस्कार तथा द्रोह की हवा के अनुसार वर्ण में अवांतर उपवर्ण में अवांतर उपोपवर्ण जाति में अवांतर उपजाति में उपोपजाति, वैसे ही पंथ में अवांतर उपपंथ में उपोपपंथ हो गये हैं, और—

भूमि हरित तृन सङ्कुल, सूझि परै नहिं पन्थ ।
जिमि पाखण्ड विवाद तें, लुप्त भये सद्ग्रन्थ ॥

यदि यह दुर्दशा बढ़ती गई तो निश्चय है कि हिन्दू-समाज छिन्नभिन्न अस्तव्यस्त होकर नष्ट हो जायगा। नष्ट होने का क्या अर्थ है ? हिन्दू कहलानेवाली वर्तमान जनता का, या इसकी सन्तान का, तो लोप होने का नहीं, यह तो स्पष्ट ही है। लोप होगा हिन्दू कहलानेवाले धर्म के उस धर्ममूल और धर्मसार का, जिसको भगवान् मनु ने पंचलक्षणक सामासिक धर्म चारो वर्णों के लिये कहा है, और पुनः कुछ विस्तार से दशलक्षणक कहकर चारो आश्रमों के लिये आवश्यक कहा है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

यदि अवसर होता तो मैं यह दिखाने की कोशिश करता

कि अन्तरात्मा, सूत्रात्मा ने यहूदी जाति में मूसा के शरीर से, चीन जाति में कङ्फुत्से के शरीर से ग्रीक जाति में सुक्रात के, पुनर्वार यहूदी जाति में ईसा के, तथा अरब जाति में मुहम्मद के शरीर से, जब जब धर्मसंस्थापन, धर्मोद्धार किया तब तब इन्हीं पञ्चशील और दशलक्षण धर्मसार का ही उपदेश किया। बिना इनके मानवसमाज बर्बर अथवा जङ्गली पशुसमान, सभ्यताहीन, आचारहीन, ज्ञानहीन हो जाता है। हिन्दू-धर्म और हिन्दूसमाज के नाश का यही अर्थ हो सकता है। एक विशेष बात हिन्दूधर्म में और है—अर्थात् बुद्धिपूर्वक चार वर्णों और चार आश्रमों के द्वारा सामाजिक जीवन और वैयक्तिक जीवन का संग्रहण, व्यूहन। यह संग्रन्थन अन्य देशों और समाजों में भी मानव-प्रकृति के प्रभाव से है ही, पर बुद्धिपूर्वक, अभिसन्धि-पूर्वक, जानबूझकर, अधिकार-कर्त्तव्य की मर्यादा बाँधकर, नहीं बनाया गया है, इससे बहुत अस्तव्यस्त है। तथा भारतवर्ष में भी इसकी मर्यादाओं में भारी त्रुटियाँ आ गई हैं, जिससे अब यह धर्म के स्थान में अधर्ममय, और सुखावह के स्थान में महादुःखावह, हो गया है। इस सबके परिशोध और नवीनकरण की परम आवश्यकता है। धर्मसंस्थापन का अर्थ ही है वर्ण-आश्रम-धर्मव्यवस्थापन। हिन्दू के जो पुराने अर्थ से भरे नाम हैं, यथा सनातनधर्म, वैदिकधर्म, मानवधर्म, आर्यधर्म, उनके साथ यह भी विशेषद्योतक मुख्य नाम है अर्थात् वर्णाश्रमधर्म।

अभी महात्माजी को इस ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला है। जिस दिन देंगे उस दिन लोकहित भाव के तीव्रसंवेग

से शुद्ध, पवित्र, निर्मल हृदय पर उसके तत्व का तत्क्षण प्रकाश हो जायगा, और वे इसके द्वारा समस्त मानवजाति के कल्याण साधने में प्रवृत्त हो जायँगे, और अपने तपोबल से साध सकेंगे। क्योंकि विना तपस्या के ज्ञान सर्वथा वंध्य है, व्यर्थ है। हम लोगों की क्षुद्र बुद्धि जहां तक समझ सकती है, यही जान पड़ता है, कि जैसे अनुभवी वैद्य किसी भयंकर शरीरव्यापी रोग के प्रत्येक चिह्न और फलरूपी विकार की चिकित्सा नहीं उठाता, बल्कि उसके निदान को, मूलकारण को, पकड़कर, उसी के शमन में लग जाता है, वैसे ही महात्माजी ने हिन्दू-समाज के महारोगरूपी भेदभाव के उग्रतर स्थान को पकड़ा है, अर्थात् छूत-अछूत विवेक को, और देश की सारी शक्ति को इसी के शमन-दमन में लगा दिया है। यदि यह विकार दूर हुआ तो अन्य विकार आपसे आप अथवा सहज में थोड़े प्रयास से, दूर हो जायँगे। तो अब यह विचारने की आवश्यकता है कि जो हमारे समाज के बहुतेरे सज्जन बन्धुबांधव यह संस्कार आजन्म धारण कर रहे हैं, कि कुछ जाति के मानव, स्त्री पुरुष बालक, जन्म ही से दूसरों के लिये अस्पृश्य हैं, उनके शरीर वस्त्र, या उनकी छुई हुई वस्तु को छू लेने से ये दूसरे अशुद्ध हो जाते हैं, और विना स्नान दान आदि के फिर से शुद्ध नहीं होते—यह धारणा सद्धर्म है, या मिथ्या-धर्म और अधर्म है।

पहिले कहा कि सद्धर्म की कसौटी चार हैं—(१) श्रुति (२) स्मृति, (३) सदाचार, और (४) अपना अंतःकरण, अपना हृदय, अपना आत्मा। मुसलमान धर्म में इनके नाम हैं—(१) कुरान (२) हदीस (३) इज्मा (४) क़यास।

ईसाई धर्म में—(१) बाइबल (२) ट्रेडिशन—कैनोनिकल रेग्युलेशन—कानशेन्स। पच्छिमी कानून में—(१) एक्ट्स आफ लेजिस्लेशन या स्टैट्यूट—कस्टम—प्रेसीडेन्ट—एकिटी या एक्विट, रिवाज, नज़ीर, इन्साफ़।

इन चार कसौटियों से इस प्रश्न को जाँचना चाहिये। यह काम विशेषज्ञ लोग आर्यहृदय, आर्यबुद्धि के, रागद्वेषरहित, तपोविद्यायुक्त, विद्वान्, पंडितजन ठीक ठीक कर सकते हैं।

मेरे लिये बड़ी कठिनता यह है, कि तपस्या का नितांत अभाव, और ज्ञान भी अत्यंत पल्लवग्राही। सारी उमर सांसारिक व्यावहारिक झंझटों में बीती। किसी पूर्वजन्म के संस्कार से पोथी पढ़ने का शौक तो रहा पर समय यथेष्ट नहीं मिला, और पोथियाँ असंख्य। जो कभी कथंचित् कदाचित् कुछ फुर्सत मिली तो पचीस तीस स्मृतियों का, सदाचारद्योतक मुख्य मुख्य इतिहास-पुराणों का, जल्दी जल्दी, अपने मन से, बिना गुरुमुख से सुने समझे, पाठ कर लिया। वैदिक-साहित्य कुछ भी न देख सका। यदि उपनिषद् वेद का अंग, वेद का अन्त, वेद की पराकाष्ठा परागति, माने जायँ तो उनका भी केवल वैसा ही पाठ मात्र कर पाया।

कुछ सज्जन कहा करते हैं कि 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते', धर्म में बुद्धि को स्थान ही नहीं है, जो पोथी में लिखा है उसी के अक्षर के अनुसार कार्य करना चाहिये, क्योंकि यदि अन्तर्ध्वनि, अंतःकरण, आत्मप्रिय के अनुसार 'धर्म' हो, तो प्रत्येक मनुष्य का धर्म अलग हो जायगा, 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना'। इस शंका की उत्तररूप प्रतिशंका यों होती है, कि शास्त्र कहलानेवाली पोथियाँ

भी सैकड़ों हैं, इसी कारण से पंथ, उपपंथ, उपोपपंथ, सैकड़ों हो गये हैं, जिनके आचार-विचार में बहुत भेद है, किस पोथी को माने, किसको न माने। शंका प्रतिशंका दोनों का समाधान महाभारत में विदुरजी के मुख से स्वयं व्यासजी ने कर दी है,

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नः
नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

जब ऐसा मौका आवे कि दोनों ओर तर्क प्रतितर्क की परम्परा बढ़ती ही जाय, कहीं भी प्रतिष्ठित समाप्त न हो, तथा श्रुतियों का भी द्वैध देख पड़े, भिन्न प्रकार के वेद वाक्य परस्पर विरुद्ध मिलें, और विविध स्मृतिकार ऋषियों के भी वचनों में एकवाक्यता न हो, और धर्म का, किंकर्तव्यता का, तत्त्व मानो, गहरी गुफा में हृदय गुफा में, छिपा रह जाय, खोजने से न मिले, तब महाजन; जनसमुदाय, भूयसीय, बहुमत, जिस पथ पर चले उसी पथ पर अपने को भी चलना उचित है।

इस स्थान पर एक अद्भुत बात की ओर आप सब सज्जनों का ध्यान दिलाना चाहता हूँ। अखबारों से मालूम होता है कि गुरुवयूर के मंदिर में हरिजनों का प्रवेश एकादशी के दिन चिर-काल से होता आया है। जब ऐसा है, तब तो उस मन्दिर के सम्बन्ध में शास्त्रीय शंका कोई बची ही नहीं। प्रवेश उचित है यह सिद्ध हो गया। रहा यह कि पखवारे में एक दिन हो कि पन्द्रहो दिन हो, यह बात शास्त्रीय नहीं किन्तु सुविधा और

इति गुह्यतमं शास्त्रं।

सब शास्त्रों में गुह्यतम श्रेष्ठ शास्त्र, अर्थात् स्वयम् गीता में कहा हुआ अध्यात्मशास्त्र। कृष्ण ने अर्जुन को कार्याऽकार्य की घोर शंका में और विषाद में डूबे हुए देखकर, वेद के वाक्यों का उद्धारण नहीं किया, स्मृतियों के वाक्यों का हवाला नहीं दिया, प्रत्युत वेद के कर्मकांडी वाक्यों पर अतिश्रद्धा को अनुचित बताया, और

बुद्धौशरणमन्विच्छ......बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।

ऐसा कहा, अर्थात् बुद्धि में शरण लो, बुद्धि के नाश से मनुष्य का नाश हो जाता है। पहिले कहे श्लोकों का भी आशय यही है कि देवता जिसका भला चाहते हैं उसको सद्बुद्धि देते हैं।

तार्किक लोगों का भी कहना है कि—

न बुद्धिरस्तीत्यपि बुद्धिसाध्यं।

बुद्धि की गति आगे नहीं है—यह निर्णय भी बुद्धि ही करती है।

लौकिक कहावत भी है।

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलं।

जिसके पास बुद्धि है उसीके पास सब बल है, बुद्धि नहीं तो बल कहाँ। शास्त्रं यस्य नहीं कहा। आदि धर्मशास्त्रकार भगवान् मनु ने, शास्त्र बनाते हुए भी कहा—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सिता॥
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

धर्म की शुद्धि जो चाहते हैं उनको प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान-प्रमाण, और विविध शास्त्रप्रमाण तीनों से काम लेना चाहिये। अध्यात्म-विद्या के अनुकूल तर्क करके, इस कर्म से सुख होगा कि दुःख, इसको खूब विचार करके, जो धर्म का अनुसंधान, खोज, करता है वही सच्चे धर्म को जानता है दूसरा नहीं।

कुल्लूक भट्ट ने भी टीका में कहा है।

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिश्चयः।
युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥

केवल एक शास्त्र की पोथी के अक्षर को पकड़ करके, विना युक्ति देखे, जो काम करेगा वह अधर्म में पड़ जायगा।

व्यासजी ने भी महाभारत में भीष्म, युधिष्ठिर, तुलाधार आदि के मुख से कहा है।

अकारणो हि नैवास्ति धर्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले।
हेतुभिर्धर्ममन्विच्छेन् न लोकं विरसं चरेत्॥
न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारत वेदितुम्।
तस्मात्कौन्तेय विदुषा धर्माधर्मविनिश्चये॥
बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन् वर्त्तितव्यं कृतात्मना।
उत्सर्गेणापवादेन ऋषिभिः कपिलादिभिः।
अध्याध्यात्मचिंतामाश्रित्य शास्त्राण्युक्तानि भारत॥
(शांतिपर्व, अ० २६८, २६६, १०१, ३६०)

लौकिक कहावत भी है,

यस्या नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥

अर्थात् विना कारण के कोई छोटा से छोटा, सूक्ष्म से

सूक्ष्म, भी धर्म नहीं है, इसलिये प्रत्येक धर्म के हेतु को जानना आवश्यक है। अन्यथा लोकयात्रा नीरस, कुरस हो जाती है। केवल शास्त्र के पाठ से धर्म का ज्ञान नहीं होता। धर्म और अधर्म के निर्णय में बुद्धि से काम लेना चाहिये। कपिलादि महर्षियों ने, अपनी बुद्धि से, आध्यात्मिक चिन्तन करके, शास्त्रों को बनाया है। जिसको प्रज्ञा नहीं, बुद्धि नहीं, उसके लिये शास्त्र व्यर्थ है, जैसे नेत्रहीन मनुष्य के लिये दर्पण। देखिये—पहिले तो यही निश्चय करना है कि यह शास्त्र है या शास्त्र नहीं है—यह बुद्धि ही का काम है। फिर यदि किसी विशेष ग्रन्थ को मान भी लिया जाय कि यह शास्त्र है, तो उसके इस वाक्य का यह अर्थ है या दूसरा, यह भी बुद्धिहीन का काम है। तथा यदि यह मान लिया जाय कि हमारी बुद्धि काम नहीं करती, दूसरे की बुद्धि पर भरोसा करना चाहिये, तो यह निर्णय करना कि यह आप्त है, मानने योग्य है, या यह दूसरे सज्जन मान्य हैं—यह भी जिसको मानना है उसकी बुद्धि ही का काम है।

निचोड़ यह कि जो लोग शास्त्र को एक ओर और पूछने वाले संशय करनेवाले की बुद्धि को दूसरी ओर, उससे अलग कर देना चाहते हैं, और यह कहते हैं कि जिसको हम शास्त्र कह दें उसीको तुम शास्त्र मान लो, जो अर्थ हम कर दें उसी को तुम ठीक अर्थ मान लो, तुम अपनी बुद्धि को दखल मत दो—ऐसे लोग या तो आप भूल में पड़े हैं, या दूसरे को भूल में डालना चाहते हैं। कभी किसी की बुद्धि को मिटा देने का जतन नहीं करना चाहिये। प्रत्युत सच्चे आचार्यों का तो मुख्य लक्षण यही है कि दूसरों की बुद्धि को जगाते रहें, उनसे शङ्का

और प्रश्न कराते रहें, उनको सब धर्मों के हेतु बता बताकर उन का सन्तोष करते रहें। जो लोग दूसरों को कहते हैं कि हेतु मत पूछो, अपनी बुद्धि को त्याग दो, वे धर्म के द्रोही हैं, मित्र नहीं।

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चितः॥ (म० भा०)
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ (गीता)
यल्लोकहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति न श्रुतं॥ (म० भा०)

जो जनता को धारण करे, उनको एक दूसरे से बाँधे रहे, उनको बिखरने न दे, जो लोक का संग्रह करे, जिससे लोक का अत्यन्त हित हो, वही सत्य धर्म है।

इस दृष्टि से देखने से यह सिद्ध होता है कि समय समय पर धर्म को, आचार को, बुद्धिपूर्वक बदल देना भी आवश्यक होता है। आगे चलकर यह दिखाने का यत्न किया जायगा कि, किस प्रकार से, जो इधर कई शताब्दियों से इस देश में छूत अछूत का दुराव बराव, स्पृश्य-अस्पृश्य का विवेक किया जाता रहा है, वह शास्त्रसंमत भी नहीं है। पर उसके पहले यह कह देना उचित होगा कि, यदि किसी समय में यह शास्त्रसंमत रहा भी हो, तो अब लोक का धारक नहीं विच्छेदक, संग्राहक नहीं विग्राहक, हितकर नहीं अहितकर, काल अवस्था-पात्र आदि के भेद से हो गया है, इसलिये, शास्त्र के सिद्धान्तों के ही अनुसार अब इसको बदल देना आवश्यक हो गया है।

युगभेद से धर्मभेद होता है, यह स्वयं मनुजी आज्ञा देते हैं।

अन्ये कृतयुगे धर्माः त्रेतायां द्वापरेऽपरे।

अन्ये कलियुगे नृणां, युगह्रासानुरूपतः ॥

व्यासजी ने भी ऐसा ही कहा है—

स एव धर्मः सोऽधर्मस्तं तं प्रतिनरं भवेत् ।
पात्रकर्मविशेषेण देशकालाववेक्ष्य च ॥(शां० अ० ३१४)
अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चाऽपरः ।
वेदवादाश्चानुयु हसन्तीति च नः श्रुतम् ॥
न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः संप्रवर्त्तते ।
तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः ॥
आचाराणामनैकाग्र्यं सर्वेषामेव लक्षये ।
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः ॥
उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च ।
स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः ॥
आदानमनृतं हिंसा, धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः । शां० अ०

निष्कर्ष इन श्लोकों का यह है कि, देश-काल-निमित्त अवस्था-पात्र-अधिकारी आदि के भेद से धर्म में भेद होता रहता है, जो आज धर्म है वह कल को अधर्म हो जाता है, जो अधर्म है वह धर्म हो जाता है ।

प्रसिद्ध है कि अश्वमेध, गोमेध, संन्यास, श्राद्ध में मांसपिंड आदि पहिले धर्म थे, कलियुग में अधर्म हो गये । तत्रापि संन्यास को फिर से धर्म मान लिया गया । सब विद्वानों की बुद्धि से ही यह सब परिवर्तन किया गया ।

मनु का साक्षात् आदेश है कि, जब ऐसी अवस्था उपस्थित हो, जिसके लिये आम्नाय में, वेदादि में वचन न मिले, तो शिष्ट

ज्ञानी, तपस्वी, लोग जो निर्णय कर दें वही उस अवस्था के लिये धर्म होगा।

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशंकितः॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः समुपबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥

रेल पर चढ़ना या न चढ़ना, रेल पर पानी पीना या न पीना, तार से खबर भेजना और लेना या नहीं, जेब में घड़ी रखना या नहीं—इत्यादि बातों के लिये आम्नाय में वचन नहीं मिलने का। अपनी बुद्धि से ही निर्णय करना पड़ेगा।

मुझे याद है, पचास पचपन वर्ष पहिले, मेरे पूज्य पिता और पितृव्य जब रेल की यात्रा करके आते थे, तो तीन दिन, फिर दो दिन, फिर एक दिन, घर से अलग, बागीचे में, रक्खे जाते थे, उनके सब कपड़े धुलवाये जाते थे, वे भी कई बेर नहलाये जाते थे, कुछ प्रायश्चित्तरूप दान कराया जाता था, तब घर में आने पाते थे। मेरी परम पूज्य पितामही उस समय वर्त्तमान थीं। उनको उस समय यही शास्त्रोक्त धर्म बताया गया था। अब तो बतानेवाले सज्जनों के घर भी यह धर्म नहीं वर्त्ता जाता।

निष्कर्ष यह कि व्यवहार को सुकर बनाने के लिये शास्त्र बना और बनता है, शास्त्र के लिये व्यवहार नहीं बना। मान्य पुरुषों की बुद्धि शास्त्रों को बनाती है, शास्त्र तो बुद्धि की सृष्टि नहीं करते। इसीलिये जो बुद्धि शास्त्र को बनाती है वही उनको, उचित हेतु देखकर, बदल भी सकती है। युग युग में अवस्था

के बदलने से लोकमत बदलता है, वह लोकमत किसी विशिष्ट नेता की बुद्धि के द्वारा नवीन धर्म, नवीन आचार, नवीन शास्त्र, नये कानून में परिणत हो जाता है।

> शास्ति यत्साधनोपायं पुरुषार्थस्य निर्मलम्।
> एतच्छास्त्रस्य शास्त्रत्वं नान्यदस्त्य लक्षणम्॥
> वासना वासुदेवस्य वासितं सकलं जगत्।
> यस्माद्वसति लोकेषु वासुदेवस्ततः स्मृतः॥

चारो पुरुषार्थ, धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष में से किसी के साधन का सच्चा, निर्मल उपाय जो शासन करे, बतावे, वही शास्त्र है। लोक के हृदय में बसनेवाले वासुदेव की वासना से वासित लोक की इच्छा, और उसकी पूर्तिद्वारा सुख के साधन के उपाय, युग, युग में बदलते रहते हैं। इसलिये शास्त्र का भी समय समय पर नया संस्करण आवश्यक होता है। ठीक वैसे ही जैसे शासन-पद्धति में लेजिस्लेटिव कौंसिल में बैठकर कुछ लोग कानून में घटाव-बढ़ाव करते रहते हैं। दुःख यह है कि ये लोग जैसा चाहिये वैसे निस्वार्थी, अनुभवी, लोकहितैषी नहीं होते, इससे कानून बहुधा दुःखदायक बन जाते हैं, लोकोपकारक नहीं। ऐसे ही, धर्म में, छिपे-छिपे परिवर्त्तन होता ही रहता है, पर जिस प्रकार से और जैसे लोगों को, खुले रूप से, करना चाहिये, वैसे नहीं होता, इससे लोकोपकारक नहीं होता।

इस बात के उदाहरण के लिये, कि ऋषियों ने व्यवहार के लिये शास्त्र बनाये, शास्त्र के लिये व्यवहार नहीं, एक दो वाक्य स्मृतियों के देखिये। कहा जाता है कि चांडाल का छू जाने से सचैल स्नान करना उचित होता है। मनुस्मृति की प्रचलित

मुद्रित पुस्तकों में लिखा है कि चांडाल का छुआ और दिया हुआ भोज्य पदार्थ सवर्ण के लिये भोजन करना धर्म है। और क्या, कुत्ते का जूठा खा लेना भी धर्म है। इसको कोई विश्वास नहीं करेगा। पर सुनिये,

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः, सकुनिः फलपातने।
प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः, श्वा मृगग्रहणे शुचिः॥
श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत्।
कव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चांडालाद्यैश्च दस्युभिः॥

कारीगर का हाथ, पक्षी की चोंच, बछवे का मुँह, मृगया में शिकारी कुत्ते का दांत—ये सदा शुद्ध हैं। कुत्तों का मारा हुआ मांस, या पलुए चीता आदि का, या चाण्डाल व्याधों द्वारा—सब शुचि और ग्राह्य है। जो सज्जन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि मांस का ग्रहण करते हैं, उनके लिये यह सब मनु के वचन से धर्म ही है। कारीगर का हाथ यदि शुचि न माना जाय, चाहे वे कितनी भी तम्बाकू आदि पीते हों, नाक पोंछकर, सिर खुजलाकर, हाथ न धोते हों तो देवप्रतिमा, देवपूजा के लिये पूजा की माला, तरकारी बेचनेवाली स्त्रियों के हाथ की तरकारियाँ जिनको वे उसी पानी से छिड़कती रहती हैं जिससे साथ के बच्चे की आबदस्त, देती रहती हैं, इन सबका व्यवहार ही असम्भव हो जाय।

मनु की आज्ञा है,

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥

धर्म के विरुद्ध जो अर्थ और काम हों उनका त्याग करना,

और ऐसे धर्म को भी छोड़ देना जो सुख का विरोधी हो और लोकमत, 'रेफरेंडम', जिसके विरुद्ध हो गया हो।

प्रस्तुत प्रश्न पर विचार करने से जान पड़ता है कि जिस दृष्टि से भी जाँचिये, हरिजनों का देवदर्शन के लिये मंदिर में प्रवेश करना किसी प्रकार से धर्मविरुद्ध नहीं है, यदि वे शुचिता के नियमों का उतना ही पालन करें जितना और लोग करते हैं। बल्कि उनको रोकना धर्मविरुद्ध है। वे भी ब्रह्मदेव की संतान हैं। अग्रजन्मा के अनुजन्मा हैं। आनृशंस्य की, सहानुभूति की, दृष्टि से भी उनको साथ रखना ही उचित है। मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है,

न धर्मेऽस्याधिकारोऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनं।
धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः।
मंत्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति, प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च॥

अद्विज को धर्म में अधिकार नहीं है, तो प्रतिषेधन भी नहीं है। यदि उनमें से कोई, सत्पुरुषों के धर्म का अनुकरण करे, तो, वेदाध्ययन को छोड़, और सब धर्म कर्म करने से वे दोषी नहीं होते, प्रत्युत प्रशंसा के पात्र बनते हैं।

कुछ सज्जनों को यह शंका होती है कि मंदिर में हरिजनों के प्रवेश से देवमूर्त्ति दूषित हो जायगी, उसकी प्राणप्रतिष्ठा मिट जायगी, वह निष्प्राण हो जायगी। ऐसे सज्जनों से यह कहना चाहिये कि, हे भाई! आप अपने देवता पर और अपने पर ऐसी अश्रद्धा, अविश्वास मत करो। देवता ऐसे निर्बल दुर्बल नहीं हैं।

यथा रथ्यापाथः शुचि भवति गंगौघमिलितं।

गंगा में तो पनालों का पानी भी पड़कर आप पवित्र हो

जाता है, गंगा को अपवित्र नहीं कर सकता। गंगा के जल में ऐसी अद्भुत शक्ति है कि विषकीटों को दो तीन घंटे में नाश कर देती है, यह पश्चिमी वैज्ञानिकों ने निश्चय किया है। भक्त-जन के दर्शन से देव क्षीण हो जायँगे, यह तो देव की निन्दा करना है। देव तो भक्ति को देखते हैं, वर्ण और जाति को नहीं। सारा संसार यह प्रत्यक्ष देखता है कि वैदिक देवता, अग्नि, वायु, रवि, वरुण, पृथ्वी, मलतम पदार्थों को, खाद को मनुष्य का खाद्य अन्न बना देते हैं, अपवित्र को पवित्र कर देते हैं। हुताश का नाम ही पावक है। यदि मूर्त्तियों की सची प्राणप्रतिष्ठा हुई है तो उनमें भी ऐसे गुण होने चाहियें।

हाँ, शारीर-शुचिता को अवश्य देखना चाहिये। और सवर्ण अवर्ण सबके लिये एक-सा देखना चाहिये। प्रत्यक्ष मल-युक्त न हो, संचारी रोग का रोगी न हो, तभी मंदिर में आवै।

उक्त चार कसौटियों में से अंतःकरण की तो ऐसी व्यवस्था देख पड़ती है। और तीन के विषय में वेद के जाननेवालों से मैंने सुना है कि चांडाल शब्द वेद में नहीं मिलता। उसके समीप का शब्द निषाद मिलता है। सो निषाद के लिये यज्ञ आदि की अनुमति वेद ने दी है। 'यज्ञियासः पंचजना मम होत्रं जुषध्वं।' (ऋ०)। 'चत्वारो वर्णाः, निषादः पंचमः' (निरुक्त)। पुराणों में प्रथम निषाद को राजा पृथु का सगा बड़ा भाई कहा है। अर्थात् आर्यों से पहिले से जो लोग भारत में बसते थे, निषण्ण' थे, वे 'निषाद' कहाये, (ऐबोरिजिनीज।)

स्मृतियों में, अत्रि स्मृति में स्पष्ट लिख दिया है—

देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च।

उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते ॥

किन्हीं प्रतियों में ऐसा भी पाठ है—

उत्सवे तीर्थयात्रायां देवतायतनेषु च ।
यज्ञेषु च विवाहेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते ॥

अर्थ एक ही है। देवमंदिर में, तीर्थ-यात्रा में, यज्ञों में, विवाहों में, छूआछूत का विचार नहीं करना। और व्यवहार में नहीं हो रहा है। मुझसे ब्राह्मण पण्डितों ने कहा है कि काशी में श्री विश्वनाथ के मन्दिर में तथा श्री दुर्गा के मन्दिर में बाह्य कहलानेवाले भी भक्त, बराबर, स्त्री भी पुरुष भी, नहा-धोकर, स्वच्छ होकर जाते ही हैं, और दर्शन करते हैं। न वे किसी से आह्वानपूर्वक कहते हैं कि हम अमुक बाह्य जाति के हैं, न कोई उनसे पूछता है कि तुम किस जाति के हो। बस, यही ठीक मनुष्यता का; भलमंसी का; सद्बुद्धि का; देवभक्ति का सच्चा व्यवहार है।

सदाचार की कथा देखिये। रामजी से बढ़कर कौन सदाचारी हो सकता है। मर्यादापुरुष, प्रमाणं सर्व भूतानां, प्रतिमानं महीभुजां—यह सब उनके विशेषण हैं। रामजी के पिता दशरथ जी के परम सखा निषादराज थे, उन्होंने रामजी और सीताजी और लक्ष्मणजी को अपने हाथों नाव खेकर गंगापार उतारा। रामजी के पैर बड़े सुन्दर थे, उनका पैर छूने की बड़ी उत्कण्ठा निषादराज को हुई। पर सोचा कि अपने पिता के वृद्ध मित्र को अपना पैर छूने न दें, इसलिये बहाना किया,

क्षालयामि तव पादपंकजं नाथ, दारुदृशदोः किमंतरम् ।
मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते पादयोरिति कथा प्रथीयसी ॥

"नाथ ! ऐसा लोग चारो ओर कहते हैं कि आपके पैर की धूल छू जाने से पत्थर की शिला अहल्या हो गई। जब पत्थर की यह दशा हुई तो मेरी काठ की नाव का भी आपके पैर की धूल छू जाने से स्त्री बन जाना क्या अचरज है। और ऐसा हुआ तो मेरी तो सब जीविका मारी जायगी। इससे मैं आपके पैरों को धो-पोंछ के साफ किये बिना आपको नाव पर चढ़ने न दूँगा।

रामजी के आर्यहृदय का क्या कहना है, पिता के दूसरे मित्र, जटायु गृध्र, की अंत्यक्रिया अपने हाथ से की। जंगल के वानर भालुओं को अपने गले लगाया। उनके आश्लेषण परिष्वजन की चर्चा वाल्मीकिजी ने कई बार की है। भक्त शबरी का जूठा खाया। क्या इस सबसे बढ़कर सदाचार का निदर्शन चाहिये ? देवता तो भक्ति के भूखे हैं। जात नहीं पूछते। महात्माजी भी इतना ही कहते हैं कि बाह्य-शुचिता देखो, जो शर्त सवर्ण के लिये वही अवर्ण के लिये रक्खो। और इस बात को उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रश्न से और सह-भोजन, सहविवाह का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह दूसरा विषय है। जिन समाजों में, यथा ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, सिख, जैन, पारसी आदि में, वर्णभेद नहीं है और हिन्दुओं का-सा छुआछूत का विचार नहीं है, उनमें भी खाहमखाह जबर्दस्ती सहभोजन सहविवाह तो नहीं है।

कोई सज्जन कह देते हैं कि महात्माजी को धर्म में दखल नहीं देना चाहिये, राजनीति में जो चाहें करें। पर शासकवर्ग कहता है कि राजनीति में दखल मत दो, धर्म में जो चाहे करो। और भीष्म पितामह शांतिपर्व में कहते हैं।

सर्वे धर्मा राजधर्मे प्रविष्टाः सर्वा विद्या राजधर्मेषु दृष्टाः।
सर्वे योगा राजधर्मेषु युक्ताः धर्मो नान्यो राजधर्माद्विशिष्टः॥

धर्मशास्त्र के आदि ग्रन्थ मनुस्मृति का प्रायः आधा भाग राजधर्म कहाता है, बाकी में अन्य सब धर्म कहे हैं। कोई सज्जन कहते हैं कि, जब महात्माजी स्वयं कहते हैं कि मुझको शास्त्रों का ज्ञान नहीं है, तब क्यों धर्मशास्त्र के विषय में दखल देते हैं। हे भाई! हृदय-शुद्धि से निर्मल बुद्धि, जिसको परमात्मा ने दे दिया, उसको विशेष विशेष शास्त्र नामक पोथियों की आवश्यकता नहीं रहती। 'मेधासि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा'। वह तो शास्त्रप्रवर्त्तक होता है, सब शास्त्रों के सार उसकी बुद्धि में यों ही उपस्थित हैं।

वेद की आज्ञा है,

संगच्छध्वम्, संवदध्वम्, संवोमनांसि जानताम्।

आपस में संगति करो, एक साथ मिल के चलो, संवाद करो, विवाद मत करो, संज्ञान साधो, विरुद्ध ज्ञान मत रक्खो, मत फैलाओ। सर्वसंवादिनी स्थविरबुद्धिः। बूढ़ों का मुख्य काम यह है कि नई पुश्त के झगड़ों को मिटाकर उनमें सदा मेल कराते रहें। इस प्रश्न का भी निपटारा ऐसे ही शांत मन से, परस्पर प्रीति से, लोकोपकार बुद्धि से, जमाने को पहिचान करके कर लेना चाहिये। महात्माजी के प्रेममय अनशनरूपी सत्याग्रह का लक्ष्य यही है कि ऐसा समझौता निपटारा हो जाय और आपस का भेदभाव घटे।

किसी किसी प्रकार से स्यात् यह दिखाया जा सके कि एक अकेले चाण्डाल जाति के लिये मनुजी ने जन्मना अस्पृश्यता

कही है। पर जो लक्षण उन्होंने चाण्डाल का लिखा है उसका निश्चित रूप से इस काल में मिलना असम्भव है। इसलिये वह अंश स्मृति का अब बेकार हो गया है। दूसरे जो अर्थ किये जाते हैं वे ठीक मन में बैठते नहीं। अब तो सबको अपनाने की आवश्यकता है, ऐसी शर्तों से जो सब पर लागू हों। किसी को भी, बिना उन शर्तों के तोड़े, दूर करना, तिरस्कार करना, उसके मन में क्रोध जगाना—यह बड़ी भूल है। अपना शरीर, सभी का, उत्तमतम वर्ण का भी, भीतर मलमय है, जन्मना महा अस्पृश्य है।

> स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निस्यंदान्निधनादपि ।
> कायमाधेयशौचत्वात्पंडिताह्यशुचिं विदुः ॥

तो केवल बाह्य शुचिता की ही जाँच होनी चाहिये। और यह भी ध्यान करने की बात है कि प्रायः सभी सवर्णों के यहाँ, जन्म, विवाह, और मरण के संस्कारों में, अवर्णों के द्वारा, विशेष विशेष कृत्य कराने की प्रथा चली आती है। फिर देव-मंदिर से देवभक्त को निकालना, किसी प्रकार से उचित नहीं जान पड़ता है।

सब विचार का निष्कर्ष यह है कि, यदि आप मेरी प्रार्थना को मानें तो, सब देव-मंदिरों पर ये दो श्लोक मोटे अक्षरों में लिखकर लगवा दें, और उनके अनुसार सब देवदर्शनाभिलाषियों के साथ व्यवहार किये जाने का यत्न करें।

> स्पृश्यास्पृश्यविवेके तु जातिनाम न कारणम् ।
> किंत्ववस्था मनुष्याणां समला निर्मलाऽथवा ॥

भक्त्या पूतं मनो येषां देहः स्नानादिभिस्तथा।
ते सर्वे स्वागता ह्यत्र देवदर्शनकांक्षिणः॥
ॐ सहास्मानवतु, सहास्मान्भुनक्तु, तेजस्विनो अधीतमस्तु,
मा विद्विषामहै ॐ शांतिरस्तु, तुष्टिरस्तु, पुष्टिरस्तु, सौमनस्यमस्तु।
।ॐ सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥

—डाक्टर भगवानदास जी

आधुनिक युग में अछूत और धर्म

(लेखक—पं० देवनारायण द्विवेदी)

समय के फेर से आज जब कि देश में स्पृश्यास्पृश्य का प्रश्न जोरों से उठा हुआ है, कितने ही लोगों को धर्म की नौका डूबती हुई दृष्टिगोचर हो रही है। ऐसे लोग न तो धर्म का वास्तविक अर्थ ही समझ पाये हैं, और न उसके गहनातिगहन अर्थ की खोज में कभी दत्तचित्त होने का प्रयत्न करते हैं। यही कारण है कि उन्हें हरिजनों के मन्दिरों में प्रवेश करने से ही धर्म का नाश होना प्रतीत हो रहा है। यदि रूढ़ियों को छोड़कर विचार-दृष्टि से काम लिया जाय तो पता चलेगा कि हमारा सनातन-धर्म कितना व्यापक और उदार है तथा अपनी किन-किन विशेषताओं के कारण वह इतने धार्मिक आघातों के होने पर भी आज तक टिका हुआ है और धर्म का जीवन किस बात पर अवलम्बित रहा करता है। क्या कभी इस बात पर भी विचार किया कि वैदिक काल से लेकर अब तक भारतवर्ष में कितने धर्म प्रचलित हुए और वे क्यों काल-कवलित होकर आज अपना नाम भी

शेष नहीं रख सके ? कभी यह भी सोचने का अवकाश मिला कि उन परस्पर-विरोधी धर्मों के अनुयायी क्या हो गये ?

गम्भीरतापूर्वक इतिहास का मंथन करने एवं विवेक-बुद्धि से काम लेने पर हम अनुसन्धान की इस तह पर पहुँचते हैं कि हमारा सनातन-धर्म पहले इतना उदार और अकाट्य सिद्धान्तों पर स्थित था कि उसमें अगणित धर्म और असंख्य जातियों के लोग खप गये। ऐसे खपे कि आज उनमें से अधिकांश धर्मों के नामों का पता लगाना कष्ट-साध्य ही नहीं असाध्य है। यही हमारे धर्म की प्रधान विशेषता थी जिससे वह विरोधियों के अनेकानेक आघात-प्रतिघातों को सहन कर अमर रह सका है और उन आक्रमणकारियों को अपने में इस प्रकार मिला सका है जैसे दूध में शर्करा। छोटी-छोटी बातों पर लोग उपनिषदों के प्रमाण देने लगते हैं, किन्तु उन्हें यह नहीं मालूम कि उपनिषद है क्या वस्तु। वास्तव में जिस अनादि, अनन्त और गम्भीरतम ज्ञान में सनातन-धर्म आरूढ़ मूल है, उस ज्ञान का भाण्डार ही उपनिषद है। वह ज्ञान चारों वेदों के सूक्तांशों में पाया जाता है; किन्तु वह स्तोत्रों के बाहरी अर्थों द्वारा इस प्रकार आच्छादित है जिस प्रकार आदर्श में मनुष्य की प्रतिमूर्ति।

दुर्भाग्यवश हमारी असावधानी से काल-गति ने हमारे धर्म का रूप ही विकृत कर दिया। परिणाम यह हुआ कि वह इतना संकीर्ण हो गया कि आज उसमें इतर धर्मानुयायियों को स्थान मिलना तो दूर रहा उसके अंग ही अनधिकारी समझे जाने लगे। वह विशाल सनातन-धर्म अधिकांश बातों में ब्राह्मणों की और कुछ में द्विजाति मात्र की पैतृक-सम्पत्ति बन गया। फल-

स्वरूप हिन्दू-धर्म की कितनी ही जातियाँ पैरों तले निर्दयता से रौंद डाली गईं कि, जिनके भग्नावशिष्ट चिह्न अस्थि-पंजर ही रह गये। हरिजनों के साथ सबसे अधिक निष्ठुरता और अमानुषिकता का व्यवहार यह हुआ कि उनकी ईश्वर-भक्ति का अधिकार भी छीन लिया गया। धर्म के उत्तरोत्तर विशाल होने का वह मार्ग ही अवरुद्ध कर दिया गया जिससे होकर गुजरने में देश और जाति का कल्याण था। इस प्रकार धर्म ने भी विकृत सामाजिक रूढ़ियों में शरण पायी। हम ईश्वर-दर्शन करेंगे, तुम ईश्वर-दर्शन के अधिकारी नहीं हो यह कहना भला कहाँ का धर्म है? यदि यह विचार सनातन होता तो भिल्लिनी, निषाद और अजामिल की क्या गति हुई होती? सोचने की बात है कि क्या धर्म भी अन्य-सम्पत्तियों की तरह बँटवारे की वस्तु है? कोई भी धर्म अपने प्रत्येक अनुयायी के लिए समान अधिकार देता है।

कुछ लोगों की दलील है कि हरिजन अपनी रुचि से मन्दिरों में जाने के लिए अनुरोध नहीं करते पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त सुधारक व्यर्थ ही यह आन्दोलन उठाकर धर्म पर कुठाराघात कर रहे हैं। इसके उत्तर में नम्रतापूर्वक यही कहा जा सकता है कि हरिजनों की मनोवृत्तियों को तुच्छ बनाने का उत्तरदायी कौन है? यदि किसी भूले हुए और अपने ईश्वर-प्रदत्त अधिकारों से वंचित को उसके अधिकारों का ज्ञान कराना धर्म-नाश करना है तो माता-पिता या गुरुजनों को अज्ञ बालकों अथवा अबोध-ज्ञानियों को शिक्षा देना भी धर्म-हनन ही है। विचार-परम्परा की एक ही कसौटी पर समानधर्मी, एकवर्णीय

वस्तु की परख होती है। इस उत्थान-युग में देश, काल और पात्र का विचार करके हमें यह सोचना होगा कि जिस प्रकार जाति-धर्म व्यक्तिगत धर्म आदि स्वतंत्र और अबाध हैं, उसी प्रकार युग-धर्म का प्रवाह भी किसी प्रकार रोका नहीं जा सकता। इस समय हमारी बिखरी हुई शक्ति को एक होना है और वह सहस्रों विघ्न-बाधाओं के निरन्तर उपस्थित होते रहने पर भी एक होकर ही रहेगी। यह पारस्परिक संघर्ष तो उसके लिए गति-वर्धक होगी। केवल भावी इतिहास में विरोधियों की कीर्त्ति या अपकीर्त्ति कालिमा की एक रेखा अंकित हो जायगी।

इस समय यह आन्दोलन क्यों उठ खड़ा हुआ और इसका हल हो जाना क्यों आवश्यक है, इसपर विचार करना है। यह प्रश्न जैसा कि महात्मा जी ने कहा है केवल राजनीतिक नहीं है, सर्वथा सार्थक है। राजनीति में धर्म और धर्म में राजनीति का ऐसा संमिश्रण है कि उनका पृथक् करना कठिन काम है। समय ही बतलावेगा कि राजनीतिक दृष्टि से इस प्रश्न का क्या महत्व है। यहाँ उसका उल्लेख करना सम्भव है कि हमारे उद्देश्य में बाधक सिद्ध हो। युग-धर्म क्या करना चाहता है, उसकी स्थिरता कहाँ होगी और स्थिरता होगी या नहीं, यह ध्यान देने योग्य बात है। अन्तर्नाद ही इसका यथार्थ किन्तु स्पष्ट उत्तर देगा। यह समझना कि यह आन्दोलन केवल स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए है, सर्वथा भ्रामक है। यदि यही बात होती तो अमेरिका, फ्रांस, इङ्गलैंड, जापान आदि स्वतंत्र देशों में ऐसी अशान्ति पैदा होने का कोई कारण नहीं था। किन्तु पराधीन भारत की ही तरह उक्त देशों में अशान्ति का सुदृढ़

साम्राज्य-प्रसरित हो रहा है। कारण यह है कि संसार के रु-
वायु-मंडल में मानव-जगत् जिस उच्च भाव का स्वप्न देख रहा
है, वह सार्वभौम राज्य या उससे निम्न श्रेणी की ऐसी सुव्यवस्था
संस्थापित करना चाहता है जिससे भविष्य में युद्ध होने की
सम्भावना ही न रह जाय यह अन्तर्हित भावना अभी शताब्दियों
के बाद प्रस्फुटित होगी। उसी का यह आन्दोलन हल्का आभास
है। इसकी अबाधगति को कोई भी प्रबल से प्रबल शक्ति रोकने
में समर्थ नहीं हो सकती। महात्मा गांधी इस युग के प्रथम
प्रवर्त्तक हैं। उनके विचारों की यथार्थ रीति से महत्ता समझना
साधारण काम नहीं है। इस वेगवान प्रवाह को रोकने का प्रयत्न
करनेवाले अपना अस्तित्त्व खो बैठेंगे और कुछ न होगा।

इसलिए इस भीषण युग में हमारा धर्म है कि पहले हम
अपनी बिखरी हुई शक्ति को धार्मिक एकता के सुदृढ़ बन्धन में
जकड़कर भावी युग-निर्माण के लिए एक ऐसा प्रशस्त मार्ग
तैयार करें जिसका पथिक होने में राष्ट्रीयता को बाधा पहुँचाने-
वाला कोई आक्रमण ही न हो। धर्म तो प्रत्येक मनुष्य का एक
है। उसमें विभिन्नता नहीं। विभिन्नता है पथ-निर्देश में।
मन्दिर और मसजिद का प्रश्न झगड़े की जड़ हो रहा है। पर
इन्हें ऐसा रूप भी दिया जा सकता है जिससे धार्मिकता का
चिन्ह भी बना रह सकता है और परस्पर-विरुद्ध आक्रमण भी
रुक सकता है। इसी प्रकार के विश्व-धर्म के स्थापन में संसार
का कल्याण है। इसकी तैयारी के लिए हमें मिथ्यात्व को
मिटा देना होगा। अपनी धार्मिक एकता के उद्योग में विवेक-
बुद्धि से सहायक होना हिन्दू मात्र का कर्त्तव्य और धर्म है।

अंगहीन होकर हम अपने शरीर और धर्म की रक्षा नहीं कर सकते केवल दुःखी ही रहेंगे। द्विजाति के प्रत्येक व्यक्ति से यही प्रार्थना है कि अपना अंग काटकर अलग न फेंक दो, इसमें शोभा और निर्वाह नहीं है यदि सावधानी से उसे न छोड़ोगे तो बहुत जल्द अब वह अलग हो जायगा—क्योंकि अब लटके रहने की शक्ति उसमें नहीं रह गयी है। अपने को अपना लो लला! वही रक्त मांस, वही बनावट वही वाह्येन्द्रिय और अन्तरेन्द्रिय हरिजनों के शरीर की भी है जो तुम्हारे शरीर की। फिर धार्मिक भेद-भाव कैसा।

देवनारायण द्विवेदी

वर्ण-व्यवस्था और वर्ण-परिवर्तन

(लेखक—पण्डित रुद्रदेव शास्त्री, वेदशिरोमणि, दर्शनालंकार)

वर्ण-व्यवस्था का जन्म मनुष्य-समाजके समुचित संघटन और संव्यूहन के लिये मनुष्य की क्रमविकसित बुद्धि के द्वारा अथवा ईश्वर के द्वारा दी हुई विभूति है? इस प्रश्न की विवेचना करने पर हम इसी परिमाण पर पहुंचते हैं कि सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण तीनों ही प्रकृति के धर्म हैं। उत्तम, मध्यम और जघन्य भेद से सात्विकी, राजसी और तामसी प्रवृत्ति के बहुत से भेद हो सकते हैं। गीता (अ० १८ श्लो० २०—४०) में इन गुणों की विस्तृत चर्चा करने के बाद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्मों के विभाग का निर्देश (१८।४१–४४) किया है। उस निर्देश से यह बात भा

मन में आ जाती है कि गुणों का तारतम्य ही वर्णों के तारतम्य का जनक, उत्पादक अथवा अभिव्यंजक है। अर्थात् मनुष्य ने स्वयं इसको अंतर्बुद्धि की सहायता से जन्म दिया है। इन गुणों, कर्मों और कर्मों की वासनाओं तथा उससे उत्पन्न कर्मफलों एवं विविध योनियों के सुख-दुःख आदि के कार्यकारण भाव का सतत प्रवाह वृक्ष और बीज के प्रवाह के समान अनादि है। अच्छे कर्मों की अच्छी वासनाएँ और अच्छी वासनाओं से पुनः अच्छे कर्म का और कहां से प्रारम्भ है और कब समाप्ति तथा बुरे कर्मों की बुरी वासनाएँ तथा उन बुरी वासनाओं से पुनः बुरे कर्म की धारा कब और कहां जन्म लेती है, तथा कहां, कब और कैसे समाप्त हो जाती है, इसका स्पष्ट रूप से विभक्त कर देनेवाली रेखा न तो कोई है और न हो ही सकती है।

उदाहरण के तौर पर हम इसे इस प्रकार समझ सकते हैं। किसी बालक के हृदय में किसी फूल को चुराने का भाव आया। सबसे प्रथम बार फल की चोरी करते समय उस बालक के हृदय में भय, शंका लज्जा आदि के नाना भाव पैदा होते हैं। परन्तु चोरी करते रहने से शनैःशनैः उसके हृदय में चोरी की वासना बस जाती है। चोरी की वासना के उपरान्त, चोरी करते में प्रथम बार, चोरी के समान भय, शंका और लज्जा आदि उसको (बालक को) आकर नहीं सताते। सम्भव है कि इस वासना के द्वारा वह प्रबल और विख्यात चोर हो जाय। परन्तु इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि उसको चोरी से एकदम घृणा हो जाय और वह सत्कर्म में प्रवृत्त होने लगे। इस बात को समझने के लिए जल में डूबी हुई तूँबी पर ध्यान देना चाहिये।

एक तूंबी में एक पतली सूत की रस्सी बांध दी उसी रस्सी में एक पत्थर की शिला भी बांध दी। शिला के साथ तूंबी भी जल में डूब जायगी। कुछ समय बाद शिला और तूंबी में बँधी रस्सी सड़ जायगी। रस्सी के सड़ते ही तूंबी दस, बीस अथवा पचीस गज पानी के नीचे से भी निकलकर एकदम ऊपर आकर तैरने लगेगी। इसी तरह यही बात कर्म और कर्मफल तथा कर्मों की वासनाओं के सम्बन्ध में हुआ करती है। कब और कहां एक कर्म का फल समाप्त होता है इसे बताना पूर्ण सम्भव नहीं। अशुभ वासनाओं के कारण अशुभ कर्मों का करनेवाला व्यक्ति भी कदाचित् बहुत शीघ्र ही और सम्भवतः शनैः शनैः शुभ कर्मों को करने लगे। इसके साथ ही यह भी सम्भव है कि शुभ वासनाओं के कारण शुभ कर्मों को करनेवाला व्यक्ति भी सद्यः ही कुत्सित और वीभत्स कर्मों में प्रवृत्त हो जाय इन्हीं कर्मों के आधार पर मनुष्य-समाज में उसकी स्थिति (अवस्था) होगी। इन्हीं कर्मों के अनुसार लगातार संचित होनेवाली वासनाओं से प्रेरित होकर वह अपनी जीविका का साधन चुनेगा। बाह्यवृत्ति से उस व्यक्ति की आभ्यन्तर वृत्ति का ज्ञान होगा। उसी चुनी हुई वृत्ति के आधार पर उस व्यक्ति का वर्ण (वरण = चुनाव) व्यवस्थित होगा। समाज-शास्त्र में इसे ही 'वर्ण-व्यवस्था' के नाम से निर्दिष्ट किया है। जीविकार्जन के लिये चुनी हुई वृत्ति से किसी व्यक्ति को उच्च या नीच नहीं कह सकते। उच्चता या नीचता को व्यक्त करनेवाले कुछ और ही लक्षण हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच यमों एवं शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान इन पाँच नियमों

का पालन यथा सम्भव न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। इस प्रकार के गुणों के कारण उच्चता या नीचता की व्यवस्था करनी होगी, केवल जीविका के साधन से नहीं।

मनुष्य-समाज की उपमा एक शरीर से दी जा सकती है। पुरुष सूक्त के मन्त्र में [ब्राह्मणोस्यमुखमासीद् इत्यादि में] इसी बात को गुम्फित किया गया है। जिस प्रकार शरीर के टुकड़े टुकड़े करके शरीर को छिन्न-भिन्न नहीं किया जा सकता, किसी अंग विशेष को दुःखित और पीड़ित नहीं किया जा सकता, यदि कारणवश किसी अंगविशेष को ही कोई क्षति उठानी पड़े, तो उसका प्रतीकार भी तत्परता के साथ बिना विलम्ब करना अनिवार्य होता है, ठीक उसी प्रकार समाज की रक्षा के लिये उसके सब अंगों को एक सा रक्षण, भरण, पोषण और संशोधन अनिवार्य है। किसीको पद-दलित कर अधिकार-हीन करना अथवा सत्कर्म का अवसर ही न देना समाज के लिये घातक होगा। हमारे (हिन्दू-धर्म के) मान्य-ग्रन्थों का भी यही आदेश है। प्राचीन सनातन व्यवहार भी ऐसा ही है। कर्म करने की स्वतंत्रता और श्रेष्ठ कर्मों के सम्पन्न करने का द्वार सबके लिये खुला है। महाभारत में कहा है—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणापूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥

—महाभारत शान्तिपर्व, अ० ७२

एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद्युधिष्ठिर।
कर्मक्रिया विभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्॥
सर्वे वै योनिजा मर्त्याः सर्वे मूत्रपुरीषिणः।

एकेन्द्रियेन्द्रियार्थश्च तस्माच्छीलगुणैर्द्विजः ॥
शूद्रोऽपि शील-सम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत् ।
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात्प्रत्यवरो भवेत् ॥
शूद्र तु यद् भवेल्लक्ष्य द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥

—महाभारत वनपर्व, १४२

अर्थात्—

वर्णों की कोई विशेषता नहीं है, यह संपूर्ण संसार एक ही ब्रह्म (ईश्वर) का रचा हुआ है । पहिले ब्रह्म ने इसे बना दिया, तब कर्मों के भेद से भिन्न-भिन्न वर्णों को प्राप्त हुआ ।

हे युधिष्ठिर ! यह सारा जगत् पहिले एक वर्ण था । पर कर्म और क्रिया के भेद से चार वर्ण हो गये । सब मनुष्य एक ही प्रकार से उत्पन्न होते हैं, सबका शरीर एकसा ही मलमूत्रमय होता है, सबके एक सी हस्त, पाद, आँख, आदि इन्द्रियाँ हैं, उन इंद्रियों के विषय भी एक ही हैं, इसलिये मनुष्य अपने आचार व्यवहार आदि के कारण ही द्विज अर्थात् ब्राह्मण आदि त्रिवर्ण का कहा जाता है ।

शूद्र भी यदि उत्तम गुण, कर्म और स्वभाव से युक्त हो तो ब्राह्मण हो जाता है । और जन्मना ब्राह्मण होने पर भी यदि वह क्रियाहीन हो तो शूद्र से भी नीचा (चतुर्वर्ण बाह्य) हो जाता है । यदि जन्मना शूद्र में सदाचरण हो और जन्मना द्विज में नहीं तो जन्मना शूद्र वस्तुतः शूद्र नहीं है अपितु कर्मणा वह

द्विज है और जन्मना द्विज भी वस्तुतः द्विज नहीं है अपितु वह भी कर्मणा शूद्र ही है। जिसमें सदाचरण पाया जाय उसको ही शास्त्र-ब्राह्मण कहते हैं। अर्थात् वर्ण की कसौटी कर्म है, जन्ममात्र नहीं।

मनुस्मृति में भी इसी भाव की पुष्टि की है—

द्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥

—मनु १०-६५

अर्थात्—जन्मना शूद्र अपने गुण कर्म के द्वारा ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य आदि बन सकता है। और इसी प्रका ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य भी कर्मणा अपने वर्ण को परिवर्ति कर सकते हैं।

आपस्तम्बधर्मसूत्र आदि में भी यही आशय गुम्फित किया गया है। जैसा कि निम्नसूत्र से व्यक्त है—

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जाति-परिवृत्तौ।

पुराणों में इस विषय के शतशः उदाहरण मिलते हैं। पृषधु, गुरु की गौ का वध करके शूद्रत्व को प्राप्त हो गया।

पृषधुस्तुगुरुगोवधाच्छूद्रत्वमगत्।

—विष्णु पुराण, ४।१।१

नेदिष्ट पुत्र नाभाग क्षत्रिय से वैश्य हो गया और इस वंश के पुरुष पुनः वैश्य से क्षत्रिय हो गये।

नाभागोनोदिष्टपुत्रस्तु वैश्यतामगमत्।

—विष्णुपुराण, ४।१।

इसी प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे वर्णव्यवस्था और वर्णपरिवर्तन पर उचित प्रकाश पड़ता है।

यज्ञ और देव-पूजा

(लेखक—पण्डित रुद्रदेव शास्त्री, वेदशिरोमणि, दर्शनालंकार)

हम कह चुके हैं कि शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ सबसे श्रेष्ठ कर्म है। इस 'यज्ञ' का अधिकार मनुष्यमात्र को है—यह भी हम यजुर्वेद के महीधर और उव्वर के भाष्यों के अर्थ से सिद्ध कर चुके हैं। जब हम 'यज्ञ' के विस्तृत क्षेत्र का स्मरण करते हैं तो बात अनायास स्पष्ट रूप से स्वयं व्यक्त हो जाती है कि सम्पूर्ण शुभ कामों में सम्पूर्ण मनुष्य-जाति को समान अधिकार हैं। सूर्य, चन्द्र, मेघ, अग्नि और वायु आदि पदार्थ के उपयोग का जैसे सबको अधिकार है, ये सब जैसे प्रत्येक व्यक्ति के लिये अपेक्षित सामर्थ्य के अनन्तर अविशिष्ट फलप्रदाता हैं, ठीक वैसे ही ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग तथा भक्तिमार्ग के अनुसार अपनी लोकयात्रा को अतिवाहित करने का सबको अविशिष्ट अधिकार है। सब व्यक्तियों को अधिकार है कि वे पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ काम, मोक्ष) की सिद्धि करें। भूख, प्यास, शीत, आदि के दुःखों को दूर करने के लिये जैसे सब मनुष्य प्रयत्नशील हो सकते हैं, ठीक वैसे ही 'जन्म' रूपी दुःख को दूर करने तथा निःश्रेयस (मोक्ष = मुक्ति = निर्वाण) की उपलब्धि के लिये प्रत्येक व्यक्ति प्रयत्नशील हो सकता है।

इसकी आज्ञा स्वयं वैदिक मन्त्र देते हैं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के द्वितीय मंत्र में कहा गया है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः।

अर्थात्—कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा (मनुष्य) करे। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा चतुर्वर्णबाह्य सबको एक ही जाति का मानकर एक ही भाँति कर्म करने और कर्म करते हुए ही अपने मनुष्यजीवनको सफल बनाने का आदेश है। मनुष्य के सम्पूर्ण शुभ प्रयत्न भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ कहे जा सकते हैं। गीता (४।२८) अनुसार द्रव्य यज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ आदि सब यज्ञ ही हैं। प्रजापति ने अपनी प्रजा को यज्ञ के साथ ही उत्पन्न किया है। गीता (३।१०।११) में कहा गया है—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

गीता के इन श्लोकों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रजापति की सम्पूर्ण प्रजा उचित योग्यता को सम्पादन करती हुई देवताओं की पूजा करके अपने इष्ट कामों की सिद्धि करने का अधिकार रखती है। वेद के अनुसार सम्पूर्ण मनुष्य-जाति को यज्ञाधिकार है। इससे यह बात स्वयं सिद्ध है कि देवदर्शन और देवपूजन तथा मन्दिर-प्रवेश आदि का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा चतुर्वर्णबाह्य निषाद आदि को प्राप्त है ही। कुछ व्यक्ति इस विषय में कभी-कभी शंकाग्रस्त हो जाते हैं। अतः

हम इसको कुछ अधिक स्पष्ट कर देना अपना कर्तव्य समझते हैं। छान्दोग्योपनिषद में धर्म के तीन ही स्कन्ध बताये गये हैं 'त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति' अर्थात् धर्म के तीन स्कन्ध हैं। (१) यज्ञ, (२) अध्ययन और (३) दान। धर्म के 'यज्ञरूपी स्कन्ध' में अवान्तर रूप से 'देवपूजन' आदि की गणना की जायगी। मन्दिर-प्रवेश और देवदर्शन आदि भी इस के ही अवान्तर रूप होंगे। (यज् देवपूजासंगतिकरण दानेषु इस धातु के अर्थ से भी यह सिद्ध है) अतः यज्ञाधिकारियों को देवदर्शन, मन्दिर-प्रवेश और देवपूजन के अधिकार हैं ही। इसको न स्वीकार करना वेद और उपनिषद आदि में बतलाये गये सनातन-धर्म की सचाई और अच्छाई को दूषित करना होगा।

यज्ञ अथवा याग का सामान्य स्वरूप प्रतिपादक लक्षण यह है—देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागो यागः अर्थात् देव अथवा देवता को ध्यान में रखकर उसके निमित्त द्रव्य (आहुति आदि के द्वारा) प्रदान करना। इस यज्ञ के अनेक भेद हैं। कात्यायन-श्रौतसूत्र और पारासर गृह्यसूत्र आदि के भाष्यों में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उन सबका संक्षेप यह हो सकता है। प्रथम तो यजति और जुहोति भेद से याग दो प्रकार का है। पुनः प्रधान और अंग-भेद से यह दोनों भी दो प्रकार के हैं। इष्टि, हौतु और सोम-भेद से इनके भी तीन भेद हैं। इनमें भी हविःसंस्था, पाकसंस्था और सोमसंस्था के अलग अलग समुदाय हैं।

हविः संस्था में—(१) अग्न्याधेय, (२) अग्निहोत्र (३)

दर्शपौर्णमास, (४) पौर्णमास, (५) आग्रायण (६) चातुर्मास्य (७) पशु बन्ध।

पाक संस्था में—(१) सायं होम, (२) प्रातर्होम (३) स्थालीपाक (४) नवयज्ञ (५) वैश्वदेव (६) पितृयज्ञ (७) अष्टका।

सोम संस्था में—(१) अग्निष्टोम (२) अत्यग्निष्टोम (३) उक्थ (४) षोडशी (५) वाजपेय (६) अतिरात्र (७) अप्तोर्याम। आदि आदि उपभेद हैं।

सोमयाग के—(१) एकाह (२) अहीन और (३) सत्र यह तीन भेद और भी कहे जाते हैं। इन यज्ञों के अन्य उपभेद काम्ययागों की बहुत बड़ी संख्या है। आयुष्कामेष्टि, पुत्रकामेष्टि, वर्षकामेष्टि, वैश्वानरेष्टि, नवसस्येष्टि आदि सब 'काम्य याग' हैं। वेद, ब्राह्मण और अन्य सच्छास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा चतुर्वर्ण बाह्य व्यक्ति सब यज्ञ के अधिकारी हैं। सब उपर्युक्त यज्ञों को करने का अधिकार रखते हैं। वेद के अनुसार 'पंचजन' को यज्ञाधिकार है। होता, ऋत्विज् तथा उसके सहायक मैत्रावरुण, अच्छावाक तथा प्रावस्तुत् यदि पंचजन हो सकते हैं, तो क्या मन्दिर-प्रवेश और देव-दर्शन के अधिकार से 'पंचजन' में से कोई भी पृथक् किया जा सकता है? सनातन धर्म के अनुसार पंचजन के इस अधिकार को कोई किसी से छीन नहीं सकता। योग्यता सम्पादन करने के क्षेत्र का द्वार सबके लिये खुला है। जन्मना द्विज होने पर भी योग्यताहीन व्यक्ति 'शूद्र' और पतित हो जाता है—मनुस्मृति में कहा है।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

अर्थात्—जो द्विज वेद को न पढ़कर अन्यत्र ही श्रम करता है। वह अपने अन्वय (वंश) के सहित इस जीवन में 'शूद्रत्व' को प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत भी मनुस्मृति कहा गया है कि—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

अर्थात् स्वाध्याय, व्रत, होम, महायज्ञ आदि के द्वारा यह शरीर ब्राह्मण का किया जा सकता है। अर्थात् ब्राह्मण आदि वर्णों की कसौटी 'कर्म' न कि जन्म है। ज्ञानार्जन और तपस्या से मनुष्य अपने आपको समुन्नत कर सकता है। गीता में भी कहा है 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणिभस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' इसका अर्थ स्पष्ट ही है।

गीता के चतुर्थ अध्याय के कुछ श्लोक इसी भाव के हैं।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ गीता ४।३६

अर्थात्—यदि मनुष्य घोरतम पाप का करनेवाला भी हो तो भी ज्ञानरूपी डोंगी का आश्रय करके वह उसके पार पहुँच जाता है। ज्ञान मनुष्य को पवित्र और उच्च बनानेवाला परम साधन है। मनुष्य उच्च और नीच जन्मना नहीं है अपितु कर्मणा ही उच्चता या नीचता मनुष्य में आती है। इसका विवेचन आगे किया जायगा। परन्तु यहाँ पर एक बात नहीं भूलनी चाहिये। वह बात यह है कि—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को 'पुरुपार्थ चतुष्टय' कहते हैं। सम्पूर्ण मनुष्यों के लिये यह एक ही से उद्देश्य और साध्य है। 'मोक्ष' आदि 'द्विजार्थ' ही नहीं

है 'पुरुषार्थ' शूद्र भी मुक्त होने की इच्छा कर सकता है तथा चतुर्वर्णबाह्य भी मुक्त होने की इच्छा कर सकता है।

अन्त्यजों का वेदाधिकार

(लेखक—आचार्य इन्दिरारमण शास्त्री।)

(धर्मजिज्ञासुओं के लिये वेद ही परम प्रमाण हैं)

इस मनु-वचन की टीका करते हुए श्री कुल्लूक भट्ट यों लिखते हैं—

"धर्मं च ज्ञातुमिच्छतां प्रकृष्टं प्रमाणं श्रुतिः।

प्रकर्षबोधनेन च श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थो नादरणीय इति भावः"

अर्थात् धर्म को जानने की इच्छावालों के लिये प्रकृष्ट प्रमाण वेद है। प्रकर्षबोधन से [प्रकृष्ट कहने से] तात्पर्य यह है कि श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर स्मृति का कथन अमान्य होता है।

इसी प्रसंग में प्रमाण के लिये अन्य शास्त्रीय वचन उद्धृत करते हुए भट्टजी ने आगे लिखा है—

अतएव जाबालः—

श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।
अविरोधे सदा कार्यं स्मार्त्तं वैदिकवत्सता॥

भविष्यपुराणेऽप्युक्तम्—

श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना।

जैमिनिरप्याह—

विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्।

इन वचनों के समुदनुवाचन से ही यह बात स्पष्ट प्रतीत होगी कि वैदिक निषाद ही वर्तमान काल के अन्त्यज हैं। भेद इतना है कि वैदिक काल में चारों वर्णों के अतिरिक्त उनकी एक ही निषाद जाति थी, किन्तु आगे चल कर कई अवांतर प्रभेद हो गये जो अभी तक विद्यमान हैं। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि वेदवचनों के अनुसार ही वैदिक निषादों के जो धार्मिक अधिकार प्रमाणित हों या समाज में उनका जो स्थान निश्चित हो वह आज के अन्त्यजों को भी मिलना चाहिये। यदि इस विषय में कुछ स्मृतियों का विरोध भी हो तो वैदिक वचनों के सामने यह उपेक्षणीय है।

अब मैं अन्त्यजों के संबन्ध में वेद के वचनों के आधार पर विचार आरम्भ करता हूं

श्री रुद्रदेव शास्त्री ने ऋग्वेद और यजुर्वेद के जिन मन्त्रों के आधार पर निषादों या अछूतों के यज्ञ-विषय के अधिकार का समर्थन किया है, उनका उल्लेख अब मैं न करूंगा, क्योंकि पाठक उन्हें पढ़ ही चुके हैं*किंतु निरुक्त के पंचजन-प्रकरण में ही भाष्यकार श्री दुर्गाचार्य ने यह दूसरी ऋचा भी उद्धृत की है—

* अग्निऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितःतमीमहे महा-गयम्—यजुर्वेद अ० २६।९

इस मंत्र में आये हुए 'पांचजन्य' शब्द की व्याख्या करते हुए श्री महुव्वराचार्य अपने 'मन्त्र भाष्य' में कहते हैं—

'पाञ्चजन्यः पञ्चजनेभ्यो हितः। चत्वारोवर्णा निषाद पाञ्चमा पञ्चजनाः। तेषां हि यज्ञेऽधिकारोऽस्ति।'

अर्थात् चारो वर्ण और पाचवाँ निषाद इन सबका यज्ञ में अधिकार है।

यत्पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत ।
अस्तृणाद्बर्हणा विपोऽर्यो मानस्य स क्षयः ॥
(ऋ० सं० ६, ४, ४३, १)

इसकी अवतरणिका में पहले ही आचार्य ने लिखा है—

"यथा तु पंचजनशब्देन मनुष्या एव निषादपंचमा वर्णा उच्यन्ते तथैव निगमः"

अर्थात् इस निगम (मन्त्र) द्वारा पंचजन शब्द से निषाद को लेकर पांच वर्णवाले मनुष्य ही कहे गये हैं।

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए आगे आपने लिखा है—

पांचजन्यया विशा = पंचजनीन या विशा पंचजनसमुदायलक्षणया सहितैः स्तोतृभिः ऋत्विग्भिः अवर्षति इन्द्रे वर्षार्थिभिः घोषाः स्तुतीः असृक्षत = असृज्यन्त । निषादपंचमा वर्णा अर्त्ताः संतो वर्षाभावे अस्तुवतैव इंद्रम्" इत्यादि ।

अर्थात् निषाद के सहित पांच वर्णवाले ऋत्विजों ने वर्षा के लिये इंद्र की स्तुति की।

इससे स्पष्ट है कि निषाद या अन्त्यज, जिन्हें हम आज अछूत बनाये हैं—द्विजातियों के साथ न केवल देववाओं की

इसी शब्द की व्याख्या महीधराचार्य ने अपने 'वेद दीप' में इस भांति की है—

'पाञ्चजन्यः पञ्चजनेभ्यो हितः विप्रादयश्चत्वारो वर्णा निषादश्चेति पञ्चजनास्तेषां यज्ञाधिकारात् ।'

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद को यज्ञ का अधिकार है। यज्ञ सबसे श्रेष्ठ कर्म है। उसमें मनुष्यमात्र का एक सा अधिकार है।

सार्वजनिक पूजा और प्रार्थना में ही सम्मिलित होते थे, किन्तु ऋत्विज (ऋतुयाजक या पुरोहित) भी होते थे।

ऋग्वेद में एक मंत्र और मिलता है जिसके द्वारा हम अन्त्यजों को द्विजातियों के साथ एक ही यज्ञकुंड में हवन करते हुए भी देखते हैं—

मित्राय पंच येमिरे जना अभिष्टिशवसे।
स देवान्विश्वान् बिभर्ति। [ऋ० सं० ३, ४, ६,]
श्रुतिविरोधे स्मृतिवाक्यमनपेक्ष्यमप्रमाणमनादरणीयम्।
असति विरोधे मूलवेदानुमानमित्यर्थः ॥"

इन सभी वचनों का तात्पर्य यही है कि श्रुति के सामने स्मृति कोई चीज नहीं है, अतः जहां श्रुति के साथ विरोध हो वहां स्मृति मान्य नहीं है। यह सिद्धांत सब वैदिक मतावलम्बियों को एक सा मान्य है, इसलिये मैं भी सर्वप्रथम अंत्यजों या हरिजनों के धार्मिक अधिकार एवं सामाजिक स्थान का निर्णय वेद के अनुसार ही करूंगा।

इससे पहले अंत्यजों का वैदिक नाम जान लेना आवश्यक है। प्राचीनतम एवं सर्वमान्य आर्ष वैदिक कोष निघण्टु में मनुष्य के २५ नाम दिये गये हैं, जिनमें एक "पंचजन" भी है। इस शब्द का अर्थ भगवान् यास्क ने यों लिखा है—

"चत्वारो वर्णा निषादः पंचमः ॥" (निरुक्त अ० ३ खं० ८)

अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चार वर्ण तथा पांचवां निषाद इन्हें पंचजन कहते हैं। निषाद पद की निरुक्ति भी महर्षि यास्क ने स्वयं की है—निषादः कस्मात्? निषदनो भवति, निषण्णमस्मिन् पापकर्मिति नैरुक्ताः

इस निरुक्त वाक्य की व्याख्या श्री दुर्गाचार्य ने यों की है—

"निषध हन्तीति निषादः प्राणिवधजीवनः"

अर्थात् तत्पर होकर मारनेवाले हिंसाजीवी मनुष्य का नाम निषाद है, अथवा जिसमें पाप स्थित हो उस मानव-जातिविशेष को निषाद कहते हैं।

अब देखना यह है कि लौकिक शब्दकोष से भी उपर्युक्त वैदिक अर्थ का समर्थन होता है या नहीं।

सुप्रसिद्ध अमरकोष में चाण्डाल के दश नाम यों उल्लिखित हैं—

चाण्डाल प्लव मातंग दिवाकीर्त्ति जनंगमाः।
निषादश्वपचावन्तेवासिचाण्डालपुक्कसाः॥

(अमर २।१०।१९—२०)

इनमें भी निषाद शब्द आया है, जिसकी व्युत्पत्ति श्रीभानु दीक्षित ने व्याख्यासुधा में इस प्रकार की है—

"निषीदति पाक्मस्मिन्"

अर्थात् जिसमें पाप स्थित रहता है, उसे निषाद कहते हैं।

मेदिनी कोषमें भी लिखा है—

"निषादः स्वरभेदेऽपि चाण्डाले धीवरान्तरे"

आगे चलकर अमर ने चाण्डाल जातिके अवांतर प्रभेद की गणना यों की है—भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छ जातयः।

इसपर टीका करते हुए भानुदीक्षित लिखते हैं—

"किराता दयस्त्रयो म्लेच्छज ततश्चाण्डाल भेदाः"

श्रीखण्डराज दीक्षित ने इस मन्त्र की टीका पद्य एवं गद्य दोनों में इस प्रकार की है—

निपादपञ्चमो, वर्णो मित्राय द्विपतः प्रति।
अभिगन्तृबलाढ्याय हवींष्युद्धारयन्ति वै ॥
स्वस्वरूपतया देवान्धारयत्यखिलांश्च सः ॥

मित्राय पंचेति। पंच जना निपादपंचमा वर्णाः अभिष्टिशवसे शत्रून् प्रति अभिगन्तृबलयुक्ताय मित्रायेमिरे हव्यान्युद्धारयंति स सूर्यो विश्वान्बिभर्ति स्वस्वरूपतया सर्वान् देवांधारयति।

अर्थात् निपाद के सहित पांचवर्णवाले [होता] लोग शत्रुओं के अभिमुख जाने के उपयुक्त बलवाले सूर्य के लिये हविष (हवन-द्रव्य) प्रक्षेप कर रहे हैं, क्योंकि वह (सूर्य) अपने में सभी देवताओं को धारण करता है। फलतः एक सूर्य के उद्देश्य से ही हवन कर देने से अन्य सभी देवताओं की तुष्टि और पूजा सम्पन्न हो जाती है।

इन श्रुतियों के अनुसार यज्ञ हवन आदि धर्मकृत्यों में द्विजातियों के बराबर ही अंत्यजों का भी अधिकार ठहरता है, बशर्ते कि उनमें तदुपयुक्त योग्यता हो। इन प्रमाणों से यह भी सिद्ध होता है कि अस्पृश्यता या अछूतपन अवैदिक वस्तु है और हरिजनों को देव-मंदिरों में प्रवेश न करने देना तथा सार्वजनिक प्रार्थना-पूजा में सम्मिलित न होने देना वेद-विरुद्ध अतएव अधार्मिक कृत्य है।

अन्त्यजों के वेदाधिकार में वेदाध्ययन से लेकर वैदिक कर्मानुष्ठान तक का समावेश समझना चाहिये। लिखा जा चुका है कि निपाद को द्विजातियों के साथ एक ही यज्ञ-वेदी पर बैठकर हवन और देवस्तुति आदि करने का सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त है। जब श्रौत यज्ञादि में उनका अधिकार प्रमाणित हो चुका तब

वेदाध्ययन में वह स्वयं सिद्ध हो जाता है, क्योंकि मन्त्र-प्रयोग पूर्वक सम्पन्न होनेवाले यज्ञादि का अनुष्ठान प्रथमतः वेदाध्ययन के विना सम्भव ही नहीं है। इस अर्थ का समर्थन शुक्ल यजुर्वेद संहिता के निम्नलिखित मंत्र से अधिक स्पष्ट हो जाता है।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च॥

स्वामी दयानन्द ने इस मंत्र द्वारा शूद्रों के वेदाध्ययन का अधिकार प्रमाणित किया है। जब अध्ययनाधिकार सिद्ध हो चुका तब यज्ञ में अधीत मंत्रों के उद्गान का और तत्सम्बद्ध वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का अधिकार भी स्वतः प्राप्त हो जाता है। किन्तु उवट और महीधर ने इस मंत्र से मनुष्य मात्र के सहयज्ञ एवं सहभोज का समर्थन किया है, अतः मैं नीचे उन्हीं का भाष्य उद्धृत करता हूँ।

उवट भाष्यम्—यथेमां। यथा इमां वाचं कल्याणीम् अनुद्वेजिनीं "दीयतां भुज्यतामित्येवमादिकाम्" आवदानि जनेभ्योऽर्थाय। के ते जना? इत्यत आह—ब्रह्मराजन्याभ्यां ब्राह्मणाय राजन्याय च, "शूद्राय च, आर्याय च आर्यो वैश्यः, स्वाय च आत्मीयाय च, अरणः अपगतोदकः पर इत्यर्थः। आवदानीति सर्वत्र सम्बध्यते।

महीधरभाष्यम्—इमां कल्याणीमनुद्वेगकरीं वाचमहं, यथा यतः आवदानि सर्वतो ब्रवीमि "दीयतां भुज्यतामिति" सर्वेभ्यो वच्मि। केभ्यः? तदाह—ब्रह्मराजन्याभ्यां, ब्राह्मणायराजन्याय क्षत्रियाय च, "शूद्राय", अर्याय वैश्याय, स्वाय आत्मीयाय,

अरणाय परराय = अरणोऽपगतोदकः शत्रुः, नास्ति रणः शब्दो येन सह वाक्सम्बन्धरहितः शत्रुरिति वा।

उपर्युक्त मन्त्र का अक्षर-स्वारस्य से निकलनेवाला भावार्थ तो इतना ही है कि (वेदपुरुष या वेदकर्ता ईश्वर या ऋषि) यह कल्याण करनेवाली बात जनों (मनुष्यमात्र) के लिये अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और वैश्य एवं स्वजन तथा परजन (परस्पर के मित्र और शत्रु) सबके लिये कहता हूं। किन्तु वह बात कौन सी है? इस प्रश्न के उत्तर में स्वामी दयानन्द का मत है कि वह वेदवाणी है, अर्थात् वेदवाणी के अध्ययनाध्यापन में मनुष्यमात्र का समान अधिकार इस मंत्रद्वारा घोषित किया गया है। किन्तु उवट और महीधर का कहना है कि वह कल्याणी बात "दीयतां भुज्यताम्" अर्थात् दान और भोजन की है अर्थात् इस मंत्रद्वारा मानवजाति को दान और भोजन का उपदेश दिया गया।

अब यह प्रश्न स्वतः उपस्थित होता है कि यहां दान और भोजन से भाष्यकारों के तात्पर्य का विषय क्या है?

उत्तर सरल है। प्रकृत मंत्र यज्ञसम्बन्धी और यज्ञप्रकरण में पठित भी है। अतः इसके द्वारा निर्दिष्ट दान एवं भोजन भी यज्ञसम्बन्धी अभिप्रेत हैं। यज्ञीय दान का अर्थ है देवता के उद्देश्य से द्रव्यत्याग। (अग्नि में हविष आदि का प्रक्षेप) यज्ञीय भोजन का अर्थ है यज्ञशेष भोजन।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। (गीता)

आचार्य उवट के "भुज्यतामित्येवमादि कम्" में आदि शब्द से देवपूजा और स्तुति प्रभृति का ग्रहण विवक्षित है।

वस्तुतः यज धातु का अर्थ ही देवपूजा तथा दानादि है, जिसका तात्पर्य यज्ञ में है। अतः उवट और महीधर के मतानुसार प्रकृत मन्त्र से मनुष्य मात्र के लिये सहयज्ञ एवं सहभोज का विधान समान रूप से सिद्ध होता है। सारांश यह कि इस मन्त्र द्वारा यह स्पष्ट उपदेश दिया गया है कि दान अर्थात् देवतोद्देश्य से द्रव्यत्याग (हविष् आदि द्रव्यों का अग्नि में प्रक्षेप) रूप यज्ञ का अनुष्ठान और यज्ञशिष्ट भोजनादि श्रौत सत्कर्म मनुष्यमात्र को एक साथ मिलकर करना चाहिये, इसमें ब्राह्मण क्षत्रिय शूद्र और वैश्य तथा अपने और पराये का विचार न करना चाहिये।"

अहो! सचमुच यह वाणी कल्याणी है, वैदिक कर्मानुष्ठान में और यज्ञशिष्ट भोजन में चारों वर्णों को ही नहीं, परस्पर के शत्रु और मित्र को भी एकत्र हो जाना चाहिये, कैसा सार्वजनीन परमोदार प्रेमभाव है! इसी प्रकार के विशाल हृदयवाले आर्यों की यह सार्वभौम भावना है।

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

अस्तु, अब यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि उदाहृत मन्त्र में द्विजातियों के साथ शूद्रों के सहयज्ञ और सहभोज का आदेश तो उवट-महीधर-भाष्य के अनुसार स्पष्ट प्रतीत होता है, किन्तु अन्त्यजों के सम्बन्ध में वह कैसे लागू माना जाय?

उत्तर अत्यन्त स्पष्ट है। पूर्वलेख में पंचजनों के वेदाधिकार

का सप्रमाण समर्थन किया गया है, जिनमें पाँचवाँ निषाद उर्फ अन्त्य ही है। तदनुरोध से उदाहृत मन्त्र में भी 'जनेभ्यः' से मनुष्यमात्र अर्थात् पञ्चजन का ग्रहण विवक्षित है। इसीलिये महीधर ने 'जनेभ्यः' पद का अर्थ 'सर्वेभ्यः' किया है। सर्वजन में निषाद का भी संग्रह है ही। "ब्रह्मराजन्याभ्याम्" इत्यादि 'जनेभ्यः' का ही प्रपंच या व्याख्यान मात्र है। अतएव उवट ने 'के ते जना इत्यत आह' और महीधर ने 'केभ्यः ? तदाह' अर्थात् वे जन कौन हैं, या किन (जनों) के लिये, इस प्रकार आकांक्षा उठाकर उसकी पूर्ति के लिये, ब्राह्मणादि की योजना की है। इससे अनायास ही प्रतीत होता है कि यहाँ शूद्र-शब्द ही निषाद पर्यन्त का बोधक है। वेद-मन्त्रों में मनुष्य जाति के अर्थ में कई प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। कहीं-कहीं पंचजन शब्द का प्रयोग है। जिसका उदाहरण प्रथम लेख में मिल ही चुका है। कहीं-कहीं द्विजवाचक आर्य शब्द और अनार्य अर्थात् शूद्र निषाद के बोधक दास, दस्यु तथा शूद्र शब्द का ही प्रयोग है। यथा—

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासद व्रतान्। (ऋ० सं० १५१।८१) साह्याम दासमार्यं त्वया युजा सहस्कृतेन सहसा सहस्वता। (सं० १०।८३।१२) नव दश भिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येताम्। (शु० य० सं० १४।३०।१ क०) तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः। अथ० सं० ४।२०।३ ख०)

इत्यादि मन्त्रों में आर्य शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिये एवं दस्यु, दास और शूद्र शब्द द्विजेतर अनार्यमात्र अर्थात् दास और दस्यु या शूद्र और निषाद दोनों के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

अथवा प्रकृत मन्त्र (यथेमां) में 'अरणाय' से निषाद

का ग्रहण किया जा सकता है। क्योंकि 'अरण' पद का अर्थ उवट ने "परः" और महीधर ने "शत्रु" किया है आर्यों या द्विजों के लिये पराया या शत्रु शूद्र नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे उनके अनुगत होने के कारण ही दास कहलाने लगे थे। इसके विपरीत निषादों के साथ आर्यों की बड़ी शत्रुता थी, जिसके अगणित प्रमाण वेदों में ही मिलते हैं, अतएव उन्हें आर्य लोग दस्यु भी कहने लगे थे। सुतरां निषाद ही आर्यों के लिये पराया या शत्रु हो सकता है, अतः अरण पद से प्रकृत मन्त्र में निषाद का ही ग्रहण विवक्षित है।

इस संक्षिप्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि अन्त्यजों को भी द्विजों के समान ही वेदाध्ययन और वैदिक-कर्मयोग में पूरा अधिकार है। अतः उनका वह अधिकार यदि किसी कारण से बीच में छिन गया हो तो उसे शीघ्र लौटा देना चाहिये। इस [illegible] तचिन्तन करना चाहिये—

. . . . . . कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्य ॥ (१९-१-८-१)

मुद्रक
बजरंगबली गुप्त 'विशारद'
श्रीसीताराम प्रेस, जालिपादेवी, काशी।
प्रथम संस्करण २००० प्रतियाँ, सन् १९३३

CATALOGUE FOR HINDI BOOKS.

Books to be had from :—

Kahi Pustak Bhandar

S. B. SINGH & Co.

Benares City.

हिन्दी पुस्तकों का सूचीपत्र

प्रार्थ

इस सूचीपत्र में वे पुस्तकें जो आप चाहते हैं न हों तो आप बेखटके हमें पत्र लिखिये, इनके अतिरिक्त और भी सब जगहों की हजारों पुस्तकें हमारे पास मौजूद हैं और बराबर नई-नई पुस्तकें आती रहती हैं। किसी विषय की कोई भी पुस्तक हो, अगर वह भारतवर्ष भर में कहीं भी मिल सकती है तो हमारे यहाँ जरूर मिलेगी यह ध्यान रखिये। किसी भी पुस्तक के लिये मुझे लिखिए।

सब तरह की हिन्दी पुस्तकों के मिलने का एक मात्र पता—

काशी-पुस्तक-भण्डार और एस० बी० सिंह एण्ड को० के स्थायी ग्राहकों के लिये नियम और सूचनाएं।

१. आठ आना प्रवेश शुल्क देकर प्रत्येक सज्जन इस कार्यालय के स्थायी ग्राहक हो सकते हैं। यदि कभी कोई सज्जन कार्यालय के स्थायी ग्राहक न रहना चाहेंगे तो प्रवेश-शुल्क आठ आना उन्हें उस समय लौटा दिया जायगा।

२. इस कार्यालय के स्थायी ग्राहकों को कार्यालय द्वारा प्रकाशित पुस्तकें पौने मूल्य में मिला करेंगी।

३. स्थायी ग्राहकों को एक वर्ष में कम से कम ५) रुपये की पुस्तकें मँगाने के लिये सूचना दी जायगी वे पुस्तकें हमारे इस कार्यालय द्वारा प्रकाशित होंगी या अन्य प्रकाशक द्वारा प्रकाशित रहेंगी। पर ग्राहकों को पाँच रुपये के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें लेने न लेने का अधिकार होगा।

४. स्थायी ग्राहकों को अधिकार होगा, कि हमारे यहाँ से प्रकाशित पुस्तकों की चाहे जितनी प्रतियां, चाहे जितनी बार, पौनी कीमत में मँगा सकते हैं।

५ स्थायी ग्राहकों को हिन्दुस्तान भर की पुस्तकें सुभीते से –)आना या =) आना फी रुपया कमीशन पर मिलेंगी।

६. पता ठिकाना वगैरह साफ साफ जहाँ तक हो सके मातृ-भाषा हिन्दी में लिखना चाहिये।

७. डाकघर में पारसल सात दिन से अधिक डिपाजिट नहीं रहता, इसलिये जल्द छुड़ा लेना चाहिये।

८. बड़ा आर्डर देते समय यदि हो सके तो चौथाई या कुछ रुपया पेशगी और पूरे पते के साथ रेलवे स्टेशन का नाम भेजना चाहिये।

९. यदि पारसल के हिसाब में भूल हो तो पारसल छुड़ाने के बाद भी बीजक नम्बर लिखकर वसूल कर सकते हैं। पर सूचना माल छुड़ाने के दिन ही देनी चाहिये।

१०. लाइब्रेरी (वाचनालय) तथा पुस्तक-विक्रेताओं को उचित कमीशन दिया जाता है, पत्र-व्यवहार कर पूछें।

११. पुस्तकों का मूल्य प्रायः घटता-बढ़ता भी रहता है। सूचीपत्र में भी कहीं भ्रमवश अशुद्ध छप जाने की संभावना रहती है। किन्तु लिया वही जाता है जो उचित मूल्य होता है। इसपर पक्का विश्वास कीजिये।

में ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी बहुत-सी फुटकर बातों का ज़िक किया है, जिसमें लेखक ने अमोघवीर्य, ऊर्ध्वरेता की परिभाषा, उपवास की आवश्यकता, खड़ाऊँ पहनने, लँगोट बाँधने, सूर्य तपने तथा आसन आदि करने की उपयोगिता और प्राणायाम के महत्व, तथा प्रेम के मूल्य पर प्रकाश डाला है। पुस्तक शरीर को स्वस्थ और बलवान् बनाने में काफ़ी सहायक हो सकती है। इस पुस्तक की विशेषता यह है कि जो बात लेखक ने लिखी है, उसकी पुष्टि में उसने प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों तथा अनुभवी विद्वानों के उदाहरण भी दिये हैं। इस पुस्तक के पढ़ने से एक विचारवान स्त्री या पुरुष यह बात आसानी से समझ सकता है कि ब्रह्मचर्य-पालन से उसकी शारीरिक, मानसिक तथा धार्मिक, सब प्रकार की उन्नति हो सकती है और संसार में किसी तरह का कष्ट नहीं हो सकता है। हिन्दी में इस विषय पर कुछ और भी पुस्तकें लिखी गई हैं, जिनमें लाला भगवानदीनजी की एक 'ब्रह्मचर्य की वैज्ञानिक मीमांसा' भी है। फिर भी यह पुस्तक भी अपना स्थान रखती है और लोगों को लाभ पहुँचाने में किसी तरह कम नहीं है। आजकल, हमारे पतन के समय, जब 'शक्ति पैदा करो' की आवाज़ देश के कोने-कोने से आ रही है, ऐसी पुस्तक जनता के लिये अवश्य गुणकारी सिद्ध होगी। इस पुस्तक के पढ़ने के लिये हम 'भारत' के पाठकों से अनुरोध करते हैं। भारत १९२९—कमलाप्रसाद

मासिक पत्रिका मनोरमा की सम्मति—

ब्रह्मचर्य की महिमा—लेखक—श्री सूर्यबली सिंह तथा प्रकाशक एस० बी० सिंह एण्ड को० बनारस सिटी।—पृष्ठ संख्या १५४ मू० १)

यह जीवन ब्रह्मचर्य पर ही स्थित है। ऐसे महत्वपूर्ण विषय पर जितनी पुस्तकें निकाली जायँ या लेख लिखे जायँ थोड़े हैं। इस विषय पर दो एक पुस्तकें अवश्य निकल चुकी हैं पर इसमें उन सभों से कुछ विशेषता अवश्य है। ब्रह्मचर्य के प्रत्येक पहलुओं पर काफी प्रकाश डाला गया है। साथ ही ब्रह्मचर्य के अत्यन्त आवश्यक अङ्ग प्राणायाम, आसन,

गार्हस्थ्य-जीवन विधि आदिको भी बड़ी सरलता के साथ समझानेका प्रयत्न किया है। इस पुस्तक द्वारा पाठक यौगिक प्राणायाम भी सीख सकते हैं।

पुस्तक में ब्रह्मचर्य की महिमा, अष्ट-मैथुन, ब्रह्मचर्य की विधियाँ, सङ्गीत, बाल-शिक्षा, स्त्री-ब्रह्मचर्य, स्त्री-पुरुष जीवन आदि विषयों को बड़ी खूबी के साथ समझाया है। पुस्तक, स्त्री पुरुष, तथा विद्यार्थियों के लिये बड़ी ही उपयोगी है विशेषकर छात्रों को तो अवश्य इसकी एक-एक प्रति अपने पास रखनी चाहिये। छपाई सफाई उत्तम है। जनवरी १९२८ प्रयाग

साप्ताहिक प्रताप की सम्मति—

ब्रह्मचर्य की महिमा;—लेखक-श्री सूर्यबली सिंह, प्रकाशक-एस० बी० सिंह ऐण्ड को० बनारस सिटी, पृष्ठ १५४, मूल्य १)

'ब्रह्मचर्य की महिमा' में ब्रह्मचर्य की महिमा, ब्रह्मचर्य से लाभ, विभिन्न प्रकार के मैथुन, स्कूलों कालेजों में दुराचार, ब्रह्मचर्य-पालन की विधियाँ, आहार, शिक्षा; माता-पिता के कर्तव्य आदि बातों पर प्रकाश डाला गया है। अब तक इस विषय की कई पुस्तकें निकल चुकी हैं। फिर भी ऐसे महत्वपूर्ण विषय पर अनुभव और योग्यता के साथ जितना अधिक प्रकाश डाला जाय, उत्तम है। इस पुस्तक में उपरोक्त विषयों पर अच्छी तरह प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। पुस्तक नवयुवकों के पढ़ने लायक है। —'प्रताप'

स्काउटों का एकमात्र मासिकपत्र सेवा की सम्मति—

ब्रह्मचर्य की महिमा—लेखक श्री सूर्यबलीसिंहजी, प्रकाशक एस० बी० सिंह एण्ड को० बनारस सिटी। मू० १)

यह पुस्तक ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचर्यव्रतावलंबन के विषय पर अच्छा प्रकाश डालती है। इसकी भाषा सरल और सुन्दर है और सबसे ज्यादा अच्छी बात यह है कि ब्रह्मचर्य-पालन के लिये बहुत-सी व्यवहारिक बातें इसमें दी गई हैं। सेवा' मार्च १९२९

नारी-धर्म-शिक्षा

पर

उपन्यास-सम्राट श्रीयुत् प्रेमचन्दजी की राय

नारी-धर्म-शिक्षा—लेखिका, श्रीमती मनव्रता देवी,
प्रकाशक, एस० बी० सिंह एण्ड को०, बनारस सिटी, मूल्य १।)
पृष्ठ संख्या १६२ कागज बढ़िया, छपाई अच्छी।

नारी-धर्म-शिक्षा-संबंधी आजकल बहुत किताबें निकलती रहती हैं लेकिन अधिकांश पुरुषों की लिखी होती हैं और पुरुष स्वभावतः स्त्रियों के साथ कुछ अन्याय कर जाते हैं। इस पुस्तक की लेखिका पुराने आदर्शों को माननेवाली एक महिला हैं। हमें यह देखकर खुशी हुई है कि महिलाएँ भी अपनी बहनों की शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दे रही हैं। संभव है नई रोशनीवाली बहनों को पुरुष-सेवा और पारिवारिक सेवा का आदर्श दकियानूसी मालूम हो लेकिन जो देवियाँ अपनी कन्याओं को फैशनेबल लेडी नहीं, सह-धर्मिणी बनाना चाहती हैं, उन्हें इस किताब से बड़ी सहायता मिलेगी। स्त्रियों के लिये जिन बातों के जानने की जरूरत होती है वे सब यहाँ सरल और शिष्ट भाषा में मिलेंगी। नीति स्वास्थ्य, संतति पालन हिसाब-किताब, चिट्ठी-पत्री, गृह-शिल्प, आदि सभी बातों का उल्लेख किया गया है और इस ढंग से कि थोड़े में सभी बातें आ गई हैं—शब्दों का माया-जाल नहीं है। महिला-शालाओं की ऊँची कक्षाओं में यह पुस्तक रख दी जाय तो बालिकाओं को विशेष लाभ होने की आशा है।

(माधुरी)—प्रेमचन्द

सम्मतियाँ

नारी-धर्म-शिक्षा" के सम्बन्धमें हिन्दी-जगत्के सुपरिचित श्रीयुत प्रेमचन्द्रजीने ठीक ही लिखा था कि 'जो देवियाँ अपनी कन्याओंको फैशनेबुल लेडी नहीं, सहधर्मिणी बनाना चाहती हैं, उन्हें इस किताबसे बड़ी सहायता मिलेगी।" वास्तवमें पुस्तक बड़ी ही उपयोगी है। नीति, स्वास्थ्य, गृह-चिकित्सा, सन्तान-पालन, हिसाब-किताब, चिट्ठी-पत्री आदि विषयोंमें किन्तु स्पष्ट लिखकर श्रीमती लेखिका महोदयाने पुस्तककी उपयोगिता बहुत अधिक बढ़ा दी है। दुःख है कि अबतक ऐसी उपयोगी पुस्तक कन्या-विद्यालयों की ऊँची कक्षाओं में नहीं रखी गई। इससे बालिकाओंका विशेष उपकार होता।

—पार्वती देवी

मासिक-पत्रिका सरस्वती की सम्मति

नारी-धर्म-शिक्षा—श्रीमती मनमोहता देवी ने इस पुस्तक में स्त्रियों के जानने के योग्य प्रायः सभी बातों का समावेश करनेका प्रयत्न किया है। पुस्तक सात अध्यायों में विभक्त है किसी भी सदाचारिणी स्त्री को पति तथा उसके अन्य कुटुम्बियों के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये और वह अपने परिवार एवं सन्तान आदि को किस तरह सुखी एवं हृष्टपुष्ट बना सकती है, इन सब बातों पर इसमें विस्तार के साथ विचार किया गया है। पुस्तक उपयोगी है। इसके प्रकाशक हैं श्रीयुत एस० बी० सिंह एण्ड को० बनारस सिटी।

"सरस्वती" १९२९ अप्रैल।

मासिक पत्रिका "मनोरमा" क्या कहती है

नारी-धर्म-शिक्षा—लेखिका श्रीमती मनव्रतादेवी तथा प्रकाशक एस० बी० सिंह एण्ड को बनारस सिटी। पृष्ठ संख्या १६२ मूल्य १।

श्रीमती जी के प्रतिभा का फल-स्वरूप नारीधर्म-शिक्षा हमारे सामने है। यद्यपि यह पुस्तक सिर्फ १६२ पृष्ठों की ही है पर स्त्रियोपयोगी ऐसा कोई प्रधान विषय नहीं जो इसमें न आया हो। बाल-शिक्षा, गृहकार्य, घरवालों के साथ बर्ताव, सन्तान-पालन, रोग-चिकित्सा, व्यंजन बनाने की रीति, पति-सेवा आदि सभी विषयों पर बड़ी खूबी के साथ प्रकाश डाला गया है। पुस्तक इतने काम की है कि यदि माताएँ व बहिनें इसे एक बार आद्योपान्त पढ़ने का कष्ट उठावेंगी तो वे अवश्य यही निष्कर्ष निकालेंगी कि प्रत्येक घरमें इस पुस्तक की एक दो प्रति अवश्यमेव रहनी चाहिये। श्रीमती जी पहिली स्त्री-रत्न हैं जिन्होंने इस शैली की पुस्तक की रचना की है। इस पुस्तक को बना कर आपने स्त्री-समाज का जो उपकार किया है वह अवर्णनीय है। हमें पूरी आशा है कि हिन्दी संसार अवश्य नारी-धर्म-शिक्षा" का समुचित आदर करेगा।

"मनोरमा" फरवरी १९२९

नारीधर्म शिक्षा पर साप्ताहिक प्रताप की सम्मति—

नारी धर्म शिक्षा—लेखिका श्रीमती मनव्रता देवी। प्रकाशक श्री एस० बी० सिंह एन्ड को० बनारस सिटी। पृष्ठ-संख्या १६२, मू० १।)

पुस्तक का विषय नाम से ही स्पष्ट है। इसमें बाल-शिक्षा, गृहकार्य, दिन-चर्या, घरवालों के साथ बर्ताव, सन्तान-पालन, रोग-चिकित्सा, भोजन निर्माण-विधि आदि विषयों पर संक्षेप में ७ अध्यायों में विचार किया गया है। पुस्तक स्त्रियों के काम की है और साधारण पढ़ी-लिखी स्त्रियों को इससे बहुत कुछ जानकारी हो सकती है। साप्ताहिक प्रताप

माखन मिश्री

बाल-साहित्य की एक अनोखी पुस्तक है बालोपयोगी बहुत सी बातें इस पुस्तक में बड़ी योग्यता के साथ सरल भाषा में लिखा गया है। इस पुस्तक में बच्चों के लिए दिलचस्प मनोहर कहानियाँ, पहेली, बुझौवल, हँसी के चुटकले, अक्षर-ज्ञान, आदर्श जीवनियाँ, बच्चों की तुकबन्दी, आदि अनेकों चटपटे मसाले हैं। जिसको कि बच्चे पढ़ते-पढ़ते और हँसते-हँसते लोट-पोट हो जायँगे। पुस्तक क्या है मानों हँसी का खजाना है। सुन्दर रंग-बिरंगी छपाई और अनेकों चित्रों ने तो इसकी शोभा और बढ़ा दी है। बच्चे एक बार हाथ में लेकर पूरी पढ़े बिना नहीं छोड़ेंगे।

जैसे बच्चे इसे पढ़कर हसेंगे वैसे ही अनेकों तरह की शिक्षा ग्रहण करेंगे। यह पुस्तक ५ वर्ष से लेकर १५ वर्ष की अवस्था के बालकों और बालिकाओं के पढ़ने योग्य है। इसकी पृष्ठ संख्या लगभग १५० के है। मूल्य केवल बारह आना ।||)

उच्च कोटि के उपन्यास

१—नर-पशु—संसार विख्यात रूसी क्रांतिकारी मैक्सिम गोर्की का अत्यन्त सुन्दर और रोचक उपन्यास, इसे पढ़कर आपकी नस-नस में बिजली दौड़ने लगेगी। मू० १)

२—पेरिस का कुबड़ा—फ्रेन्च साहित्य के अमर लेखक विक्टर ह्यूगो का लिखा हुआ भाव-पूर्ण उपन्यास। पेरिस न्यायालय, शराबखाना, जेलखाना, सराय, सौमत घर, फाँसी घर, यंतवाजी, जज, पादरी, वकील, कप्तान आदि का वर्णन अद्भुत किया गया है। पढ़कर देखिये—३)

ये तीनों—मैक्सिम गोर्की का शिक्षा-प्रद रूसी उपन्यास। २)

मगनरहु चोला—यह पुस्तक हँसते हँसते लोट पोट कर देने का दावा रखती है। मूल्य ।||)

महाकवि चच्चा—यह एकदम नई पुस्तक है। अभी प्रकाशित हुई है। हास्य-रस की अनूठी और निराली पुस्तक है। मूल्य १)

मीना बाजार—सामाजिक और राजनैतिक मनोहारिणी तेरह कहानियों का अपूर्व संग्रह है। मूल्य १)

विनोदशंकर व्यास की ४१ कहानियाँ-मूल्य २)

कवितावली—यह कवितावली का सर्वोत्तम टीका है। इसके द्वितीय संस्करण में ८० पृष्ठ की सुंदर भूमिका लगाकर इसे अत्यधिक सुंदर बना दिया गया है। परीक्षार्थियों के लाभार्थ प्रत्येक छंद के नाम, लक्षण, अलंकार एवं शब्दों के शुद्ध रूप भी दिए गए हैं। ३०० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य केवल १।)

भूषण ग्रंथावली—का सर्वश्रेष्ठ संस्करण है इसमें १२५ पृष्ठ की सुंदर भूमिका है जिसमें अलंकार-शास्त्र, वीर काव्य तथा भूषण की कविता एवं भाषा का विशद विवेचन किया गया है अंत में २२५ पृष्ठ की विस्तृत टिप्पणी तथा ऐतिहासिक स्थानों का मानचित्र देकर पुस्तक को सर्वरूपेण उपयोगी बना दिया गया है। ५०० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य केवल २)

विनय पत्रिका (सटीक)—इसकी श्रेष्ठता का प्रमाण यही है कि यह टीका श्रीयुत लाला भगवानदीनजी द्वारा लिखी गई है। टीका इतनी सरल एवं सुबोध है कि तुलसीदासजी के कठिन से कठिन पद का अर्थ साधारण श्रेणी का विद्यार्थी भी समझ सकता है। ५०० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य केवल १॥)

माँ का हृदय—मैक्सिम गोर्की लिखित रूस की क्रांति का आँखों देखा, हृदय कँपा देनेवाला, रोमांचकारी सच्चा चित्रण। पृष्ठ संख्या ६०० मूल्य ३॥)

स्वास्थ्य सम्बन्धी उत्तमोत्तम पुस्तकें !

आरोग्य-मंदिर—नया संस्करण, स्वास्थ्य सम्बन्धी चुने हुए विद्वानों के लेखों का संग्रह । मूल्य २)

आहार-विज्ञान—आहार सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी कराने वाला विद्वानों द्वारा प्रसंशित एक मात्र ग्रंथरत्न । मूल्य २)

सफलता का रहस्य—जीवन में सफलता प्राप्त कराने के लिए इसे अवश्य पढ़िए । मूल्य १)

जीवन रक्षा—बालकों का जीवन सुधारने एवं उन्हें सदाचारी बनाने के लिए इस पुस्तक का पढ़ाना आवश्यक है । मूल्य ॥)

प्रेमचन्द के चुने हुए उपन्यास एवं गल्पें

गल्प-समुच्चय—हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ गल्प-लेखकों की कहानियों का इतना सुन्दर संग्रह श्रीप्रेमचन्दजी ने इसमें किया है कि पढ़कर तबीयत खुश हो जाती है । २॥)

प्रेम-द्वादशी—प्रेमचन्दजी की सुन्दर १२ कहानियों का अनूठा संग्रह । यह भी कई जगह कोर्स में है । ॥।)

प्रेम-तीर्थ—प्रेमचन्दजी की कहानियों का एक उत्तम संग्रह, सुन्दर छपाई सफाई । १॥)

प्रतिज्ञा—प्रेमचन्दजी का छोटा ; परन्तु बहुत ही दिलचस्प सामाजिक उपन्यास । १॥)

ग़बन—प्रेमचन्दजी का बिलकुल नया और श्रेष्ठ सामाजिक उपन्यास । ३)

कर्म-भूमि—प्रेमचन्द का नया उपन्यास ३)

वृक्ष-विज्ञान—इसमें सभी बड़े-बड़े वृक्षों के फूल, जड़, छाल, रस तथा फल वगैरः के विषय में बताया गया है कि इनसे कौन-कौन से रोग दूर होते हैं । सबके नुस्खे भी दे दिये हैं । ॥)